

आ.श्री. कैलाशमामार स्मृति ज्ञान मंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केंद्र केवा
उत्तर भारत में जैनधर्म

मूल लेखक

चिमनलाल जैचंद शाह
एम. ए.

हिन्दी अनुवादक

कस्तूरमल बांठिया

सेठ श्री सरदारमलजी मुनोत रीया वाला कुचामन सिटी (राजस्थान)
के आर्थिक सहयोग से मुद्रित

1990

उत्तर भारत में जैन धर्म

(ई. पू. 800 से ई. प. 526)

•

अंग्रेजी में लेखक :

बिभनलाल जैसिंह शाह, एम. ए.,

•

ग्रामुख लेखक :

पादरी एच. हेरास, एम. जे.

डाइरेक्टर, इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च
इंस्टीट्यूट, सेंट व्जेवियर्स कालेज, बम्बई

•

हिन्दी अनुवादक :

कस्तूरमल बांठिया

यमुना नगर (पंजाब)

तारीख 9-6-59

प्रकाशक सेवा मन्दिर रावटी जोधपुर, 342 024

संस्करण प्रथम प्रवेश

वर्ष विक्रम संवत् 2047 वीर संवत् 2516 शक संवत् 1912, ईस्वी सन् 1990

प्रति 1000

पृष्ठ 240

आकार रॉयल आक्टेव (20 × 30 आठ पेजी)

आर्थिक श्री नौरत्नमलजी सरदारमलजी मुनोत रियांवाले रुपये 15000
सौजन्य

मूल्य

कागज (20 × 30 क्रीम बोब) 31 रीम

रु.

6200.00

छपाई व प्रूफ रीडिंग 30 फर्मे × 170

5100.00

जिल्द बंधाई व भाड़ा इत्यादि अन्य व्यय

5700.00

कुल व्यय

17000.00

बाद अनुदान

— 15000.00

लागत

2000.00

एक प्रति का विक्रय मूल्य

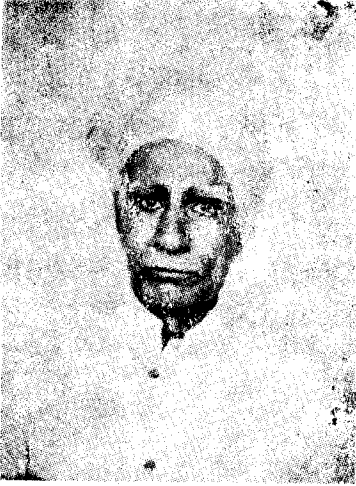
2.00

(पुस्तक विक्रेता अपना नफा खर्चा अतिरिक्त लेगा)

वितरक सत्साहित्य वितरण केन्द्र सेवा मन्दिर रावटी जोधपुर, 342 024

मुद्रक श्याम प्रिन्टिंग प्रेस त्रिपोलिया स्ट्रीट, घासमण्डी रोड, जोधपुर

इस पुस्तक पर किसी भी प्रकार का अधिकार प्रकाशक ने स्वाधीन नहीं रखा है।



आर्थिक सहयोगी

सेठ श्री सरदारमलजी मुनोत रियांवाला

कुचामन सिटी (राजस्थान)

-: संक्षिप्त परिचय :-

आपका जन्म राजस्थान के नागौर जिले के अन्तर्गत कुचामन सिटी में 75 वर्ष पूर्व हुआ। आप श्रीमान् सेठ श्री तेजमलजी मुनोत के द्वितीय सुपुत्र हैं। आप बहुत ही सरल प्रकृति शान्त स्वभावी हंसमुख व्यक्ति हैं। सभी संत सतियों के प्रति आपकी गहरी श्रद्धा है। समाज के हर कार्य में आप व आपका परिवार हमेशा अग्रसर रहते हैं। आपके पांच सुपुत्र दो सुपुत्री एवं दस पौत्रों का हराभरा सुखी परिवार है।

आप एवं आपके परिवार के सदस्य कोई भी सामाजिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्यिक कार्य के आयोजन में हमेशा बड़ी दिलचस्पी से तन, मन व धन से पूरा करके ही बड़ा सन्तोष अनुभव करते हैं। आपका परिवार समाज की कई संस्थाओं से जुड़ा हुआ है। आप अपने व्रत प्रत्याख्यान के पक्के हठ श्रावक हैं। आपके पांचो सुपुत्र बम्बई में बिल्डिंग कन्स्ट्रक्शन (भवन निर्माण) का व्यापार करते हैं। आप व आपके सुपुत्र अनेक समाज सेवी संस्थाओं को मुक्त हस्त से दान देते हैं।

आप मारवाड़ के अढ़ाई घरों में से एक घर कहलाने वाले रियांवाले सेठों के परिवार में जन्म लेने वाले एक पारिवारिक सदस्य हैं। इस परिवार ने जोधपुर एवं जयपुर राज घरानों की आर्थिक सहायता काफ़ी मात्रा में की है और इसीलिए इस परिवार को सेठों की पदवी से सुशोभित किया था। और दरबार में हमेशा इस परिवार को सम्मान से देखा जाता था। भारत जैन महामण्डल का तीन वर्ष पूर्व बम्बई का अधिवेशन सफल बनाने में आपका पूर्ण योगदान रहा।

आमुख

श्री चिमनलाल जैसिंह शाह इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट' के अग्रगण्य विद्यार्थियों में से एक हैं और उनका यह ग्रन्थ उनकी इस महान् संस्था की प्रतिष्ठा रूप ही सिद्ध होगा। श्री शाह धर्म से जैन हैं और उन्होंने अपनी गवेषणा का विषय जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पसन्द किया, जिसके अध्ययन के परिपाक रूप में इस ग्रन्थ की रचना हुई है।

भारतवर्ष के सब महान् धर्मों के अवलोकन में जैन धर्म की अधिक उपेक्षा की गई है। इस ग्रन्थ में जैन धर्म के प्राचीन इतिहास में जो-जो ऐतिहासिक एवम् दंतकथा रूप में है वही सत्र नहीं दिखाया गया है, अपितु इस महान् धर्म के संस्थापक के सिद्धांत उनके शिष्यों के बीच हुए मतभेद और उसके फलस्वरूप नए नए सम्प्रदायों के उद्भव, और इस बौद्ध-बुधुधर्म के साथ हुए सतत् संघर्ष का विवेचन भी इसमें किया गया है कि जिसके साथ इस देश में जन्म लेते हुए भी यह तो आज तक जीवित और टिका हुआ है और बौद्ध-धर्म का प्रायः नाम शेष ही हो गया है।

श्री शाह के जैन धर्म के इस इतिहास में दो सीमाएं देखने में आयेंगी—एक तो भौगोलिक और दूसरी कालक्रम की। दक्षिण-भारत में सर्वत्र जैन धर्म बहुत शीघ्र ही फैल गया था और वहां उसने ऐसे नए समाज की स्थापना कर ली थी कि जिसके न केवल गुरु ही दूसरे थे अपितु व्यवहार और विधि-विधान एवम् आचार-विचार भी भिन्न हो गए थे। संक्षेप में दक्षिण-भारत के जैन धर्म का इतिहास उत्तर-भारत के जैनधर्म के इतिहास से एक दम ही भिन्न है और वह अपनी भिन्न ऐतिहासिक इकाई बनाता है। इसीलिए श्री शाह ने अपने इस ग्रन्थ की भौगोलिक सीमा आर्यावर्त याने उत्तर-भारत ही रखी है।

श्री शाह की दूसरी सीमा काल सम्बन्धी है। उनका यह इतिहास ई. सन् 526 में समाप्त हो जाता है जब कि वल्लभी की सभा या परिषद में जैन धर्म के सिद्धांत का अन्तिम रूप निश्चय और स्थिर किया गया था। जैन धर्म के इतिहास में यह प्रसंग अत्यन्त महत्व का अवस्थान्तर निर्देशक था। इसके पूर्व जैनधर्म प्राथमिक मरल दशा में ही था। परन्तु वह दशा सिद्धान्त के संहिता-बद्ध किए जाने के पश्चात् एक दम ही विलय हो गई। इस काल के पश्चात् जैनधर्म नियत एवं स्थायी भाव धारण करता हुआ दीख पड़ता है और उसकी वास्तविकता एवम् सत्यप्रियता भी वह गुमाता जाता है। फिर भी श्री शाह ने गवेषणा के लिए प्राचीन समय ही पसन्द किया है क्योंकि वह इतिहास अति रोचक और संस्कृति की दृष्टि से बहुत ही महत्व का है।

आशा है कि इस ग्रन्थ की पद्धति के विषय में अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी इतिहासवेत्ता को भी कुछ विशेष आपत्ति-जनक बात मालूम नहीं होगी क्योंकि एक तो मनुष्य-कृति सम्पूर्णतया दोष रहित तो हो ही नहीं सकती है और दूसरे श्री शाह की यह प्रथम रचना है, इन दोनों ही दृष्टि से यह सम्पूर्ण ग्रन्थ पाठकों और समालोचकों की उदारता का पर्याप्त पात्र होगा यह आशा है। फिर भी यह कहना आवश्यक है कि श्री शाह ने दूसरे विद्वानों का कहा अथवा प्रतिपादन किया हुआ देख कर ही संतोष नहीं कर लिया है क्योंकि तब तो वह स्वतन्त्र गवेषणा नहीं अपितु संग्रह मात्र ही हो या रह जाता। उन्होंने इस ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना करने में प्रत्येक मूल वस्तु का अध्ययन और मनन स्वयम् किया है, मतमतांतरों के गुण-दोषों का विवेचन किया है, मूल वस्तु की मूल वस्तु के साथ तुलना की है, और इस प्रकार अथक परिश्रम ले कर एक ऐतिहासिक की उचित निष्पक्ष दृष्टि से

समालोचना करते हुए भारतवर्ष के इतिहास के एक अत्यन्त अन्वकाराविष्ट युग पर अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रकाश डाला है।

श्री शाह का यह ग्रन्थ 'इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट के भारतीय इतिहास का अभ्यास' का छठा ग्रन्थ है। यह प्रकाशन उनके अनुगामियों-संस्था के हाल के शोधसनातकों-को नवीन प्रोत्साहन देगा यही आशा की जाती है। भारतवर्ष के भूतकाल में अभी भी बहुत से अगम्य तत्व पड़े हैं जो कि भविष्य की प्रजा के कल्याण के लिए भारतवर्ष के भावी इतिहासकारों से अविरत परिश्रम की अपेक्षा रखते हैं। इतिहासवेत्ता का कार्य सत्य की खोज करना ही है। यदि हम उसको एकाग्र, विशुद्ध और निष्पक्ष दृष्टि से अवलोकन या निरीक्षण करें तो सत्य स्वतः ही सदा प्रकट हो उठेगा और फिर वह सत्य स्वयम् हमारे प्रयासों की विजय-गाथा बन जाएगा।

एच. हेरास, एस. जे.

डाईरेक्टर, इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट,

सेंट व्जेवियर्स कालेज बम्बई

तारीख 15 जनवरी, 1931।

उत्तर भारत में जैन धर्म

-: विषय सूची :-

पहला अध्याय - महावीर पूर्वोत्तर जैन धर्म

	पृष्ठ
जैन धर्म से क्या अभिप्रेत है ?	8
जैन धर्म का उद्भव	9
अर्वाचीन खोजों की अपेक्षा अधिक प्राचीन होने के प्रमाण	10
पार्श्व और महावीर की ऐतिहासिकता	10
पार्श्व की ऐतिहासिकता के प्रमाण	11
बौद्ध साहित्य में जैन धर्म के प्रारम्भ के उल्लेख	12
पार्श्व और महावीर के धर्म का संबंध	13
हिन्दू साहित्य में जैन धर्म के उल्लेख	14
जैन धर्म की प्रचीनता के संबंध में आधुनिक विद्वान	16

दूसरा अध्याय—महावीर और उनका समय

(1)

पार्श्व के सम्बन्ध में अनेक विवरण	18
पार्श्व के 250 वर्ष पश्चात् महावीर का आगमन	18
भारत वर्ष में धर्म का महान प्रचार	19
ब्राह्मणों का बढ़ता हुआ प्रभाव एवं जातिवाद के विशेष अधिकार	19
महावीर और बुद्ध के आविर्भाव से धर्माधिकारी मण्डलों की सत्ता एवं कट्टर जातिवाद का अन्त	21
भारत वर्ष की इस महान् क्रांति में ब्राह्मणों के प्रति तिरस्कार का अभाव	22
जीवन-दृष्टि और भारतीय लोकमानस के इतिहास में सूक्ष्म परिवर्तन	22

(2)

सामान्य दृष्टि से जैन धर्म	23
महावीर चरित्र	24
जर्म-अपहरण या भ्रूण परिवर्तन	25
महावीर के माता पिता पार्श्व के पूजक और श्रमणों के अनुयायी थे	27
महावीर का साधु-जीवन	28
महावीर की नगनावस्था और जैन शास्त्रों का अर्थ	28
महावीर का दीर्घ विहार	29
महावीर निर्वाण समय	30

जैन धर्म की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति	36
जिन-जैन धर्म के आध्यात्मिक नेता	38
जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष	39
तीन रत्नों द्वारा मोक्ष	42
सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र	42
मुक्त आत्मा-परमात्मा के सर्व लक्षण अनुभव करती है	44
तीर्थंकर और केवली याने सामान्य सिद्ध	44
तीर्थंकर कौन ?	45
अहिंसा का आदर्श	46
सामायिक और प्रतिक्रमण दो आवश्यक क्रियाएँ	50
स्यादवाद या अनेकान्तवाद के सिद्धान्त	51

जैन धर्म में पड़े हुए मुख्य भेद	55
सात निण्हव-जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गंग, छलुएँ और गोष्ठा माहिल	55
मंखलिपुत्त गोशाल-महावीर का मुख्य प्रतिस्पर्धी	55
तत्कालीन भारतीय धार्मिक प्रवाह की महान तरंग में मंखलिपुत्त का स्थान	57
डा. बरुआ और गोशाल का आजीविक मत	57
महावीर के संशोधित जैन धर्म पर गोशाल का प्रभाव	59
गोशाल की मृत्यु तिथि	60
ऐतिहासिक दृष्टि से आजीविक	60
जैन धर्म में अन्य महत्त्व के भेद	62
जैन धर्म के श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय	62
पंथभेद की विविध दंतकथाएं	63
पंथभेद के समय के विषय में सामान्य एक्यता	64
पंथभेद का मूल कारण : साधुता का आवश्यक लक्षण नग्नता है	65
जैन और नग्नवाद	65
दो प्रधान विषय जिनके विषय में दोनों एकमत नहीं हैं	66
मथुरा के शिलालेख और यह महान पंथभेद	66
ईसवी सन् के प्रारम्भ तक ऐसे पंथभेद अस्तित्व में नहीं थे	67
वल्गमी की परिषद के समय से हुआ अंतिम पंथभेद	67
स्थानकवासी समाज और जैन धर्म के अन्य नाना मतभेद	68
पंथभेदों का पागलपन जैनों की विशेषता	69
जैन समाज आज भी क्यों जीवित है ?	69

तीसरा अध्याय राज्यवंशी कुटुम्बों में जैन धर्म
(ई. पू. 800 से ई. पू. 200 तक)

(1)

पार्श्व का समय	72
पार्श्व के समय के लिए जैन साहित्य एकमात्र साधन	72
पार्श्व के समय में राज्य आश्रय	73
पार्श्व से महावीर तक के समय का अज्ञान	76
250 वर्ष का अंधकार	76
महावीर का समय	76
उनका पिता सिद्धार्थ	76
विदेह, लिच्छवियों, ज्ञात्रिकों, वज्जि या लिच्छवी संघ के वज्जि	77
मल्लकी जाति और काशीकोसल के गणराजाओं के साथ उनके सम्बन्ध	77
ये सब वंश एक या दूसरी रीति से महावीर के उपदेश के प्रभाव में आए	78
विदेही	78
लिच्छवी	79
ज्ञात्रिक	93
वज्जि	94
मल्लकी	95
काशी कोसल के गणराज	96

(2)

जैन धर्म और सोलह महाजनपद	97
मगध का साम्राज्य और जैन इतिहास में उसकी विशिष्टता	98
मगध पर शासन करने वाले पृथक पृथक वंश और जैन धर्म	98
शेथुनागवंश	98
नन्दवंश	108
मौर्य वंश	113

चौथा अध्याय— कर्लिंग-देश में जैन धर्म

कर्लिंगदेश में जैन धर्म अर्थात् खारवेल के समय का जैन धर्म	127
हाथी गुंफा के शिलालेख ही खारवेल के एक ऐतिहासिक साधन हैं	127
जैन इतिहास की दृष्टि से उड़ीसा का महत्व	128
हाथीगुंफा के शिलालेख के आस-पास के अवशेष	129
उदयगिरि और खण्डगिरि के पर्वत ई. पू. दूसरी और तीसरी सदी की गुहाओं से व्याप्त हैं	130
सत्वर, नवमुनि और अनन्त गुफा	130
बारमुजा, त्रिशूल और लालटेण्डु-केशरी गुफा	131

रागी और गणेश गुफाएं	132
जयविजय, स्वर्गपुरी, सिंह और सर्प गुफाएं	133
इन बिखरे इनेगिने खण्डहरों की ऐतिहासिक उपयोगिता	134
पार्श्व को समर्पित आधिपत्य	135
खण्डगिरि की टेकरी पर का जैन मन्दिर	135
हाथी गुफा का शिलालेख	136
शिलालेख की आठवीं पंक्ति और खारवेल का समय	138
शिलालेख की वस्तु	140
खारवेल और कलिगजिन	147
कलिग में जैन धर्म की प्राचीनता	150
खारवेल और जैन धर्म	152

पांचवां अध्याय—मथुरा के शिलालेख

खारवेल के पश्चात् उज्जैन के विक्रमादित्य का समय	158
विक्रम संवत् और सिद्धसेन दिवाकर	158
विक्रम के पूर्वज गर्दभिल्ल और कालिकाचार्य	158
कालिकाचार्य और प्रतिष्ठानपुर का सातवाहन	159
सिद्धसेन दिवाकर और उनका समय	160
पादलिप्ताचार्य और इनके सम्बन्ध की दंतकथाएं	160
जैन साहित्य की ऐतिहासिकता और विक्रम व उसके संवत् का अस्तित्व	161
मथुरा के शिलालेख और जैन धर्म के विषय में उनकी उपयोगिता	163
मथुरा के जैन लेखों का मूल कंकाली टीला	164
मथुरा के क्षत्रपों सम्बन्धी शिलालेख	165
संवत्वाले और संवत् रहित कुशान शिलालेख	166
मथुरा के शिलालेख और जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से उनकी उपयोगिता	166

छठा अध्याय—गुप्तकाल में जैन धर्म की स्थिति

कुशान समय से गुप्तों के आगमन तक की ऐतिहासिक भूमिका	171
गुप्त साम्राज्य का विस्तार	171
गुप्त समय में धर्म की परिस्थिति	172
जैनों के प्रति गुप्तों की सहानुभूति के शिलालेखी प्रमाण	172
कुवलयमाला दंतकथा और गुप्तकालीन जैन इतिहास	175
वल्लभियों का उदय और गुप्तों का अंत	180
वल्लभीवंश का चौथा राजा ध्रुवसेन के पूर्व का समय और जैन इतिहास के निर्दिष्ट समय का अंत	181

सातवां अध्याय—उत्तर का जैन साहित्य

प्रास्ताविक विवेचन	182
जैन सिद्धान्त	183
श्वेताम्बर शास्त्रों के विषय में दिगम्बरों की मान्यता	184
श्वेताम्बरों के लाभप्रद प्रतिपादन	186
चौदह पूर्व	187
बारह अंग	187
बारह उपांग	193
दस पयन्ना या प्रकीर्णक	194
छह छेदसूत्र	194
चार मूलसूत्र	195
दो चूलिका सूत्र	196
जैन शास्त्रों की भाषा	197
टीका साहित्य जो निर्युक्ति नाम से परिचित है	197
प्रथम टीकाकार भद्रबाहु	198
महावीर के समकालीन धर्मदासगण	199
उमास्वामी और उनके ग्रन्थ	200
सिद्धमेन दिवाकर और पादलिप्ताचार्य—जैन साहित्य के प्रभाविक ज्योतिर्धर	200

आठवां अध्याय—उत्तर में जैन कला

स्थापत्य में जैन धर्म की विशिष्टता	204
निर्दिष्ट युग के बाह्य के कितने ही स्थापत्य और चित्रकला के अवशेष	204
निर्दिष्ट युग के अवशेष	205
भारतीय कला की कितनी ही विशिष्टताएं	205
उड़ीसा की गुफाएं-कला की दृष्टि से उनकी उपयोगिता	207
जैनों में स्तूप-पूजा और मूर्तिपूजा	209
मथुरा के अवशेष	210
मथुरा के आयागपट	211
देवों द्वारा निर्मित बौद्ध स्तूप	213
मथुरा का तोरण स्थापत्य	214
नेमेश की चातुर्यता दिखाने वाला सुशोभित शिल्प	215
उपसंहार	217
सामान्य ग्रन्थ सूची	218



:: मूलग्रन्थ की चित्र सूची ::

1. जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ (13 वीं सदी की ताड़पत्रीय हस्तलिखित कल्पसूत्र से)
2. समेत शिखर पर्वत पर श्री पार्श्वनाथ का निर्वाण (- वही -)
3. जैनो के तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ (मथुरा)
4. नेगमेस द्वारा महावीर के गर्भ का अपहरण बतानेवाली सुशोभित शिला (मथुरा)
5. भगवान् महावीर तेरहवें वर्ष में शालवृक्ष के नीचे सर्व श्रेष्ठ केवल ज्ञान प्राप्त किया
6. भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर
7. बराबर टेकरी की तोमश ऋषि की गुफा
8. गुरु हेमचन्द्राचार्य और उनका शिष्य राजा कुमारपाल
9. खण्डगिरि पर की जैन गुफा, उदयगिरि पर की रानी गुफा के उपरिभाग के केवाल का दृश्य
10. उदयगिरि पर की स्वर्गपुरी की गुफाएं
11. खण्डगिरि पर के जैन मन्दिर
12. महाराजा श्री हरिगुप्त का सिक्का
13. जूनागढ़ पर की बाबा प्यारामल की गुफाएं
14. सचित्र जैन ग्रन्थ का हस्तलिखित उदाहरण
15. उदयगिरि पर की गरुड गुफा के उपरिभाग के केवाल का दृश्य. वहीं की राणी गुफा के छज्जे की एक किनार का भाग
16. ईंटों का बना प्राचीन जैनस्तूप (मथुरा)
17. आयागपट अर्थात् पूजा की शिला (मथुरा)
18. शिवयशा द्वारा स्थापित पूजा की शिला (मथुरा)
19. जिन युक्त आयागपट—ई. पू. 1ली शती (मथुरा)
20. आमोहिनी द्वारा स्थापित पूजा की शिला (मथुरा)
21. मनुष्याकृतिवाले बाड़-स्थम्भ (मथुरा)
22. देव-निर्मित बौद्धस्तूप के कलाविधान का दृश्य
23. देवों और मनुष्यों द्वारा तीर्थंकर को नमस्कार करना सूचित करते तोरण के दो पक्ष
24. तोरण का आगे और पीछे का भाग
25. नेमेस के चातुर्थ से आनन्द प्रदर्शित करती नतिक्रांति तथा संगीतकारों को दिखाती सुशोभित शिला
26. महावीर के गर्भ अपहरण दिखाती चार खण्डित मूर्तियां ।

233 क्राउन चौपेजी पृष्ठ इस मूल अंग्रेजी पुस्तक में हैं। फुटनोट 1275 हैं। बंबई विश्वविद्यालय का एम. ए. डिग्री के लिए दिये निबंध को परिर्वाहित-संशोधित कर इसे 1932 ई. लांगमैन्स ग्रीन एण्ड कपम्नी ने छपवाया था। उसका गुजराती अनुवाद सन् 1937 में वहीं से प्रकाशित हुआ था।



: संकेत सूची :

आहिप्रार	—	आंध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी ।
एरि	—	एशियाटिक रिसर्चेंज ।
आसइं	—	आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया (एन्युअल रिपोर्ट्स) ।
आसरि	—	रिपोर्ट्स आफ दी आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया (कनिधम) ।
आसव्यैइ	—	आर्कियालोजिकल सर्वे आफ व्यैस्टर्न इण्डिया ।
इण्डि-एण्टी	—	इण्डियन एण्टीपवेरी ।
इण्डि हिव्वा	—	इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली ।
एंसा. बि	—	एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ।
एपी. इण्डि.	—	एपीग्राफिका इण्डिका ।
एपी. कर्णा.	—	एपीग्राफिका कर्णाटिका ।
एंरिए.	—	एंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स ।
कैहिइ.	—	कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया ।
काइइ	—	कारपस इंस्क्रिप्शनम इण्डिकारम ।
अप्रापत्रिका	—	अमैरिकन ओरियंटल रिसर्च सोसाइटी पत्रिका ।
बंएसो पत्रिका	—	एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, पत्रिका ।
बंशाएसो पत्रिका	—	रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई शाखा, पत्रिका ।
बिउप्रा पत्रिका	—	बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी पत्रिका ।
जेडीएल	—	जरनल आफ दी डिपार्टमेंट आफ स्पेटर्स ।
जैग	—	जैन गजट ।
बंएसो कार्य.पत्रिका-	—	जरनल एण्ड प्रोसीडिंज आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ।
राएसो पत्रिका	—	जरनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी ।
जैसासं	—	जैनसाहित्य संशोधक ।
मैआस	—	मैसूर आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट ।
मवि	—	मराठी विश्वकोश (एंसाइक्लोपीडिया)
सेबुबु	—	सेक्रेड बुक्स आफ दी बुद्धीस्ट्स ।
सेवुई	—	सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट ।
सेबुंजै	—	सेक्रेड बुक्स आफ दी जैनाज ।
जेडडी एमजी	—	जैयटशिफ्ट डेर डायशन मोरगनलाण्डिशन मैसेलशाफ्ट ।

*

लेखक का प्राक्कथन

यह दुर्भाग्य की ही बात है कि भारतीय पुरातत्व के अभ्यास से जैनधर्म के विषय में आज तक जितना भी कहा गया है वह उसकी तुलना में नगण्य है कि जो कहा जाने का शेष है। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि यद्यपि जैनधर्म का समकालीन बंधुधर्म, बौद्धधर्म भारतवर्ष की सीमा में से लगभग अदृश्य हो गया था, फिर भी विद्वानों से उसको आवश्यक न्याय प्राप्त हुआ है। परन्तु जैनधर्म को जो कि देश में आज तक भी टिका हुआ है और जिसने इस विशाल देश की संस्कृति एवं उसकी राजकीय और आर्थिक घटनाओं पर भी भारी प्रभाव डाला है, विद्वानों से आवश्यक न्याय प्राप्त नहीं हुआ और न आज भी प्राप्त हो रहा है, यह महा खेद की बात है।¹ श्रीमती स्टीवन्सन लिखती है कि यद्यपि जैनधर्म किसी भी रीति से कहीं भी राजधर्म नहीं है फिर भी आज जो प्रभाव उसका देखा जाता है वह भारी है। उसके साहूकारों और सराफों का धन-वैभव, ऋणदाताओं व साहूकारों का सर्वोपरि महान् धर्म होने की उसकी स्थिति से इसका राजकाज पर प्रभाव, विशेष रूप से देशी राज्यों में, सदा ही रहा है। यदि कोई इसके इस प्रभाव में शंका करता हो तो उसे देशी राज्यों की ओर से प्रकाशित जैनों के पवित्र धार्मिक दिवसों में जीवहिंसा बंद रखने संबंधी आज्ञापत्रों की संख्या मर देख लेना चाहिए।² 'भारतवर्ष की जनसंख्या के जैन निःसंदेह एक महान् और जाहोजलाली एवं सत्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है।'³

हर्टल निःसंदेह सत्य कहता है कि 'भारत की संस्कृति पर और विशेषतया भारत के धर्म और नीति, कला और विद्या, साहित्य और भाषा पर जैनों ने प्राचीन काल में जो प्रभाव डाला था और आज भी जो वे डालते जा रहे हैं, उस सब को समझने और जैनधर्म की उपयोगिता को स्वीकार करने वाले पाश्चात्य विद्वान बहुत ही कम हैं।'⁴ श्री जैनी, श्री जायसवाल, श्री घोषाल आदि कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों के सिवा किसी भारतीय विद्वान ने इस दिशा में संतोषप्रद कोई कार्य नहीं किया है। बौद्धधर्म के प्रति विद्वानों का पक्षपात अकारण नहीं है क्योंकि वह धर्म एक समय इतना विशाल व्याप्त था कि उसे एशिया महाद्वीप का धर्म कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं था। पक्षान्तर में जैनधर्म यद्यपि मर्यादित क्षेत्र में ही रहा था फिर भी श्री नानालाल वि. मेहता के अनुसार 'चीनी तुकस्तान के गुहा-मंदिरों में उसके प्रासंगिक चित्र भी देखने को हमें मिल जाते हैं।'⁵

जैनधर्म के तुलनात्मक अभ्यास के लिए प्रामाणिक साधन नहीं मिलने एवं बौद्धधर्म के प्रति पक्षपात के कारण इसके विषय में सुझावों में डालने वाले अनुमान कितने ही पाश्चात्य प्रसिद्ध विद्वानों को करने पड़े थे क्योंकि इन दोनों बंधुधर्मों का प्राचीन इतिहास एकसा ही उनके देखने में आया था। सौभाग्य से पिछले कुछ वर्षों में ये विचित्र अनुमान पाश्चात्य एवं पौराणिक विद्वानों द्वारा यद्यपि संशोधित हो गए हैं फिर भी इन भ्रामक और असत्य अनुमानों के कुछ उदाहरण यहां देना अप्रासंगिक नहीं होगा। श्री डब्ल्यू एस. लिले कहता है कि 'बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि में जैनधर्म के रूप में टिका हुआ है। यह निश्चित बात है कि जब भारतवर्ष से बुद्धधर्म अदृश्य हो गया, जैनधर्म दिखलाई पड़ा था।'⁶ श्री विल्सन कहता है कि 'सब

1. देखो जैनी, आउटलाइन्स ऑफ जैनीज्म, पृ. 03।
2. स्टीवन्सन (श्रीमती), दी हार्ट ऑफ जैनीज्म, पृ. 19।
3. विल्सन ग्रंथावली, भाग 1, पृ. 347।
4. हर्टल, ऑन दी लिटरेचर ऑफ दी श्वेताम्बराज ऑफ गुजरात, पृ. 1।
5. मेहता, स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग, पृ. 2। हेमचन्द्र और अन्य परम्परा के अनुसार भी जैनधर्म आज के भारतवर्ष की सीमा में ही परिसीमित नहीं था। देखो हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन् याकोबी सम्पादित, पृ. 69, 282। देखो मराठी विश्वकोश, भाग 14, पृ. 144।
6. लिले, इण्डिया एंड इट्स प्राक्कथन पृ. 144।

विश्वस्त प्रमाणों से भी यह अनुमान दूर नहीं किया जा सकता है कि जैनजाति एक नवीन संस्था है और ऐसा लगता है कि वह सर्व प्रथम आठवीं और नवीं सदी ईसवी में वैभव और सत्ता में आई थी। इससे पूर्व बौद्धधर्म की शाखा रूप में वह कदाचित् अस्तित्व में रही हो, और इस जाति की उत्पत्ति उस धर्म के दब जाने के बाद से ही होने लगी हो कि जिसको स्वरूप देने में इसका भी हाथ था।¹

श्री कोलब्रुक जैसे लेखकों ने गौतम-बुद्ध को महावीर का शिष्य मान लेने की भूल की थी क्योंकि महावीर का एक शिष्य इन्द्रभूति भी गौतमस्वामी या गौतम कहलाता था।² एडवर्ड टामस कहता है कि 'महावीर के पश्चात् इसके धर्म में दो दल हो गए थे। बुद्ध के समानार्थी नामवाले इन्द्रभूति को पूज्य पुरुष का स्थान दिया गया क्योंकि बौद्ध और जैनशास्त्रानुसार 'जिन' और 'बुद्ध' का अर्थ एक ही होता है।³ परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि 'जिन' का अर्थ 'जिता' और 'बुद्ध' का अर्थ 'ज्ञाता' होता है।

रायल एशियाटिक सोसाइटी की सार्वजनिक सभा में पढ़े गए निबन्ध में कोलब्रुक ने कहा था कि 'जैसे डॉ. एमिल्टन और मेजर डीलामेने कहते हैं, जैनों और बौद्धों का गौतम एक ही व्यक्ति है और इससे एक दूसरा विचार भी उद्भवित होता है और वह यह कि ये दोनों धर्म एक ही वृक्ष की शाखाएं हों। जैनों के कथनानुसार महावीर के ग्यारह शिष्यों में से एक ने ही अपने पीछे आध्यात्मिक उत्तराधिकारी छोड़े थे; अर्थात् जैनाचार्यों का उत्तराधिकारी मात्र सुधर्मा स्वामी से ही चल रहा है। ग्यारह शिष्यों में से मात्र इन्द्रभूति और सुधर्मा दो ही महावीर के बाद विद्यमान रहे थे। पहला शिष्य गौतमस्वामी नाम से प्रसिद्ध था और उसका कोई भी उत्तराधिकारी नहीं था। इससे यथार्थ निष्कर्ष यह मालूम होता है कि इस जीवित शिष्य के कोई भी अनुयायी नहीं था ऐसा नहीं अपितु यह कि वे जैनधर्म नहीं थे। इस गौतम के अनुयायियों का ही बौद्ध धर्म बना जिसके कि सिद्धान्त बहुतांश में जैनधर्म के जैसे ही हैं। पक्षान्तर में सुधर्मास्वामी के अनुयायी जैन हैं। तीर्थंकरों का इतिहास, कथानक और पुराण दोनों ही के एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।⁴

कितने ही नामों और नियमों की ऐसी आकस्मिक समानता पर से रचित दोनों ओर के इन शीघ्र अनुमानों और प्रमाणों को जैसे किसी भी प्रकार से ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता है, वैसे ही उन्हें न्यायसंगत भी नहीं कहा जा सकता है। डॉ. याकोबी के शब्दों में यदि कहें तो 'ऐसी साम्यता फ्ल्यूलेन के ऐसे न्याय सिद्धांत पर ही टिकी रह सकती है कि मैसीडोन में एक नदी है और मान्मथ (Monmouth) में भी एक नदी है। मान्मथ की नदी को वाई कहते हैं। परन्तु दूसरी नदी का वास्तविक नाम अब क्या है यह मुझे स्मरण नहीं है। परन्तु वह सब एक ही हैं। जैसे मेरी अंगुलियाँ एक दूसरे से मिलती हैं वैसे ही वे भी हैं और दोनों में ही सालमन जाति की मछलियाँ हैं।⁵

डॉ. हापर्किंस जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान ने भी 'मूर्तिपूजा, देवपूजा और मनुष्यपूजा' को महावीर के साथ एकान्त रूप से जोड़ दिया है। वह जैनधर्म के संबंध में कहता है कि 'भारत के सब महान् धर्मों में से नातपुत्र का धर्म ही न्यूनतम रोचक है और प्रत्यक्षतः जीवित रहने का वह न्यूनतम अधिकारी है।'⁶ उसका इस सम्बन्ध का एक पक्षीय विचार अथवा उसका अज्ञान इतना गहरा जान पड़ता है कि अपने अंतिम निवेदन में भी इसी प्रकार के विचार वह दोहराए बिना नहीं रह सका था क्योंकि वह अन्त में लिखता है कि 'जो धर्म मुख्य सिद्धांत रूप से ईश्वर को नहीं मानना, मनुष्य पूजा करना और कीड़ी-मकोड़ी की रक्षा-पोषण करना सिखाता है, उसको वस्तुतः जीवित रहने का ही न तो अधिकार है और न उसका विचार-तत्त्वज्ञान के इतिहास में ही एक दर्शनरूप से कोई अधिक प्रभाव ही कभी रहा है।'⁷ डा. हापर्किंस के ये अनुमान इतने बहिर्मार्गी हैं कि उन्हें कपोलकल्पित और अपक्वनिर्णयों के रूप में निषेध करके ही हम सत्य के अधिक समीप पहुँच सकते हैं। क्योंकि 'अनेक पदार्थों की ही भांति जिसे

1. विल्सन, वही, पृ. 334।

2. याकोबी, कल्पसूत्र पृ. 1।

3. टामस (एडवर्ड), जैनीज्म ऑर दी अर्ली फेथ ऑफ अशोक, पृ. 6।

4. कोलब्रुक, मिसलेनियस एसेज, भाग 2, पृ. 315, 316।

5. याकोबी, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 9, पृ. 162।

6. हापर्किंस रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, पृ. 296।

उसके कथनानुसार जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है, वह जैनधर्म दो हजार से अधिक वर्षों से भी जीवित है इतना ही नहीं अपितु उसने साधुओं एवं गृहस्थों में अनेक उत्तम कोटी के पुरुष भी उत्पन्न किए हैं और अत्यन्त श्रद्धालु और सत्य मार्ग शोधक अनेक उपासकों और भक्तों को मार्ग दर्शन कराकर वास्तविक शांति भी प्रदान की है।¹

परन्तु ऐसे विचार के व्यक्ति डॉ. हापकिंस ही अकेले नहीं हैं। परन्तु ऐसे दूसरे विद्वानों से हमें उसको पृथक करना ही होगा क्योंकि वह ऐसे बेबुनियाद अपने निष्कर्षों को भ्रम निवारण किए जाने पर विरेचन नहीं करने जैसा दुराग्रही और सत्यविमुख नहीं था। श्री विजयेन्द्रसूरिजी को एक पत्र में उसने लिखा था कि 'मुझे अब एकदम पता लग गया है कि जैनों का व्यवहारी धर्म प्रत्येक रीति से प्रशंसापात्र है। तब से मैं निश्चय ही दु खी हूँ कि लोगों के चरित्र और नैतिकता पर इस धर्म ने जो आश्चर्य-जनक प्रभाव डाला उसका, और ध्यान दिए बिना ही ईश्वर को नहीं मानने, केवल मनुष्य पूजा करने और कीड़ी-मकोड़ी की रक्षा पोषण करने वाले के रूप में जैनधर्म की मैंने निंदा की। परन्तु जैसा कि बारंबार बना करता है, धर्म के साथ गाढ़ सम्बन्ध ही, न कि पुस्तकों द्वारा प्राप्त किए बाहरी ज्ञान, उसकी विशिष्टताओं का दिग्दर्शन कराता है और समष्टि में अत्यन्त अनुकूल वातावरण वही उत्पन्न करता है।'²

आश्चर्य की बात बस इतनी ही है कि ऐसे अपूर्ण अभ्यास के प्रत्यक्ष परिणामों से ही लम्बे समय तक जैनधर्म पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में बौद्धधर्म की एक शाखा मात्र माना जाता रहा था। ऐसी खोटी धारणा से पुरातत्त्व की इस शाखा के अभ्यासी शोधकों का ध्यान जैनधर्म के सुन्दर तत्त्वों की ओर क्वचित् ही गया और ऐसे भ्रम कुछ काल तक अवश्य ही चलते रहे थे। परन्तु जैनधर्म एक स्वतंत्र धर्म रूप में सिद्ध हो चुका है इससे अब तो इन्कार किया ही नहीं जा सकता है। इस भ्रम निवारण के लिए डॉ. याकोबी और डॉ. ब्रूलर जैसे विद्वान धन्यवाद के योग्य हैं।

इन दो सुप्रसिद्ध विद्वानों के अविरत प्रयास के फल स्वरूप जैनधर्म विषयक अज्ञान अब दिनोदिन दूर होता जा रहा है। डॉ. याकोबी के 'श्री भद्रबाहु के कल्पसूत्र की प्रस्तावना' और 'श्रीमहावीर और उनके पुरोगामी'³ अनुक्रम से ई.सन् 1879 और 1880 में प्रकाशित विद्वत्तापूर्ण दो लेख और सन् 1887 में पढा गया डॉ. ब्रूलर का 'जैनों की भारतीय शाखा' लेख ही जैनधर्म के शास्त्रीय या बुद्धिगम्य और विस्तृत विवरण देनेवाले सर्व प्रथम लेख थे। इन प्रसिद्ध विद्वानों की कीर्ति, महान् बुद्धिमत्ता और तात्त्विक सूक्ष्म दृष्टि से इस विषय की विवेचना ने इस अद्भुत धर्म के प्रति योरोपीय विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया और जो कार्य उन्होंने प्रारम्भ किया था वह न केवल आज दिवस तक चलता ही रहा है अपितु उसके अनेक सुंदर परिणाम भी आए हैं। सद्भाग्य से आज जैनधर्म के प्रति दृष्टि में दर्शनीय अन्तर पड़ गया है और भूतकाल में ज्वलंत भाग लेने वाले, और जगत की प्रगति, संस्कृति और सभ्यता की वृद्धि में जगत के अन्य धर्मों जितना ही अद्वितीय योगदान देनेवाले इस धर्म को जगत के धर्मों में इसका उपयुक्त स्थान प्राप्त होने लगा है।

इसी सम्बन्ध में श्री स्मिथ कहता है कि 'यह शंकास्पद सत्य है कि किसी भी काल में समग्र भारत का प्रचलित धर्म बौद्धधर्म ही था।' इसलिए अनेक लेखकों द्वारा प्रयुक्त 'बौद्धधर्म युग' नाम को झूठा और भ्रमास्पद कहते वह इसकी निंदा करता है क्यों कि उसका यह कहना है कि 'ब्राह्मणयुग के स्थान में भारत में जैन या बौद्ध युग इस दृष्टि से कभी भी नहीं रहा कि उसने ब्राह्मणीय हिन्दूधर्म का स्थान ही ले लिया हो।'⁴ वस्तु स्थिति जो भी हो, फिर भी इन दोनों धर्मों ने भारत वर्ष के इतिहास के पृष्ठों में अमिट छाप छोड़ी है और भारतीय विचार, जीवन, संस्कृति आदि में इन्होंने अनुपम योगदान दिया है इसको अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता है। इस ग्रन्थ के निर्माण का मेरा उद्देश्य इसलिए सामान्य जैनधर्म, न कि उसके कोई सम्प्रदाय विशेष जैसे कि श्वेताम्बर, दिगम्बर अथवा स्थानकवासी, उत्तर भारत में किस प्रमाण में फैला हुआ था, वह खोजने और उसकी ही वृद्धि एवम् विस्तार का इतिहास ही आलेखित करने का है।

बेलवलकर, ब्रह्मसूत्राज, पृ. 120-121।

देखो शाह, जैन गजट, भाग 23, पृ. 105।

इण्डि. एण्टी., पुस्त. 9, पृ. 158 आदि।

स्मिथ, ग्रॉक्सफॉर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 55।

इस महान् धर्म के सिद्धान्त, इसकी संस्थाओं के महान् विकास और उसके भाग्य का वर्णन करने या रूपरेखा देने का ही मेरा विचार नहीं है। यही क्यों, जैनधर्म का इतिहास, उसके विविध चित्र-विचित्र कथानक और पवित्र धार्मिक साहित्य के द्वैतरूप कि जो श्वेताम्बर या दिगम्बर मान्यता की मांग स्वरूप आज हमें प्राप्त है, आदि प्रश्नों की कदाचित् ही मैं चर्चा करूँगा। मेरा प्रयत्न तो मात्र इतना ही होगा कि मैं उन साहसी और बलिष्ठ, महान् और यशस्वी पूर्वजों के प्रयासों का जो उन्होंने अपने एवम् अपने धर्म के इतिहास निर्माण करने के लिए थे, मैं अनुसरण करूँ और चाहे वह आंशिक और परीक्षामूलक ही हो फिर भी उनके योगदान का और विशेषतया उत्तर भारत की प्रसन्न और फलप्रद सांस्कृतिक धारा में दिए योगदान का मूल्यांकन करूँ।

इस प्रकार के ग्रन्थ निर्माण की तीव्र आवश्यकता के इसके सिवाय भी अनेक कारण हैं क्योंकि पिछले सवा सौ वर्षों में साहित्यिक कृतियों को देखते हुए, विद्वानों ने पौराणिक ग्रन्थों के विभिन्न विभागों की ओर अत्यन्त दुर्लक्ष किया है। पहला कारण यह है कि उत्तर-भारत का इतिहास तब तक सम्पूर्ण लिखा ही नहीं जा सकता है जब तक कि वह जैनधर्म के प्रकाश में नहीं लिखा जाए क्योंकि इस धर्म ने गृहस्थों और राजवंशों में अगणित परिवर्तन किए थे। दूसरा यह कि भारतीय तत्त्वज्ञान का अवलोकन भी जैनधर्म के तत्त्वज्ञानावलोकन के अभाव में अपूर्ण रह जाता है और यह विशेष रूप से विध्यपर्वत के उत्तर ओर के क्षेत्र के लिए, जहाँ कि जैनधर्म का जन्म हुआ था, और भी अधिक लागू होता है। तीसरे यह कि यदि भारतीय क्रियाकाण्ड, रीतिरिवाज, दंतकथाएं, संस्थाएं, ललितकला और शिल्प आदि का सुसम्बन्धित और सूक्ष्म अवलोकन करना खोज का विषय हो तो उस उत्तर भारत में कि जहाँ बारंबार के विदेशी अभियानों के शिकार होने के कारण कोई भी संस्था या धर्म सहीसलामत नहीं रहे, जैनधर्म के चित्रविचित्र इतिहास को स्वभावतः प्रमुख स्थान मिलना ही चाहिए। डॉ. हर्टल कहता है कि जैनों की वर्णनात्मक कथाएं भारत की वर्णनात्मक कला की लाक्षणिक हैं। उनमें भारतीय प्रजा के जीवन और उसकी पृथक पृथक प्रकार की रीतभंगि का वास्तविक और सुसंगठित रूप में वर्णन हमें मिलता है। इसलिए जैन कथा-साहित्य भारतीय साहित्य के विशाल क्षेत्र में लोकसाहित्य का (उसके विस्तृत अर्थ में लेते हुए) ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के इतिहास का भी सबसे अधिक मूल्यवान मौलिक साधन है।¹ अन्त में, राष्ट्र के मानस तथा सभ्यता को जानने का भूतकाल का सूक्ष्म और सावधानी पूर्वक अभ्यास के सिवाय दूसरा रामबाण उपाय कोई भी नहीं है। ऐसे अध्ययन से ही भूतकाल की अज्ञानजन्म और अन्धपूजा के स्थान में रत्य और पुरुषोचित अर्थ्यता स्थापित की जा सकती है।

भारतीय साहित्य की निधि में जैनों ने जो योगदान दिया है उस सब का इतिहास दिया जाए तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ की ही रचना हो जाए। जैनों ने प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म, नीति, विज्ञान तत्त्वज्ञान आदि विषयों द्वारा अपना सम्पूर्ण योगदान दिया है। भारतीय संस्कृति में जैनों के दिए योगदान का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हुए श्री बार्थ लिखता है कि 'भारतवर्ष के साहित्यिक और वैज्ञानिक जीवन में उन्होंने बहुत ही महत्वपूर्ण भाग लिया है। ज्योतिष शास्त्र, व्याकरण और रोमांचक साहित्य उनके प्रयत्नों का आभारी है।'²

ललितकला के प्रदेश में उदयगिरी और खण्डगिरि के पर्वतों पर के निवासगृह और गुहा मंदिरों के कुशलतापूर्वक उत्कीर्णित वेष्टनियां (फ्रीजेज), मथुरा के सुशोभित आयागपट तथा तोरण, गिरनार और शत्रुघ्नय की पर्वतमाला पर के स्वतंत्र खड़े सुन्दर स्तम्भ और आबू एवं अन्य पर्वतों पर के जैन मंदिरों का अद्भुत शिल्पकाम आदि भारतीय इतिहास और संस्कृति के विद्यार्थी की रस प्रवृत्ति को जागृत करने के लिए पर्याप्त हैं। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी महान् शंकराचार्य और ऋषि दयानन्द का पृष्ठबत जैन और बौद्ध प्रभाव के सदियों की प्रतिक्रिया के ज्ञान विना पूर्ण रूप से जाना ही नहीं जा सकता है।

साहित्य, कला और धर्म की ये हलचलें महान् राज्यों की सुरक्षित छत्रछाया के बिना विजयी हो ही नहीं सकती थीं इसलिए हमारा अभ्यास जैनधर्म की राजसत्ता की सुरक्षा में हुई प्रगति की खोज करने के काम से प्रारम्भ होना चाहिए क्योंकि अपनी क्रमोन्नति में वह 'कितने ही राज्यों का उस दृष्टि से राजधर्म बन जाता है कि कितने ही महान् राजा उसको स्वीकार क

1. हर्टल, डॉन दिलिटरेचर ऑफ दिश्वेताम्बरराज ऑफ गुजरात पृ. 8।

2. बार्थ, दी रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, पृ. 144।

लेते हैं, उसे आवश्यक उत्तेजन देते हैं । और अपनी प्रजा को भी वे उसी धर्म की ओर भुका सकने में भी सफल होते हैं ।¹

फिर भी हमारा कार्य कंटकाकीर्ण है । सत्य तो यह है कि उत्तर भारत के जैन धर्म का सम्पूर्ण ऐतिहासिक अवलोकन पूरा-पूरा करा सके ऐसा एक भी उपयोगी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तो भी भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए न तो वह क्षेत्र एकदम अज्ञता ही है, और न वह मात्र ऐतिहासिक व काल्पनिक नामों का, धार्मिक दृष्टान्तों का, महाकाव्य अथवा धर्मग्रन्थों की पुराण कथाओं का जैसा-तैसा क्रिया हुआ संग्रह ही है । क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो हजारों प्राचीन जैन साधुओं और पण्डितों को इन बहु-अमसम्पादित रचनाओं का कि जिन्हें पीढ़ी प्रति पीढ़ी स्मृति द्वारा ही कि जिसे आज का युग एक चमत्कार ही मानता है, दिया जाना रहा था, सुरक्षित रखना ही निरर्थक हो जाता है । यही क्यों विगत डेढ़ सौ वर्ष का सुप्रसिद्ध भारतीय और विदेशीय पण्डितों और पुरातत्वविदों का किया हुआ काम भी अकारण हो जाता है, यदि उनके खेलों के परिणाम स्वरूप आज हम ऐसा सुसम्बद्ध इतिहास कि जो साधारण पाठक की समझ का और अभ्याशियों के उपयोग का हो, नहीं लिख पाते हैं ।

जैन इतिहास के अनेक अंश यद्यपि आज भी अन्धकार में हैं, और अनेक विवरण सम्बन्धी प्रश्न अभी अवस्थित हैं, तो भी हमारा यह सद्भाग्य है कि जैनयुग के सामान्य इतिहास की रचना का कार्य अब इतना भारी नहीं रह गया है । भारी है या नहीं, हम तो अपने लिए न तो निजी खोजों का और न पौर्वीय विद्वत्ता एवम् खोज की सीमाओं को किसी प्रकार विस्तृत करने का ही श्रेय का अधिकारी समझते हैं ।

ग्रन्त में "उत्तर-भारत" की व्याख्या स्पष्ट कर देना भी हमारे लिए आवश्यक है । कृष्णा और तुंगभद्रा नदी के दक्षिण ओर आए हुए प्रदेशों को मर्यादित रूप में "दक्षिण-भारत" कहा जाता है । इन नदियों से उत्तरीय प्रदेशों को "दक्खिन" कहने की प्रथा है । परन्तु दक्षिण और उत्तर भारतवर्ष याने नर्मदा के दक्षिणी और महानदी के उत्तरी प्रदेश अपने में ही एक-एक इकाई हैं । इसी इकाई के अर्थ में "उत्तर-भारत" शब्द का यहां प्रयोग किया गया है । ताप्ती नदी के दक्षिण भाग से ही दक्खिन का उच्च प्रदेश याने प्लेटो निश्चय ही गुरु होता है । दक्षिण याने उपद्वीपी-भारत (पेनिन्सुलर इण्डिया)² से भारत को वस्तुतः पृथक करने वाली तो नर्मदा नदी ही है । इसी उत्तर-भारत प्रदेश में समस्त बारह लाख की जैनों की लगभग आधी संख्या आज भी बसती है । ये छह लाख जितने जैन ऐतिहासिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से अपने आप में उभी प्रकार एक निश्चित इकाई हैं जैसे कि वे दन्तकथाएं, रीतिरिवाज और मान्यता से स्पष्ट रूप में उत्तरीय हैं । बौद्धों की भांति, उत्तर और दक्षिण के जैनों का यह विभजन मूलतः भौगोलिक होते हुए भी "सिद्धान्त, शास्त्रभाषा, दन्तकथा और रीतिरिवाजों के समस्त शरीर में ही अन्ततः व्याप्त हो गया है ।"³

1. सिन्धु, वही, पृ. 55 । 2. श्रीनिवासचारी और आर्यगर, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 1, पृ. 3 ।

3. वार्थ, वही, पृ. 145 ।

पहला अध्याय

महावीर पूर्वोत्तर जैन धर्म

जैनधर्म से क्या अभिप्रेत है ? “प्राचीन भारत का इतिहास मानव संस्कृति और उसके विकास की तीस सदियों का इतिहास है। यह पृथक-पृथक कितने ही युगों में विभाजित है। कितनी ही अर्वाचीन प्रजा के समस्त इतिहास की तुलना में बहुत काल तक खड़ा रह सके ऐसा वह प्रत्येक युग है।”¹ मानव संस्कृति और उसके विकास के इन तीन हजार वर्षों की कला, शिल्प, धर्म, नीति और तत्वज्ञान की अनेक विध प्रगति में जैनधर्म का योगदान अद्वितीय है। परन्तु जैनधर्म की प्रमुख सिद्धि है “अहिंसा” का आदर्श। जैन मानते हैं कि आज की दुनियां शनैः शनैः अदृश्य रीति से फिर भी उसी आदर्श की ओर प्रगति कर रही है। प्रत्येक उच्च व्यावहारिक और आत्मिक प्रवृत्ति का ध्येय अहिंसा ही माना जाता हो और भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों के निवास के कारण संस्कृति की उलभनमरी विशाल अभिवृद्धि में से परिणत हुई सब विभिन्नता के होते हुए भी अहिंसा ही एकता का चिह्न मानी जाती थी ?

जैनधर्म मुख्य रूप से दर्शन के नैतिक अर्थ का सूचक है। जैसे बौद्ध ज्ञानी बुद्ध के अनुयायी हैं वैसे ही जैन वीतराग जिन के अनुयायी हैं। जैनों के सभी तीर्थंकरों को “जिन” कहा जाता है।²

जिन के पृथक-पृथक गुणों पर से उद्भूत अनेक नाम उनकी सफलता के प्रति भक्तों के भावों के प्रदर्शक हैं जैसे कि जगतप्रभु—याने जगत का स्वामी, सर्वज्ञ—याने सर्व पदार्थ का ज्ञाता, त्रिकालवित—याने भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही काल को जानने वाला, क्षीणकर्मा—याने सर्व दैहिक कर्मों को क्षीण याने नाश करने वाला, अधीश्वर—याने महान् ईश्वर, देवाधिदेव—याने देवों का भी देव। ऐसे और भी अनेक गुणवाचक नाम जिन के हैं। फिर कितने ही नाम अर्थसूचक भी हैं जैसे कि ‘तीर्थंकर’, या ‘तीर्थकर’, ‘केवली’ ‘अर्हत्’ और ‘जिन’। ‘तीर्थंते प्रनेन’ अर्थात् संसार रूपी समुद्र जिसकी सहायता से तेरा जा सके वह ‘तीर्थंकर’, प्रत्येक प्रकार के दोष से रहित अपूर्व आध्यात्मिक शक्ति जिसमें हो वह ‘केवली’, देवों और मनुष्यों को जो मान्य हो वह ‘अर्हत्’, और राग एवं द्वेष से परे ऐसा जितेन्द्रिय हो वह ‘जिन’ कहलाता है।³

1. दत्त (रमेशचन्द्र), एन्शेंट इण्डिया, 1890 पृ. 1। 2. उन सब स्त्रियों और पुरुषों को भी यह लागू होता है कि जिन ने अपनी हीन वृत्तियों पर विजय पाली है और जो सब राग-द्वेष को पूर्णतया जीत कर उच्चतम स्थिति पर पहुँच गए हैं। देखो राधाकृष्णन, इण्डियन फिलोसोफी, भाग 1, पृ. 286। 3. अस्य च जैनदर्शनस्य प्रकाशयिता परमात्मा रागद्वेषाद्यान्तरिपुजेतत्वादन्वयं क जिनना मधेयः। जिनो हून् स्याद्वादी तीर्थंकर इति ज्ञानार्थान्तरम्। अतएव तत्प्रकाशित दर्शनमपि जैनदर्शनमर्हत्प्रवचनं जैनशासनं स्याद्वाददृष्टिरेकान्तवाद इत्याद्यनिवानैर्व्यपदिशते। विजयधर्मसूरि, मण्डारकर स्मृति ग्रन्थ, पृ. 139।

जिन का प्ररूपित धर्म ही 'जैनधर्म' है। उसे 'जैनदर्शन', 'जैनशासन', 'स्याद्वाद', आदि भी कहते हैं। जैनधर्म पालने वाले गृहस्थों को बहुधा श्रावक भी कहा जाता है।¹

जैनधर्म के प्रारम्भ की निश्चित तिथि बताना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है। फिर भी जैनधर्म बौद्ध या ब्राह्मण धर्म की शाखा है इस प्राचीन मान्यता को हम अर्वाचीन खोजों के परिणाम स्वरूप निषङ्क अज्ञानसूचक और अमात्मक मिथ्यावर्णन घोषित कर सकते हैं। हमारे ज्ञान की प्रगति यहां तक हो चुकी है कि अब यह कहना एक ऐतिहासिक भ्रांति ही होगा कि जैनधर्म का प्रारम्भ भगवान महावीर से ही हुआ जब तक कि इसको समर्थन करनेवाले कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए जाएं, क्योंकि जैनों के तेईसवें तीर्थंकर श्री पाश्वनाथ अब एक ऐतिहासिक व्यक्ति पूर्णतया स्वीकृत किए जा चुके हैं और अन्य जिनों की भांति महावीर उनकी श्रेणी में एक सुधारक से अधिक कुछ भी नहीं थे यह भी स्वीकार किया जा चुका है।

मनुष्य जाति जितना ही धर्म प्राचीन है, अथवा इसका उद्भव बाद में हुआ यह अभी तक भी ऐतिहासिक अन्वेषकों की विवेचना का विषय उतना ही बना हुआ है जितना कि धर्म का प्रारम्भ और तत्त्वज्ञान और इसका कोई भी हल उन्हें नहीं मिला है। मानस-शास्त्र की दृष्टि से ही इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। परन्तु यह प्रश्न निरा दार्शनिक ही है। जो किसी भी उच्चतर व्यक्ति या व्यक्तियों में विश्वास नहीं करती हो ऐसी कोई आदिम जाति या प्रजा आज तक भी नहीं मिली है और यह धर्म के विशाल अर्थ में एक परम महत्व की बात है।

जब हम किसी विशिष्ट धर्म का विचार करते हैं तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता ही है कि वह धर्म मनुष्य जितना ही प्राचीन है अथवा मनुष्य जीवन में उसकी उत्पत्ति बाद में हुई थी। इस विषय में प्रत्येक धर्म का बहुतांश में यही दावा है कि जो स्पष्टतया परन्तु संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है:—“हमारा धर्म अनादि और सर्व-व्यापक है और अन्य धर्म सब पाखण्ड हैं।” अपने अनादित्व के इस दावे को सिद्ध और समर्थन करने के लिए प्रायः प्रत्येक धर्म में अनेक प्रकार का काल्पनिक या पौराणिक साहित्य है कि जो धार्मिक रूपकों और धर्मपुस्तकान्तर्गत पुराणकथाओं को आश्रय देते हैं। अस्तित्व रखता हुआ कोई भी धर्म अनादि और सर्व-व्यापक होने का अपना दावा वस्तुतः सिद्ध कर सकता है अथवा मनुष्य की यह एक निबलता ही है, यह कहना हमारा कार्य नहीं है क्योंकि यह हमारे क्षेत्र के बाह्य विषय है। अधिक से अधिक हम जैन धर्म के इस विषय में कथन का ही यहां विचार कर सकते हैं।

1. हेमचन्द्र अभिधानचिंतामणि, अध्या. 1, श्लोक 24-25।

2. इस अध्याय के अन्तिम अंश का समझना सरल हो जाए इसलिए यहां इस अवसर्पिणी काल के 24 तीर्थंकरों के नाम दे दिए जाते हैं:— 1. ऋषभ, 2. अजित, 3. संभव, 4. अभिनंदन, 5. मुमति, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपाश्वर्, 8. चन्द्रप्रभ, 9. पुष्पदंत, अथवा सुविघनाथ, 10. शीतल 11. श्रेयांस, 12. वासुपुण्य, 13. विमल, 14. अनंत, 15. धर्म, 16. शांति, 17. कुन्धु, 18. अर 19. मल्लि, 20. मुनिसुव्रत, 21. नमि, 22. नेमि या अरिष्ठनेमि, 23. पाश्वर् या पाश्वर्नाथ, और 24. वर्धमान जिसको महावीर आदि भी कहा जाता है। प्रत्येक तीर्थंकर का परिचायक चिह्न याने लांछन भिन्न-भिन्न होता है और यह लांछन उनकी मूर्ति पर सदा ही पाया जाता है, जैसे पाश्वर्नाथ का लांछन फणीसर्प है और वर्धमान का सिंह। देखो एतस्य मवसर्पिण्यामभो जितसंभवो...आदि—हेमचन्द्र, वही, श्लो. 26, 20, 28।

जैन धर्म का उद्भव और अर्वाचीन खोजों की अपेक्षा अधिक प्राचीन होने के प्रमाण.—जैनों की मान्यता-नुसार अनेक तीर्थंकरों ने जगत के प्रत्येक युग में बारम्बार जैन धर्म का उद्योत किया था ।¹ वर्तमान युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम दो पार्श्वनाथ एवम् महावीर थे । इन तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र जैनसिद्धान्त-पुस्तकान्तर्गत एवम् अनेक महान जैनाचार्यों द्वारा लिखित चरित विघेयों में सम्पूर्ण रूप से प्राप्त है ।² इन तीर्थंकरों में ऋषभदेव का शरीर 500 धनुष्य का और आयु 84,00,000 वर्ष पूर्व की कही गई है जब कि अन्तिम दो याने पार्श्वनाथ और महावीर का आयु अनुक्रम से 100 और 72 वर्ष ही था और शरीर भी आजकल के से मनुष्यों का ही लम्बा था ।³ इन तीर्थंकरों की आयु और देह का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि ऋषभदेव से आयुष्य और देहमान बराबर उत्तरोत्तर घटते ही आ रहे थे । पार्श्व के पूर्वज बार्हस्पत्य तीर्थंकर नेमिनाथ का आयुष्य 1000 वर्ष का ही कहा जाता है ।⁴ अन्तिम दो तीर्थंकरों के दिए गए बुद्धिमय आयुष्य और देह ने कितने ही विद्वानों को इस सम्भव परिणाम पर पहुँचने की प्रेरणा दी कि ये ही तीर्थंकर ऐतिहासिक पुरुष मानी जाना चाहिए ।⁵

पार्श्व और महावीर दोनों ऐतिहासिक हैं:—पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में लेसन कहता है कि इस जिन का आयु उसके पुरोगामियों की मांति कोई भी मर्यादा उल्लंघन नहीं करता है, इसीलिए उसके ऐतिहासिक पुरुष होने की बात को इससे विशेष समर्थन मिलता है ।⁶

यह सत्य है कि हम ऐसे तर्कों के आधार पर किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक अनुमान नहीं बांध सकते हैं, परन्तु भारतीय इतिहास के जिस समय का हम यहाँ विचार कर रहे हैं उसकी सामग्री इतनी अपूर्ण है कि हम उसके आधार पर प्रमाणित निर्णय कुछ नहीं कर सकते हैं । श्री दत्त कहते हैं कि महान् अलेक्जेंडर के भारत आगमन के पहले के भारतीय इतिहास की निश्चित तिथियों का निर्णय करना लगभग असंभव है ।⁷ यह निःसन्देह एक रहस्य की ही बात है कि जहाँ महावीर के उद्भव के बाद की प्रत्येक वस्तु का व्यवस्थित लेखा रखा जा सका, वहाँ उनके पूर्व की किसी भी बात का प्रामाणिक लेखा हमें नहीं मिलता है । फिर भी जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिक तिथि निश्चित करना एक दम ही असंभव नहीं है । श्री महावीर और बुद्ध के समय का समकालिक साहित्य जैन-इतिहास के इस महत्व के प्रश्न पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है, यही नहीं पर हम यह भी देखते हैं कि जैन सूत्रों में प्रस्तुत किए तत्सम्बन्धी प्रमाण भी कुछ कम महत्व के नहीं हैं ।

-
1. हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ अनिधानचिन्तामणि में बीती उत्सर्पिणी के 24 तीर्थंकरों के और आगामी के 24 तीर्थंकरों के नाम दिए हैं । सत्सर्पिण्याविद् आदि और भाविण्यां तु आदि । श्लो. 50-56 इस सूची की समाप्ति इस प्रकार की है—एवं सर्वावसर्पिण्युत्सर्पिणीषु जिनोत्तमा.....श्लो. 56 ।
 2. सूत्रों में से भद्रबाहु का कल्पसूत्र अथवा मुधर्मा का आवश्यक सूत्र आदि देखो; पृथक चरित्रों की सूची में इनका नाम निर्देश किया जा सकता है—हमविजयगणि का पार्श्वनाथचरित्रम्; श्री मुनिभद्रसुरि का शांतिनाथ महाकाव्यम्; विनयचन्द्रसूरि का मल्लिनाथचरित्रम्; हरिभद्रसुरि का मल्लिनाथचरित्रम्; नेमिचन्द्रसुरि का महावीर स्वामीचरित्रम् आदि ।
 3. कल्पसूत्र, सूत्र 227, 168, 147 । जैन जन्मानुशा के अनुसार एतद् पूर्व 7,05,60,00,00,00,000 वर्ष का होता है । देखो संग्रहणीसूत्र, गाथा 262 ।
 4. कल्पसूत्र, सूत्र 182 ।
 5. स्टीवेन्सन । पादरी । कल्पसूत्र, प्रस्ता. पृ. 12 ।
 6. लासेनस इ. एण्टी पुस्त. 2 पृ. 261 ।
 7. दत्त, वही, पृ. 11 ।

पाश्र्व की ऐतिहासिकता के प्रमाण—खोज की दृष्टि से श्री पाश्र्वनाथ का जब हन विचार करते हैं तो ऐसा देखते हैं कि शिलालेख या स्मारक रूप से प्रमाणिक कोई भी आधार हमें ऐसा नहीं मिलता है कि जिसका सीधा सम्बन्ध उनसे हो। परन्तु कितने ही शिलालेख और स्मारक ऐसे हैं कि जिनसे उनके सम्बन्ध में परीक्ष्य अनुमान निःसंकोच किया जा सकता है।

मथुरा के जैन शिलालेखों की परीक्षा करने पर हम देखते हैं कि उनमें गृहस्थ-भक्तों द्वारा ऋषभदेव को अर्घ्य अर्पित किए जाने के उल्लेख हैं।¹ इसके अतिरिक्त बहुत से शिलालेखों में न केवल एक अर्हत ही का अर्पित अनेक अर्हतों का उल्लेख है।² “उन लेखों में राजों के नाम हो या नहीं हों, फिर भी वे सब इण्डोसिदियन काल के हैं ऐसा स्पष्ट प्रकट होता है, और यदि कनिष्क एवं उसके वंशजों का काल शकयुग ही माना जाता हो तो वे सब लेख पहली और दूसरी सदी के मालूम देते हैं।”³ यदि महावीर को जैनधर्म का संस्थापक माना जाए तो जिनको अर्धार्पण करने का उल्लेख ऊपर किया गया है उन लोगों के और महावीर के बीच में समय का बहुत बड़ा अन्तर नहीं होना चाहिए, ऐसा अवश्य ही कहा जा सकता है क्योंकि वह अन्तर निरा छह सदी का ही है और यह अन्तर ऐसा नहीं है कि जिसमें जैनधर्म की स्थापना विषयक प्रमुख बातों से ये लोग बहुत घनिष्ठ परिचय नहीं रख पाए हों। फिर यह भी दृष्टव्य है कि यह अर्घ्य एक से अधिक अर्हतों को और प्रमुख रूप से श्री ऋषभ को दिया गया है। यह बात स्पष्ट प्रमाणित करती है कि जैनधर्म का प्रारम्भ अति प्राचीन है और तब से अब तक में इसके अनेक तीर्थंकर भी संभवतः हो चुके हैं।

फिर हमें जैनों के एक महान् तीर्थ⁴ का अक्षयकीर्तिस्तम्भ स्वरूप प्रमाण भी प्राप्त है और यह महान् तीर्थ है हजारीबाग जिले का समेतशिखर का पहाड़ जिसको पाश्र्वनाथ या पारसनाथ पहाड़ी आज कहा जाता है। कल्पसूत्र में जो कि श्री भद्रबाहु की रचना मानी जा चुकी है और इसलिए वह ई. स. पूर्व 300 वर्ष का है,⁵ एवं अन्य जैन साहित्य-ग्रन्थों में पाश्र्वनाथ के पूर्व वहाँ पहुँच जाने और उसी पर निर्वाण प्राप्त करने का प्रमाण भी हमें प्राप्त है।⁶

समकालिक साहित्य को जब हम देखते हैं तो उसमें अनेक ऐसे उल्लेख और घटनाएँ मिल जाती हैं कि जो पाश्र्वनाथ के ऐतिहासिक जीवन के विषय में जरा सी भी शंका रहने नहीं देती है। यहाँ उन सभी बातों की सत्यता की परीक्षा करने की यद्यपि हमें आवश्यकता नहीं है फिर भी उनमें से थोड़ी सी प्रमुख उपयोगी और अत्यन्त विश्वस्त बातों को यहाँ गिना जाता है।

1. प्रीयताम्भगवानुषमश्रीः (भगवान् श्री ऋषभदेव, प्रसन्न हो)—एपी. इण्डि., पुस्तक 1, पृ. 386; लेख सं. 8

2. नमो अरहंततानं (अर्हतों को नमस्कार), वही, पृ. 383, लेख सं. 3।

3. वही. पृ. 371। 4. तीर्थ, जैन परिभाषा के अनुसार, पवित्र यात्रा स्थान को कहते हैं। 5. समेतशिखर, जिसे मेजर रेनाल के नक्शे में पारसनाथ कहा गया है, बंगाल और बिहार के बीच की पहाड़ियों में है। जैनों की दृष्टि में यह महान् पावन और पूजनीय है। भारतवर्ष के दूर-दूर के प्रदेशों से यानी लोग यहाँ प्रति वर्ष यात्रा के लिए आते हैं ऐसा कहा जाता है। कालबुक्क, वही, पुस्त. 2, पृ. 213। इस पहाड़ी पर पाश्र्व का सुप्रसिद्ध मन्दिर है। 6. शार्पेटियर, उत्तराध्ययनसत्र, प्रस्तावना, पृ. 13-14। 7. देखो कल्पसूत्र, सूत्र 168; निर्वाणमासत्रं समेतादौ ययो प्रमुः। हेमचन्द्र, त्रिषष्टि—शलाका, पर्व 9, श्लो. 316, पृ. 219।

बौद्ध साहित्य में जैनों का प्रथम उल्लेख—जैन शास्त्रों में जैन साधू और साध्वी को 'निगंठ और निगंठि' संस्कृत में 'निग्रन्थि और निग्रन्थिणी' के नाम से जो कहा गया है इसका अर्थ 'बिना गांठ या आसक्ति' के होता है।¹ बौद्धशास्त्रों में भी इनका ऐसा ही उल्लेख है।² बराहमिहिर³ और हेमचन्द्र⁴ भी उनको 'निग्रन्थि' ही कहते हैं। परन्तु अन्य लेखक उनके 'विवसन'⁵, 'मुक्ताबर' जैसे एकार्थी शब्द का प्रयोग करते हैं। जैनों के धार्मिक पुरुषों के लिए 'निग्रन्थि' नाम अशोक शिलालेखों में 'निगंठ' रूप में प्रयुक्त हुआ है।⁶ बौद्धों के पिटकों में बुद्ध और उसके अनुयायियों के विरोधी के रूप में 'निगंठ' शब्द का बारम्बार उपयोग किया गया है। बौद्धशास्त्रों में जहाँ उस शब्द का उल्लेख है वहाँ मुख्य रूप में उनके मत का खण्डन करने और स्पष्ट रूप से भगवान् बुद्ध की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ही उसका उपयोग हुआ है।⁷ इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि जैन साधू 'निगंठ' कहलाते थे और दूसरी यह कि बौद्ध साहित्य की दृष्टि से जैन और बौद्ध परस्पर महान् प्रतिस्पर्धी थे।⁸

भगवान् महावीर का विचार करते हुए हम यह देखते हैं कि उनके पिता सिद्धार्थ काश्यप गोत्री थे कि जो ज्ञातृ श्रद्धियों का ही एक गोत्र माना जाता था।⁹ इसलिए भगवान् महावीर अपनी जीवनावस्था में ज्ञातृपुत्र के नाम से भी पहचाने जाते थे।¹⁰ पाली भाषा में ज्ञाती का समानार्थी शब्द नाय है और इसीलिए ज्ञातृपुत्र और नायपुत्र का अर्थ एक ही है और कल्पसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में महावीर के लिए प्रयुक्त "नायपुत्र" विरुद्ध से इसका अधिक मेल बैठ जाता है।¹¹ इस प्रकार निगंठनात निगंठनातपुत्र, या केवल नातपुत्र नामपद महावीर के अतिरिक्त और किसी का बोध नहीं कराता है। डॉ. व्हूलर कहता है कि जैनों के मुख्य स्थापक का सच्चा नाम खोज निकालने का यश डॉ. याकोबी और मुन्न को है। ज्ञातृपुत्र शब्द जैन और उत्तरीय बौद्धशास्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। पाली में यह शब्द नातपुत्र और जैन प्रकृत में नायपुत्र है। इत अथवा ज्ञाति उस राजपूत जाति का नाम ही मालूम देता है कि जिसमें से निग्रन्थ उद्भव हुए थे।¹²

1. देखो उत्तराध्ययन, अध्या. 12, 16; 16, 2; आचारांग स्कंध 2, अध्या 3, 2 और कल्पसूत्र सू. (130 और)
2. देखो दीघनिकाय, 1. प. 50; बुद्धीगम इन ट्रांसलेशंस (हावर्ड प्रो. सिरोज), 3, पृ. 224, 342-43 469, आदि; महापरिनिव्वाणसुत्त, अध्या. 5, 260 आदि। उदाहरणार्थ देखो ह्लिस डेविड्स. से. बु. ई. पुस्त. 3, पृ. 166। 3. शंकर्योपाध्यायार्हंतनिग्रन्थनिमित्त...आदि। —बराहमिहिर, बृहत्संहिता, अध्यायन 51, श्लो. 21; बराहमिहिर (छठी सदी) की बृहत्संहिता, 60, 19 (सम्पा, कर्त), नग्न जैन यतिवों का धार्मिक वेप बताया गया है। वार्थ, वही, पृ. 145। 4. निग्रन्थो भिक्षु...आदि। —हेमचन्द्र अभिधानचिंतामणि, श्लो. 76। 5. विवसनसमय...आदि। —पणशीकर, ब्रह्मसूत्र-माध्य, पृ. 252 (2य संस्करण)। 6. व्हूलर, एपी, इण्डि., पुस्त. 2, पृ. 272। 7. देखो अंगुत्तरनिकाय, 3, 74; महावंग, 6, 31 आदि। 8. अबौद्ध मान्यताओं की धर्म सम्प्रदायों में ही निग्रन्थ या जैन हैं जिनकी बुद्धप्रोष विपक्षी रूप में ब्राह्मणों से भी अधिक कटुशब्दों में निंदा करता है। —नरीमान, संस्कृत बुद्धीजम, 2 य संस्करण पृ. 199; देखो मित्रा, दी संस्कृत बुद्धीस्टिक लिटरेचर हन नेपाल, पृ. 11 मी। 9. नायकुलचंदे, उदाहरण के लिए देखो कल्पसूत्र. सूत्र 110; देखो, वही, सूत्र 20 आदि मी: आचारांगसूत्र, स्कंध 2 अध्या. 15, सूत्र 4। 10. वही, स्कंध 1, अध्या. 7 सूत्र 12, और अध्या. 8 सूत्र 9। 11. याकोबी, कल्पसूत्र. प्रस्तावना पृ. 6। 12. व्हूलर, इण्डि. एण्टी., पु. 7 पृ. 143 टि. 5। इस सुभाष के लिए हम प्रो. याकोबी के आभारी हैं कि गुरु जिसको बौद्धधर्म ग्रन्थों में इस उपाधि से परिचय दिया गया है. महावीर ही है और यह सुभाष निःसन्देह यथार्थ है। —कै. हि. इं., भाग 1, पृ. 160।

फिर बौद्धशास्त्रों को जब देखा जाता है तो सामंजस्यसुत्त नाम के प्राचीन सिंहली शास्त्र में निगंठनातपुत्त की मृत्यु पावा में होने का उल्लेख हमें मिल जाता है।¹ निगंठों के सिद्धांतों का बौद्धसूत्रों में विशेष रूप से वर्गन मिलने से जैनों और निगंठों की अभेद सिद्ध हो जाती है। निगंठनातपुत्त सर्व वस्तु जानता है, और देखता है, संपूर्ण ज्ञान और दर्शन का वह दावा करता है, तपश्चर्या से कर्मों का नाश और क्रिया से नए कर्मों का अवरोध वह सिखाता है, जब कर्म समाप्त हो जाते हैं तब सब कुछ समाप्त हो जाता है।² ऐसे ऐसे अनेक उल्लेख महावीर और उनके सिद्धांत के विषय में बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थ में मिलते हैं। परन्तु हम उन सब में से एक का ही अधिक विचार यहां करेंगे क्योंकि वह पार्श्वनाथ तक के इतिहास की खोज के लिए हमें अत्यन्त उपयोगी होने वाला है।

पार्श्व और महावीर के धर्म का सम्बन्ध—सामंजस्यसुत्त में नातपुत्त के सिद्धांतों का उल्लेख इस प्रकार है : चातुयाम-सवर-संवृतो। इसको डा. याकोबी जैन पारिभाषिक शब्द 'चातुर्याम' सम्बन्धी उल्लेख मानते हैं। 'यह विद्वान् कहता है कि' महावीर के पुरोगामी पार्श्वनाथ के सिद्धांत के लिए इसी शब्द का उपयोग किया गया है ताकि महावीर के सुधारों से सिद्धांत 'पंचयाम' धर्म से यह पृथक हो जाए।³

डा. याकोबी का यह मन्तव्य समझने के लिए हमें जानना आवश्यक है कि पार्श्वनाथ के मूल धर्म में उनके अनुयायियों के लिए चार महाव्रत नियत थे और वे इस प्रकार थे—ग्रहिसा, सत्य, अस्तेय (अवीर्य), और अपरिग्रह (अनावश्यक सर्व वस्तुओं त्याग) सुधारक महावीर ने देखा कि जिस समाज में वे विचरते थे उसमें पार्श्वनाथ के अपरिग्रह व्रत से एक दम पृथक 'ब्रह्मचर्य' याने शीलव्रत को स्वतन्त्र व्रत रूप बढ़ाना परम आवश्यक है।⁴

जैनधर्म में महावीर के लिए इस सुधार के सम्बन्ध में डॉ. याकोबी कहता है कि पार्श्वनाथ और महावीर के अन्तराल समय में साधू संस्था में चारित्र्य की शिथिलता आ गई हो ऐसी शास्त्र के तर्कों से पूर्व सूचना मिलती है और ऐसा तभी संभव है जब कि हम अन्तिम दो तीर्थंकरों के बीच में पर्याप्त समयान्तर मान लेते हैं, और पार्श्वनाथ के 250 वर्ष बाद महावीर हुए यह सामान्य दन्तकथा इस भाव्यता से एक दम मेल खा जाती है।⁵

इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों से ही हमें ऐसे ठोस प्रमाण प्राप्त होते हैं कि जो पार्श्वनाथ के जीवन की ऐतिहासिकता के निर्णय करने में हमारी सहायता करते हैं। फिर बौद्धशास्त्रों में नातपुत्त और उनके तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में वे सब उल्लेख प्राप्त होते देखकर हमें बड़ा ही विचित्र सा लगता है कि प्रतिस्पर्धी धर्म के लिए इतने अधिक खण्डन और उल्लेख होने पर भी जैनों ने अपने शास्त्रों में प्रतिपक्षियों की उपेक्षा की है। इससे यही समझा जाना चाहिए कि जहां बौद्ध निग्रन्थों की सम्प्रदाय को महत्व की मानते थे वहां निग्रन्थ बंधुधर्म बौद्ध को अपने ग्रन्थों में उल्लेख योग्य महत्व का नहीं मानते थे। दोनों धर्मों के साहित्य की इन विचित्रताओं से बुद्ध और महावीर के बहुत वर्षों पूर्व से ही जैनधर्म अस्तित्व में था यह स्वतः सिद्ध होता है।

डॉ. याकोबी कहता है कि निग्रन्थों का उल्लेख बौद्ध ने अनेक बार, यहां तक कि पिटकों के प्राचीनतम भाग में भी, किया है। परन्तु बौद्धों के विषय में स्पष्ट उल्लेख अभी तक तो प्राचीनतम जैन सूत्रों में कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया है, हालांकि उनमें जामाली, गौशाला और अन्य पाखण्डी धर्माचार्यों के विषय में लम्बे-लम्बे कथानक

1. जेड. डी. एम. जी.. संख्या 3, पृ. 749। देखो व्हूलर, दी इन्डियन सर्वेंट आफ दी जैनाज, पृ. 34।
2. अंगुत्तरनिकाय, 3, 74। देखो से. वु. ई., पुस्त. 45, प्रस्ता. पृ. 15। 3. याकोबी, इण्डि एण्टी. पुस्त. 9 पृ. 160। 4. व्रतानि...पंचव्रतानि...आदि। —देखो कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ. 3।
5. याकोबी. से. वु. ई., पुस्त 45 पृ. 122-123।

मिलते हैं। चूंकि बाद के सब समय में दोनों धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध जैसा हो गया था उससे यह स्थिति एकदम विपरीत है और चूंकि दोनों धर्मों के समकालीन प्रारम्भ की हम लोगों की कल्पना के भी यह प्रतिकूल है इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने को बाध्य होते हैं कि निरग्रन्थ धर्म बुद्ध के समय में नया स्थापित हुआ था। पिंटकों का मत भी यही मालूम होता है क्योंकि उनमें विरोधी सूचन कहीं भी नहीं मिलता है।¹

बौद्धशास्त्रों के उल्लेखों के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा। अब हम यह विचार करेंगे कि हिन्दूशास्त्रों और हिन्दू दन्तकथाओं में जैनधर्म विषयक क्या कहा जाता है। यद्यपि वे महावीर और उनके समय के कुछ बाद के मालूम होते हैं तो भी बौद्धशास्त्रों की अपेक्षा वे एकदम आगे ही जाते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि ऋषभदेव के इस युग के प्रथम जिन या तीर्थंकर होने की जैन मान्यता को ये प्रायः समर्थन ही करते हैं।

हिन्दू साहित्य में जैन धर्म का उल्लेख—विष्णु पुराण से हम जानते हैं कि ब्राह्मण भी किसी एक ऋषभ को मानते थे और उसका जीवन बहुतांश में जिन ऋषभदेव से मिलता हुआ है।² भागवत पुराण में जो किसी ऋषभ का त्रिमृत विवरण मिलता है उस पर से भी यही स्पष्ट होता है कि वह ऋषभ सिवा जैनों के पहले तीर्थंकर के हमारा कोई भी नहीं हो सकता है। विस्सन के विष्णु पुराण में भागवत पुराण पर दिए गए टिप्पण में लिखा है कि इसमें ऋषभदेव की तपस्या का विस्तार से वर्णन किया गया है इतना ही नहीं अपितु अन्य किसी भी पुराण में नहीं मिलने वाली बातें उसमें विशिष्ट रूप से वर्णित हैं। इसमें ऋषभदेव के भ्रमण के दृश्य सबसे रोचक हैं, जैसे कि कोंक, वंकाट, कटुक और दक्षिण कर्णाटक अथवा द्वीपकल्प के पश्चिम भाग का रोचक वर्णन है और यह भी कि इन देशों के लोगों द्वारा जैनधर्म स्वीकार कर लिया गया था।³

शेष तीर्थंकरों में से पांचवें सुमतिनाथ, भरत के पुत्र सुमति ही स्पष्टतया दिखते हैं कि जिसके विषय में भागवत में कहा है कि 'वह कितने ही नास्तिकों द्वारा देव रूप में पूजित होगा।' इसके अतिरिक्त 'बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि या नेमिनाथ, उपमेन की पुत्री राजोमति के कारण, श्रीकृष्ण की कथा के साथ सम्बन्धित है।'⁴ विष्णु-पुराण और भागवतपुराण के इन सब उल्लेखों से डा. याकोबी इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि 'इस दन्तकथा में कुछ ऐतिहासिकता हो जो ऋषभदेव को जैनों का पहला तीर्थंकर बना देती है।'⁵ फिर भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि कितने ही विद्वानों की दृष्टि से ये पुराण पीछे के समय के हैं और इसलिए इनके प्रमाणों पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता है।⁶ हालांकि स्मिथ जैसे विद्वान पुराणों के इन उल्लेखों को प्रमाण रहित मानना पसन्द नहीं करते हैं।⁷

1. याकोबी, इण्डि. एण्टी.. पुस्त. 9, पृ. 161। 2. नामिराजा को महदेवा रानी से महामना ऋषभदेव पुत्र हुए। इनके सौ पुत्र थे जिनमें सब से ज्येष्ठ पुत्र भरत था। न्याय और बुद्धि से राज्य करने और अनेक यज्ञ करने के पश्चात् इस ने पृथ्वी का राज्य वीर भरत को दे दिया था।...आदि। देखो विस्सन, विष्णुपुराण, पृ. 163। 3. वही, पृ. 164 टिप्पण।

4. याकोबी, वही, पृ. 163। देखो यह भी कि नेमिनाथ, कृष्ण के एक काका और जैनों के बाईसवें तीर्थंकर थे, आदि। —मज्जिमदार, वही, पृ. 551। 5. याकोबी, वही, पृ. 163।

6. उदाहरण के लिए देखो विस्सन, वही, भाग 1, पृ. 328-329।

7. आधुनिक योरोपीय लेखक पुराणों की राजवंशावलियों की अधिकारिता को अत्यधिक अविश्वास मानने की ओर झुके हुए हैं, परन्तु सूक्ष्माध्ययन से उनमें बहुत कुछ विश्वस्त और मूल्यवान ऐतिहासिक परम्परागत तथ्य मालूम होता है। देखो स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, 4 था संस्क., पृ. 12।

तीर्थंकरों की बात भी हम छोड़ दें तो भी हिन्दूधर्म के एक प्राचीनतम सूत्र में जैन तत्वज्ञान के सम्बन्ध में उल्लेख हमें मिल जाते हैं। ब्रह्मसूत्र जिसे तैलंग¹ और अन्य पण्डितों ने ईसा पूर्व चौथी सदी की प्राचीन रचना माना है, में स्याद्वाद और आत्म सम्बन्धी जैनधर्म की मान्यता का खण्डन किया गया है।² इसके अतिरिक्त महाभारत, मनुस्मृति, शिवसहस्र, तैत्तिरीय-आरण्यक, यजुर्वेदसंहिता और अन्य हिन्दूशास्त्रों में जैनधर्म सम्बन्धी अनेक उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं। परन्तु यहां हमें उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।³

अन्त में पार्श्वनाथ और उनके पुरोगामियों की ऐतिहासिकता के विषय में प्राचीन और पवित्र जैनसूत्र एवम् आधुनिक सुप्रसिद्ध विद्वान क्या कहते हैं उसका यहां विचार करें। जैन साहित्य के किसी भी विभाग का सीधा विचार करने के पूर्व हम यह देख लें कि उस समय की रूपरेखा पर से इस विषय के सम्बन्ध में क्या बातें मिलती हैं। डॉ. जार्ज शार्पेटियर कहता है कि तथ्यों के सामान्य विचार की दृष्टि से यह वक्तव्य कि शास्त्र का प्रमुख भाग महावीर और उनके निकटस्थ अनुयायियों द्वारा उत्पन्न हुए थे, संभवतः विश्वस्त माना जा सकता है।⁴ परन्तु जैनी तो इससे भी एक कदम आगे जाते हैं; उनके अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से चले आते पूर्व ही प्राचीन में प्राचीन पवित्र जैन धर्मग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी अधिक विश्वस्त परम्परा भी एक है जिस पर डॉ. याकोबी उसको आंशिक सत्य मानते हुए ठीक ही भार देते हैं। यह परम्परा इस प्रकार है कि पूर्वों का उपदेश तो स्वयम् महावीर ने दिया था और ग्यारह अंगों की रचना बाद में उनके गजधरों ने की थी।⁵

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर और उनके उत्तराधिकारी गजधर आगम साहित्य के कर्ता हैं। जब यह कहा जाता है कि महावीर कर्ता थे तो उसका यह अर्थ नहीं है कि ये शास्त्र उनके ही लिखे हुए हैं, अपितु यह कि जो कुछ लिखा गया उसका उपदेश उनसे ही दिया था। “क्योंकि भारतवर्ष में कर्तव्य मुख्य रूप से वस्तु पर से माना जाता है। जब तक कि भाव वही हो तो शब्द किसके हैं यह बात अप्रासंगिक मानी जाती है।”⁶ फिर जैन साहित्य की कुछ विशिष्टताओं से ही हम देख सकते हैं कि धर्म की भांति, साहित्य में वर्धमान और उनके समय तक का भी उसमें अनुसंधान मिलता है। परन्तु यहां हमें उसकी एक भी लाक्षणिकता का निर्देश नहीं करना है क्योंकि “जैन साहित्य” शीर्षक के अध्याय में इसका सम्पूर्ण विचार किया जाने वाला है।

जब कि पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में कर्मवेश अंश में जैनशास्त्रों में हमें सर्वमान्य प्रमाण मिलते हैं तो उनकी सप्रमाणता में शंका करने का कोई भी कारण नहीं है। उदाहरणार्थ भद्रबाहु के कल्पसूत्र को ही लीजिए। उसमें जैनों के सब तीर्थंकरों का वर्णन है। श्री पार्श्वनाथ महावीर के धर्मों के उसमें दिए उल्लेखों के विषय में बहुत कुछ कहा ही जा चुका है। दूसरा शास्त्र भगवतीसूत्र का अत्यन्त उपयोगी भाग वह है कि जहाँ पार्श्वनाथ के अनुयायी कालासवेसियपुत्र और महावीर के किसी शिष्य में हुए संवाद-विवाद का वर्णन दिया गया है। इस वर्णन

1. से. बु. ई., पुस्तक 8, पृ. 32। ‘न्याय-दर्शन और ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) की रचना ई. सन् 200 और 400 के बीच में कभी भी हुई थी।’ याकोबी। देखो अमरीका ओरियन्टल सोसायटी पत्रिका, संख्या 31, पृ. 29।
2. उदाहरण के लिए देखो, पंशीकर, वही, पृ. 252।
3. हीरालाल हंसराज एंशेंट हिस्ट्री आफ दी बैन रिलीजन, भाग, पृ. 85-89।
4. शार्पेटियर, वही, पृ. 12। 5. याकोबी, से. बु. ई., पुस्तक 22, प्रस्ता. पृ. 45।
6. याकोबी, कल्पसूत्र, पृ. 15।

की समाप्ति उक्त कालासवेसियपुत्र के 'अनिवार्य प्रतिक्रमण सहित चार व्रतों के स्थान में पाँच व्रत ग्रहण कर'¹ साथ रहने की आज्ञा मांगने में हुई है। शीलांक की आचारांग टीका में भी श्री पार्श्वनाथ के अनुयायियों के चतुर्थांश और श्री महावीर के तीर्थ के पंचयाम धर्म में इतना ही अन्तर बताया गया है।²

उत्तराध्ययनसूत्र में भी इसी बात की पुनरावृत्ति की गई है। दास गुप्ता के शब्दों में 'उत्तराध्ययन की यह कथा कि पार्श्वनाथ का एक शिष्य महावीर के एक शिष्य को मिला और दोनों ने महावीर प्रवर्तित धर्म और पार्श्वनाथ के प्राचीन धर्म का समन्वय किया, यह सूचित करती है कि पार्श्वनाथ सम्भवतः एक ऐतिहासिक पुरुष थे।'³

जैन धर्म की प्राचीनता और आधुनिक विद्वानः—

आधुनिक विद्वानों में भी, यदि हम पता लगाएं तो, पार्श्वनाथ के जीवन की ऐतिहासिकता के विषय में सर्वमान्य एकता है। संस्कृत के पुराने पाश्चात्य विद्वानों में से कोलबुक,⁴ स्टीवन्सन⁵ एडवर्ड टामस⁶ तो निश्चयपूर्वक मानते ही थे कि जैनधर्म नातपुत्र और शाक्यपुत्र से भी प्राचीन है। कोलबुक कहता है कि 'पार्श्वनाथ जैनधर्म के स्थापक थे। ऐसा मैं मानता हूँ और महावीर एवं उनके शिष्य सुधर्मा ने उस जैनधर्म का पुनरुद्धार कर उसे सुदृढ़ता से सुव्यवस्थित किया था। महावीर और उनके पुरोगामी पार्श्वनाथ दोनों को सुधर्मा या उसके अनुयायी तीर्थंकर के रूप में पूजते थे और आज के जैन भी उसी प्रकार उन्हें पूजते हैं।'⁷

दूसरी ओर डा. व्हूलर⁸ और डा. याकोबी⁹ जैसे कितने ही जर्मन विद्वानों ने एच. एच. विल्सन¹⁰, लेसन¹¹ आदि द्वारा प्रस्तुत किए गए तर्कों का खण्डन किया है। डा. याकोबी कहता है कि 'महावीर द्वारा सुधार किए पूर्वके जैनधर्म की कितनी ही बातें इतनी धिक् स्पष्ट हैं कि वे विश्वस्त आचारों से ली गई हैं ऐसा माने सिवाय चल ही नहीं सकता है। इसलिए हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना ही चाहिए कि महावीर के पूर्व नियन्त्रि अस्तित्व में थे। इस निष्कर्ष को आगे आनुषंगिक प्रमाणों से और भी स्पष्ट करूंगा।'¹²

अभी के समय का विचार करें तो डा. वेल्वलकर¹³, डा. दासगुप्ता¹⁴ और डॉ. राधाकृष्णन¹⁵ जो कि भारतीय तत्वज्ञान के तीन महालेखक हैं और डा. शार्पेटियर¹⁶, गेरीनोट¹⁷, मजुमदार¹⁸, फ्रेजर¹⁹,

1. तएणसे कालासवेसियपुत्ते अणगारे येरे भगवंतो वंदइ नमंसह 2 (त्ता) एवं वदासी-इच्छामि णं मंते ।तुम्मं...। देखो भगवतीसूत्र, सूत्र 76 शतक 1 । देखो व्येवर, फ्रेग्मेंट डेर भगवती, पृ. 185 ।
2. स एव चतुर्थांशभेदाच्चतुर्था, आदि । देखो आचारांगसूत्र श्रुत स्कंध 2, गाथा 12-13, पृ. 320 ।
3. दासगुप्ता, हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी, भाग 1, पृ. 169 । देखो तत्रो केसि बुवन्तं तु गौयमो इणमव्ववी...। ऋत्तप्राध्ययनसूत्र, अध्ययन 23, गाथा 25 ।
4. कोलबुक, वही, पुस्त 2, पृ. 317 । 5. स्टीवन्सन (पादरी), वही, और वही पृष्ठ ।
6. टामस (एडवर्ड), वही, पृ. 6 । 7. कोलबुक वही, और वही पृष्ठ ।
8. व्हूलर, दी इंडियन स्वेकट आफ दी जेनाज, पृ. 32 । 9. याकोबी, से. बु. ई., पुस्त. 45, प्रस्ता. पृ. 2 ।
10. विल्सन, वही, भाग 1, पृ. 334 । 11. लेसन, इण्डि, एण्टी, पुस्त 2, पृ. 197 ।
12. याकोबी, इण्डि. एण्टी., पुस्त 9, पृ. 160 । 13. वेल्वलकर, दी ब्रह्मसूत्राज, पृ. 106 ।
14. दासगुप्ता, वही, पृ. 173 । 15. राधाकृष्णन, वही, पृ. 281 ।
16. शार्पेटियर, कै. हि. इ., भाग 1, पृ. 153 । 17. गेरीनोट, बिब्लियोग्राफी जेना, प्रस्ता पृ. 8 ।
18. मजुमदार वही, पृ. 292 आदि । 19. फ्रेजर, लिट्टेरी हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ. 128 ।

इलियट¹, पुसिन², आदि जो इतिहासवेत्ता और महान् पण्डित हैं, सब एक ही मत रखते हैं । डा. वेल्वलकर लिखता है कि सांख्य, वेदान्त और बौद्ध जैसे अधिक विकसित आध्यात्मिक दर्शनों के उद्भव में समकालिक माने जाने वाले जैनधर्म को नीतिशास्त्र और आध्यात्म-विद्या की दृष्टि से योग्य न्याय नहीं दिया गया है बात यह है कि महावीर ने अपने दर्शन का अस्तित्व प्राचीन पुरुषों से वारसे में प्राप्त किया था और उसको उनसे उसी परिवर्तित रूप में बाद की प्रजा को दे देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया था ।³

उत्तराध्ययनसूत्र की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में डॉ. शार्पेटियर लिखता है कि 'हमें दोनों ही बातें स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म महावीर से अवश्य ही प्राचीन है और उनके प्रसिद्ध पुरोगामी पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष हो गए हैं और इसलिए मूल सिद्धांत की प्रमुख बातें महावीर के बहुत समय पूर्व से ही संहिताबद्ध हो गई होगी ।⁴ अन्तिम परन्तु अति महत्व का उल्लेख डॉ. गेरीनोट का है जो इस प्रकार है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति हो गए हैं इसमें शंका ही नहीं है । जैन मान्यतानुसार वे 100 वर्ष जीवित रहे और महावीर से 250 वर्ष पूर्व उनका निर्वाण हुआ । इससे उनका समय याने कार्यकाल ई. पू. आठवीं सदी का कहा जा सकता है । महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के धर्म के अनुयायी थे ।⁵

महावीर के पहले के तीर्थंकरों की विद्यमानता के सम्बन्ध में इतने, अगिणत प्रमाणों के ऐतिहासिक अमसंकुलता भय से रहित होकर ऐसा कह सकते हैं कि आधुनिक खोज पार्श्वनाथ के समय तक तो ठीक-ठीक पहुंच गई है । अन्य तीर्थंकरों के लिए डॉ. मजुमदार के अमप्राय का जो जैन कथानको की अवगणना की जोखम उठाकर भी कहते हैं कि जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव बिहूर में वैराजवंश (ई. पू. 29 वीं सदी) के राजा थे ।⁶ हम समर्थन नहीं कर सकते हैं कि हम डॉ. याकोबी के शब्दों में अन्त में यह कहेंगे कि 'जैनधर्म की प्राक्ऐतिहासिकता की समालोचना की कुछ भांकी देने के साथ ही हम हमारी खोज का कार्य यहां समाप्त कर देते हैं । अन्तिम दृष्टि बिन्दु जो कि हम देख सकते हैं वह पार्श्वनाथ हैं । उनके पूर्व का इतिहास सर्व कल्पित कथानको और मान्यताओं की सुध में खो गया, ऐसा लगता है ।'⁷

-
1. इलियट, हिन्दु इज्म एंड बुद्धीज्म, 1, पृ. 110 ।
 2. पूसेन, दी वे टू निर्वाण, पृ. 67 ।
 3. वेल्वलकर, वही, पृ. 107 ।
 4. शार्पेटियर, उत्तराध्ययनसूत्र, प्रस्तावना पृ. 21 ।
 5. गेरीनोट, वही, और वही पृष्ठ ।
 6. मजुमदार, वही और वही पृष्ठ ।
 7. याकोबी, वही, पृ. 162 ।

दूसरा अध्याय

महावीर और उनका समय

पार्श्व के सम्बन्ध में अनेक बातें:—

पहले अध्याय में महावीर के पुरोगामी पार्श्वनाथ, के सम्बन्ध में विचार किया गया था। जैनसूत्रों के अतिरिक्त अन्य साहित्य उनके विषय में सूचना कुछ भी दे सके ऐसा नहीं है। बौद्धसाहित्य में पार्श्वनाथ के चतुर्थांश धर्म सम्बन्धी कुछ सूचनाएं मिली थी। परन्तु उसके सिवा उनके सम्बन्ध में जो भी हम जानते हैं, सब जैनसूत्रों से ही जानते हैं और वे ही सूत्र उस सबका जो कि उनके विषय में इतिहासवेत्ताओं और अन्य विद्वानों ने कहा है, मूल आधार है।

पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में जैन जो कुछ भी कहते हैं उस सबको यहां कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन अन्तिम दोनों तीर्थंकरों के बीच के समय का इतिहास भी लिखा जाना सम्भव नहीं है। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि उनके विषय में जो भी हम जानते हैं वह सब परम्परा और दन्तकथा पर ही आधारित है। दूसरा यह कि उसमें भी कितनी ही परस्पर विरोधी है। फिर भी इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि पार्श्वनाथ वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और उनकी माता का नाम वामादेवी था।¹ इसके सिवा जैन मान्यतानुसार उनके 16,000 साधू, 38,000 साध्वियां, 1,64,000 श्रावक और 3,27,000 श्राविकाएं थीं।² वे 100 वर्ष जीवित रहे थे और इसमें से उनके 70 वर्ष निर्वाण प्राप्त के लिए ही बिताए यह भी कहा जाता है।³

[पार्श्वनाथ के 250 वर्ष पश्चात् महावीर का प्रादुर्भाव हुआ]

महावीर, जैन मान्यतानुसार, उनके पुरोगामी के लगभग 250 वर्ष बाद में हुए थे।⁴ महावीर का जन्म और अस्तित्व का समय भारतीय इतिहास का बुद्धिवादी युग कहा जाता है। इस युग की अवधि के सम्बन्ध में विद्वान यद्यपि एक मत नहीं हैं, फिर भी सामान्य दृष्टि से ई. पूर्व 1000 से ई. पूर्व 200 इस युग की आदि और अन्त सीमाएं मानी जा सकती हैं।⁵ भारतीय वीरगाथा-युग बीत चुका था। गंगा-घाटी के कौरव, पांचाल

1. कल्पसूत्र, सूत्र 150; और भी देखो अवतारद्वामास्वामिन्या उदरे...आदि। हेमचन्द्र, त्रिषष्टि-शैलाका, पर्व 9, श्लो. 23, पृ. 196; शार्पेटियर, कं. हि. इ., भाग 1, पृ. 154।
2. कल्पसूत्र, सूत्र 161-164; दिग्म्बर मान्यतानुसार इन संख्याओं में अन्तर है।
3. वही, सूत्र 168; और देखो सप्ततिव्रतपालनें। इत्यायुर्वत्सरशतं...आदि। हेमचन्द्र, वही, श्लोक 318, पृ. 219; मज्जिमदार, वही, पृ. 551। 4. श्री पार्श्वनिर्वाणात् पंचाशदधिकवर्षशतद्वयेन श्री वीरनिर्वाणं। कल्पसूत्र, सुबोधिका—टीका, पृ. 132। क्योंकि महावीर निर्वाण के 250 वर्ष पूर्व उनका निर्वाण होना कहा जाता है, इसलिए वे ई. पू. 8वीं शती में सम्भवतः हुए होंगे। कं. हि. इ., भाग 1, पृ. 153।
5. देखो दत्त, वही, विषय सूची; मज्जिमदार, वही, विषय सूची।

कौसल, और विदेह भी अब अस्तित्व में नहीं थे। इसी काल में आर्य गंगा-घाटी से बाहर निकल आए थे और भारत के धुर दक्षिण प्रदेशों तक में उनसे हिन्दू-राज्यों की स्थापना कर ली थी और अपने इन नए राज्यों में ज्वलंत आर्य-संस्कृति का प्रचार भी कर दिया था।

ब्राह्मणों का बढ़ता प्रभाव और जातिवाद के विशेषाधिकार:—

यही समय भारत में धर्मों के उत्कर्ष के लिए भी प्रसिद्ध है। चौदह सदियों से जिस प्राचीन धर्म का आर्य लोग पालन और प्रचार करते आ रहे थे, वह विविध रूपों में विकृत हो गया था।¹ एक भारी परिवर्तन का प्रारम्भ अब भारत को देखना बचा था। देश को हिन्दू-धर्म में, चाहे वह भले के लिए हो अथवा बुरे के लिए ही पर, भारी क्रांति का सामना करना पड़ा। धर्म के सच्चे स्वरूप का स्थान दिखाने लोकिकता ने ले लिया था। उत्कृष्टतम सामाजिक और नैतिक नियम अस्वास्थ्यकर जातिभेद, ब्राह्मण एकाधिकृत अधिकार और शूद्रों के प्रति क्रूर विधान से कलंकित कर दिए गए थे। परन्तु ऐसे एकाधिकृत अत्याधिकारों ने भी ब्राह्मणों का सुधार करने में सहायता नहीं की। एक जाति रूप में वे इतने लोभी, इतने लालची, इतने अज्ञान और इतने दम्भी बन गए थे कि स्वयम् ब्राह्मण सूत्रकारों तक को भी अति कठोर शब्दों में उनकी इस बुराई की निंदा करना आवश्यक हो पड़ा था।²

हिन्दुओं में गुरु संस्था का प्रवेश पीछे से हुआ है यह तो निर्विवाद है। ऋग्वेद³ में जो कि आर्य-संस्कृति का प्राचीनतम ग्रन्थ है, ब्राह्मण शब्द यद्यपि प्रयुक्त तो हुआ है परन्तु “धार्मिक गीतों का गाने वाला” के अर्थ में ही वह प्रयोग है।⁴ पर अब वे धार्मिक क्रियाकाण्ड कराने वाले पुरोहित के रूप में परिचय पाने लगे थे, और जैसे समय बीतता गया वैसे ही इस कार्य का अधिकार वंश परम्परागत होता गया एवं ब्राह्मण शनैः शनैः उच्च से उच्चतम मान प्राप्त करते गए।⁵ फल यह हुआ कि ब्राह्मणों का दम्भ खूब ही बढ़ गया। इनकी जाति फिर भी एकाधिकृत नहीं बन पाई थी। ईरानियों से पृथक होने के समय से उस सिंधु नदी के मुहाने के निकटस्थ सप्त नदियों के प्रदेश से जहाँ कि आर्यगण प्रारम्भ में बसे थे, आगे बढ़ने के समय तक तो आर्यों की स्थिति यही थी।⁶ परन्तु इस सप्तनदियों के प्रदेश से दक्षिण-पूर्व के प्रदेशों की ओर प्रयाग और गंगा-यमुना नदियों के तटीय प्रदेशों में हिन्दू-आर्यों के बस जाने से वैदिक-धर्म ने ब्राह्मण धर्म या ब्राह्मणों के धर्माधीशतंत्र को जन्म दे ही दिया।⁷

1. दत्त, वही, पृ. 340। 2. वही, पृ. 341; और देखो—(ब्राह्मण) जो न तो वेद पढ़ते और पढ़ाते हैं और न यज्ञानि ही रखते हैं, वे शूद्र समान हैं। विशिष्ट, अध्या. 3, श्लो. 1। देखो व्हलर, से. नु. ई. पुस्त. 14, पृ. 16।

3. ग्रिफिथ, दी हिम्स आफ दी ऋग्वेद. भाग 2, पृ. 96 आदि (2य संस्करण)।

4. देखो टीले, आउटलाइन्स आफ दी हिस्ट्री आफ रिलीजन पृ. 115।

5. कालान्तर में पुरोहित का राजा के साथ सम्बन्ध स्थायी होता जाने लगा और संभवतया वह पैत्रिक हो गया देखो लाहान न नाथ, एंशेंट इण्डियन पोलिटी, पृ. 44। 6. ब्रह्मर्षि देश और सप्तनद की भूमि में आर्यों के आदि संस्थानों के सम्बन्धों का निर्णय करना इतना सहज नहीं है। कं. हि. ई., भाग 1, पृ. 51।

7. देखो टीले, वही, पृ. 112, 117। ऋग्वेद की भाषा, वैदिक संस्कृति का प्राचीनतम रूप. सप्तनद देश की है। ब्राह्मणों की ओर उपरि यमुना और गंगा के देश (ब्रह्मर्षिदेश) की उत्तरकालीन वैदिक साहित्य की भाषा संक्रमण काल की है। कं. हि. ई., भाग 1, पृ. 57।

इस ब्राह्मणधर्म के साथ ही वर्ण-व्यवस्था याने जातिवाद की सजड़ता का जन्म हुआ जो कि 'वीरगाथा (महाभारत) काल में फिर भी लचीली संस्था ही थी। परन्तु बुद्धिवादी युग में इस जाति-प्रथा के नियम अधिक कड़क और अनमनशील हो गए यहां तक कि निम्न जाति के लोगों का धर्माधिकारिता की सीमा में प्रवेश करना तक भी असम्भव हो गया था।¹ इस स्थिति का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण परिश्रम करने से बिलकुल विमुख हो गए और अन्य वर्गों को उनके परिश्रम का कुछ भी एवज दिए बिना ही उन परिश्रमी-वर्गों की सम्पत्ति पर ही निर्वाह करने वाले होते गए।² धीरे-धीरे वे यहां तक निष्कर्मा बन गए कि परिश्रम से मुक्ति प्राप्ति की योग्यता के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने से भी वे हिचकिचाने लगे। वशिष्ठ को ब्राह्मणों की यह बुराई और अन्याय बहुत ही असह्य हो उठा था और इसलिए उसने ऐसे निष्कर्माओं को आश्रय अथवा पोषण देने का ऐसी उग्र भाषा में घोर विरोध किया कि जैसी जीती-जागती प्रजा का हिन्दू धर्म हो तमी प्रयोग की जा सकती थी।³

वर्णाश्रम के अधिकारों से उत्पन्न इस अपव्यवहार को लेखनकला के सर्वथा अभाव अथवा साहित्य लेखन में उसके सामान्यतया अप्रयोग ने ब्राह्मणवर्ग के प्रवर्धमान वर्चस्व को और भी बढ़ाने में पूरी-पूरी सहायता की।⁴ राजों और उमरावों की प्रजा और आश्रित रहते रहते ही उनके कृपापात्र बनने और यह प्रतिपादन करने कि ब्राह्मण के रक्षण और स्वातन्त्र्य की रक्षा करना ही उनका धर्म है, का प्रयत्न करते रहे। धीरे धीरे इन राजों और उमरावों के उपदेष्टा होने के कारण ये लोग एकाधिकारी उपदेष्टा होने का दावा करते हुए श्रुति और स्मृति के रक्षक और विवरणकार ही बन बैठे।⁵ शुरू शुरू में धर्म की अनेक पुस्तकें यज्ञयागादि अनुष्ठानों के उद्देश से ही रची गई थीं।⁶ उन्हीं का चार वेदों में जिनका प्रत्येक का भिन्न भिन्न ब्राह्मण है, समावेश होता है। इन ब्राह्मणों में 'मुख्य रूप से संकुचित क्रियाकाण्ड, शिशुजनोचित आध्यात्मवाद और अनेक नगण्य बातों के विषय में कुसंस्कार-सम्पन्न वार्ताएं जैसी कि अपरिमित धार्मिक सत्ताप्राप्त शक्तिशाली और पांडित्यप्रदर्शी गुरुओं से आशा की जा सकती है, भरी हुई हैं।'⁷

यज्ञक्रिया इस प्रकार योजित और संगठित हुई थी कि धीरे धीरे वह बहुकष्टसाध्य और जंजाल युक्त होती गई और इसके लिए इनके करानेवालों की संख्या में अधिक वृद्धि होती गई। और ये यज्ञ करानेवाले अनिवार्यतः ब्राह्मण ही होते थे। किसी किसी समय ये यज्ञकरानेवाले यहां तक बढ़ जाते थे कि देवों के प्रति मान भी न्यून

1. दत्त, वही, पृ. 264। देखें कुक, एम. ग्लो. एथि., भाग 2, पृ. 493।

2. देखो मैक्क्रिडल, एंशेट इण्डिया, पृ. 209। 3. 'राजा उस ग्राम को दण्ड देगा जिसमें ब्राह्मण अपने पवित्र धर्म और वेद-ज्ञान से रहित हो, भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करेंगे क्योंकि वे लुटेरों को भरण-पोषण देते हैं।' वशिष्ठ, 3, 4। देखो व्हूलर से. बु. ई. पुस्त. 14, पृ. 17।

4. देखो टीले, वही, पृ. 121।

5. 'इसी वर्ग में भविष्यकथन विद्या भी एकान्तरूपेण परिसीमित थी और इनके सिवा कोई भी यह व्यवसाय यह कला नहीं कर सकता है।' मैक्क्रिडल, वही, और वही पृष्ठ।

6. राजसूययज्ञ, अश्वमेधयज्ञ, पुरुषमेधयज्ञ, सर्वमेधयज्ञ ही प्रमुख यज्ञ थे। इन चारों यज्ञों में प्राचीन काल में अपराधी मनुष्यों की बलि दी जाती थी। परन्तु जैसे जैसे सदाचार विनम्र होता गया, यह प्रथा भी उठती गई। यद्यपि इसे सर्वानुमति से उठाया नहीं गया था, फिर भी इसका व्यवहार एक दिन उठ ही गया।

7. टीले, वही, पृ. 123।

लगता था क्योंकि वे अपने को ही इन देवों की कोटि में रख देते थे ।¹ यज्ञक्रिया के पीछे ऐसी लोकमान्यता थी कि विधिविधान और यज्ञसामग्री के उचित समिश्रण में ही इच्छित परिणाम उत्पन्न करने की चमत्कारिक शक्ति है जैसे कि वर्षाबिरसाना, पुत्र जन्म होना, शत्रु-सेना का सम्पूर्ण पराजय आदि आदि । ये यज्ञादि नैतिक उन्नति के लिए इतने नहीं अपितु व्यवहारिक सम्पन्नता के साधनों को प्राप्त करने के लिए ही किए जाते थे ।²

इस प्रकार ब्राह्मणों का सामाजिक लक्ष्य धर्माधिकारी की अमर्यादित सत्ता और जातियों का एकान्त पृथक्करण था । ऐसी स्थितिचुस्त समाज में कितने ही उपयोगी धन्धे पाप रूप गिने जाने लगे थे और लोगों को उन लज्जायुक्त धन्धों से जो उन्हें पापस्वरूप जन्म में प्राप्त हुए थे, पीछे हटते भी रोका जाता था । ऊँचे से ऊँचे अधिकार ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित रहते और अत्यन्त सीमातिक्रान्त स्वत्वों के भी वे ही पात्र होते थे । यह सब यहाँ तक चलता रहा था कि राजा की अमर्यादित सत्ता भी उनकी सेवा के लिए ही मानी जाने लगी थी ।³ प्राचीन भारतीयों का धार्मिक भुकाव ही ऐसा था कि अत्यन्त प्राचीन काल से जिसका कि हमें कुछ भी पता है, राज्य के धर्माधिकारी 'प्रमुख व्यक्ति माने जाने लग गए थे । सामाजिक व्यवस्था में स्त्री की स्थिति नगण्य हो गई थी और शूद्र तो एकदम तुच्छ व तिरस्कृत ही माने जाते थे ।'⁴

महावीर और बौद्ध के आविर्भाव से धर्माधिकारी मंडलों की सत्ता और कट्टर जातिवाद का अन्तः—

स्वाभाविक ही था कि समाज की यह परिस्थिति लम्बी अवधि तक निभ नहीं सकती थी । और इस स्थिति का एक ओर महावीर एवं दूसरी ओर शाक्यपुत्र बुद्ध के आगमन से अन्त आ ही गया । 'फ्रांस का विप्लव' दत्त लिखता है कि 'मुख्यतः दो कारणों से हुआ था, याने राजाओं के अत्याचारों में और अठारहवीं सदी के तत्ववेत्ताओं की बौद्धिक प्रक्रिया से । भारत का बौद्ध-विप्लव इससे भी स्पष्ट परन्तु ऐसी कारणों से था । ब्राह्मणधर्म के अत्याचारों से लोग विप्लव के लिए आतुर तो थे ही, और तत्ववेत्ताओं के कार्यों ने ऐसे विप्लव का मार्ग एकदम उन्मुक्त कर दिया ।'⁵

डा. हासकिंस तो कुछ आगे भी बढ़ जाता है और जिन लोगों ने ऐसे विचारों को सर्वप्रथम उत्पन्न किया उनके मानस को ही इसका श्रेय देता है । वह कहता है कि "बहुतांश में जैन और बौद्धधर्म की विजय तात्कालिक राजकीय प्रवृत्ति की ही आभारी है । पूर्वदेश के राजा पश्चिमी धर्म से असन्तुष्ट थे; वे उसे फेंक देने में प्रसन्न थे... पूर्व की अपेक्षा पश्चिम अधिक रूढ़िग्रस्त था । वह अपने मान्य आचारों का केन्द्र था और पूर्व मात्र उनका पालक पिता था ।"⁶

1. उनको ही 'देवी और सम्मान का सर्वोच्च स्थान' प्राप्त था । देखो मेकक्रिण्डल, वही और वही स्थान ।
2. दासगुप्ता, वही, पृ. 208 । देखो लाहा, न. ना., वही, पृ. 39 ।
3. राष्ट्र के निर्देशक और राज्य के सलाहकार वे देव द्वारा नियुक्त हुए थे, परन्तु वे स्वयं राजा नहीं बन सकते थे । लाहा न. ना., वही पृ. 45 ।
4. पुरोहित भी कहे जाते थे जिसका व्युत्पत्तिक अर्थ है 'आगे धरा हुआ, नियुक्त' ।
5. टीले, वही, पृ. 129-30 । 'यत्र नार्यस्तु पण्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' । पंक्ति का उद्धरण बहुधा प्रस्तुत किया जाने पर भी मनु ने स्त्रियों को संस्कार क्रिया का निषेध ही किया है । यह निषेध स्त्रियों और शूद्रों दोनों के लिए ही समान रूप से उसने किया है । देखो मनुस्मृति अध्या. 5 श्लो. 155; अध्या. 9 श्लो. 18; और अध्या. 4 श्लो. 80 । दत्ते, वही, पृ. 255 ।
6. हापकिंस, वही, पृ. 282 ।

ब्राह्मणों के प्रति तिरस्कार का अभाव —

परन्तु इस महान् भारतीय क्रांति के स्पष्टीकरण में हम ब्राह्मण विरोधी किसी प्रकार की वृत्ति की खोज करने को आतुर नहीं हैं। यह तो 'वीरगाथा-युग की प्रारम्भ में व्याप्त विचारों के सामान्य उभार का ही परिणाम था।' हमें उसे 'ब्राह्मणों के जातिभेद के प्रति क्षत्रियों के विरोध का परिणाम'² मात्र नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि 'ब्राह्मणधर्म के सनातन गढ़ के बाहर नवीन विश्वासों और सिद्धांतों की वृद्धि के लिए भूमि अच्छी तरह तैयार हो गई थी।'³ इसके सिवा विकास का मूल जिस पर किसी भी धर्म का इतिहास विस्तार पाता है, ऐसे सिद्धांत पर टिका रहता है कि धर्म में होने वाले सब परिवर्तन और नवरूप चाहे वे विषय दृष्टि से उसकी उन्नति या अवनति रूप ही दिखते हों, स्वाभाविक विकास के परिणाम ही होते हैं और उन्हीं से उनका समाधान भी मिल जाता है।

अपने निर्दिष्ट समय की ओर आने पर हम देखते हैं कि इस परिस्थिति को भारतीय विचारों के इतिहास और भारतीय जीवन के दृक्काव में हुए शांत परिवर्तन से पुष्टि मिली थी। श्री कुन्ते कहते हैं कि 'गौतमबुद्ध वेद की सामाजिक, राजकीय और धार्मिक प्रवृत्तियों का व्यवस्थित विरोध करने में सफल हुए उससे बहुत पूर्व से ही वेद की सत्ता में शंका उत्पन्न करने की वृत्ति देखने में आती थी।'⁴ इस प्रकार की मान्यता अन्य विद्वानों की भी है। 'बौद्ध और जैन धर्म को' डा. याकोबी कहता है कि 'ब्राह्मणधर्म की धार्मिक क्रियाओं से उद्भूत परिणाम ही माना जाना चाहिए कि जो आकस्मिक सुधारों से नहीं परन्तु लम्बे समय से चली आती धार्मिक प्रवृत्तियों से प्रेरित हुए थे।'⁵ यदि हम ऐसा कहें तो अनुचित नहीं होगा कि भविष्य में होने वाले ऐसे परिवर्तन की गूँज उपनिषदों में कि जिनमें सब दिशाओं से नवीन प्रणाली का पूर्व सूचन है, स्पष्ट सुनाई पड़ती है।' इस नवीन पद्धति के अग्रदूतों ने 'डा. दासगुप्ता कहता है कि, बहुत करके उपनिषदों से और याज्ञिक धर्म से ही प्रेरणा लेकर अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के जोर से अपनी प्रणालियाँ निमित्त की थी।'⁶ लोगों के मन में चल रहे ऐसे परिवर्तन का समय श्री दत्त ई. पू. ग्यारहवीं सदी अर्थात् हम जिस समय का यहां विचार कर रहे हैं उससे पांच सदी पूर्व जितना प्राचीन मानते हैं। उनके अनुसार 'उत्साही और विचारकर हिन्दुओं ने ब्राह्मणों के जंजाल भरे क्रिया काण्डों से आगे जाने का साहस किया और आत्मा तथा उसके निर्माता के गूढ़ रहस्यों की पूछताछ या खोज करने लगे थे।'⁷

तब हिन्दूधर्म की यह स्थिति थी। इसलिए स्वाभाविकतया जैनधर्म भी उसके बुरे प्रभावों से बचा रह नहीं सकता था।⁷ हमने देख ही लिया है कि महावीर को उनके पुरागामी द्वारा प्रस्तुत किए गए चार व्रतों में कितना ही फेरफार करना पड़ा था और इसके फल स्वरूप उनके उर्पादष्ट पांचव्रतों का प्रारम्भ हुआ था। समाज की परिस्थिति तब ऐसी थी कि लोग स्वतंत्र और स्वच्छंदी जीवन के लिए मिल सकने वाली थोड़ी सी छूट का भी लाभ लेने से क्वचित ही चूकते और इसलिए महावीर को पार्श्वनाथ के धर्म की प्रत्येक दिशा का विशदीकरण व्यों करना पड़ा था यह स्पष्ट विदित हो जाता है।⁸

1. राधाकृष्णन, वही, भाग 1, पृ. 293।

2. श्रीनिवासाचारी और आयांगर, वही, पृ. 48। 3. फ्रेजर, वही, पृ. 117।

4. कण्ठे, वही, पृ. 407, 408। 5. याकोबी, से. बु. ई., पुस्तक 22, प्रस्तावना पृ. 32।

6. दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 210। 7. दत्त, वही, पृ. 340।

7. ...250 वर्ष में जो कि उनके निर्वाण और महावीर के अवतरण में बीते, विकार इतना अधिक फैल गया था..., आदि। स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 49।

8. देखो कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ. 3; याकोबी से. बु. ई., पुस्तक 45, पृ. 122, 113।

सामान्य दृष्टि से जैनधर्मः—

2

ऐसे बदलते हुए विचार-प्रवाह में महावीर हुए और जगत के रहस्य का आकलन करने के लिये उनसे अपना ऐसा मार्ग खोजा कि जिसमें इहलोक और परलोक के सुख का भविष्य मनुष्य के निजी हाथों में ही रहा और जिसने प्रजा को स्वाश्रयी बनाया। जब उनसे उपदेश देना प्रारम्भ किया तब प्रजा तो तैयार थी ही उनका आध्यात्मवाद प्रजा को समझ में आता था इसलिये वह प्रजा को मान्य भी हो गया था। शनैः शनैः ब्राह्मण भी उन्हें एक महान् गुरु मानने लग गए थे।¹ बुद्धिमान ब्राह्मण भी समय समय पर जैन और बौद्धधर्म में अपनी श्रद्धा से और अपनी प्रतिष्ठा के लिए आने लगे और इनसे जैनधर्म की साहित्यिक प्रतिष्ठा कायम रखने में अपना पूरा योगदान दिया था।²

जैनधर्म शनैः शनैः गरीब और पतित वर्गों में भी फैला क्योंकि जाति के विशेष स्वत्वों का वह प्रखर विरोध करता था। जैनधर्म मनुष्य की समानता का धर्म था। महावीर की सत्य शील आत्मा ने मनुष्य-मनुष्य के अघटित भेदों के विरुद्ध क्रांति जगाई और उनका दयालु हृदय दुःखी, गरीब और असहाय लोगों की सहायता करने को तत्पर बना। पवित्र जीवन और निर्दोष परोपकारी चरित्र की सुन्दरता में ही मनुष्य की सम्पूर्णता है और ऐसी व्यक्ति को पृथ्वी स्वर्गतुल्य है ऐसा उनके मनोमन्दिर में प्रकाशहुआ और एक पैगम्बर एवम् सुधारक की भांति सम्पूर्ण आत्म विश्वास के साथ उनसे धर्म के तत्वरूप में ये बातें सर्व साधारण के सामने रखीं। उनकी विश्वविस्तीर्ण दया ने दुःखी हो रहे जगत को आत्मसुधार और पवित्र जीवन का सन्देश पहुंचाने की प्रेरणा की और उनसे गरीब तथा पतित जातियों में विश्वबंधुत्व की भावना अनुशीलन करने और उसके द्वारा उनके दुःखों का अन्त लाने को आकर्षित किया। ब्राह्मण हो अथवा शूद्र, उच्च हो अथवा नीच, सभी उनकी दृष्टि में समान थे। पवित्र जीवन से प्रत्येक जीव अपना मोक्ष समान रीति से साध सकता है और इसलिए अपना सर्वमान्य प्रेमधर्म स्वीकार करने को उनसे सबको आमंत्रित किया।³ पूर्व समय में योरोप में जैसे ईसाई धर्म फैला था वैसे ही धीरे-धीरे भारतवर्ष में जैनधर्म भी प्रचार पाने लगा और वह भी यहां तक कि श्रेणिक, कुणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, खारवेल और अन्य अनेक राजा आदि ने भारतवर्ष के हिन्दूराज्य की प्रारम्भिक विख्यात शक्तियों में जैनधर्म को स्वीकार किया।

अहमणधर्म की भांति ही जैनधर्म का आधार भी पुनर्जन्म का सिद्धांत ही है और पुनर्जन्म की अनंत परम्परा से मुक्ति प्राप्ति ही उसका ध्येय है।⁴ परन्तु इस मुक्ति या मोक्ष के लिए ब्राह्मणधर्म के तप और त्याग ही वह पर्याप्त नहीं मानता है। इसका ध्येय⁵ ब्रह्म के साथ एकता साधना नहीं अभितु निर्वाण याने समस्त शारीरिक आकारों और क्रियाओं से भी एकदम मुक्ति पानि छूटना है।⁶

1. प्रभुः अपापापुर्यो...जगाम, तत्र...बहवो ब्राह्मणाः मिलिताः...चतुश्चत्वारिंशच्छतानि द्विजा प्रव्रजिताः। कल्पसूत्र. सुबोधिका टीका, पृ. 112, 118।

2. वैद्य चिं वि., हिस्ट्री आफ मेडीवल हिन्द इण्डिया, भाग 3, पृ. 406।

3. सर्वसत्वानां हितमुखायास्तु (सर्व प्राणियों को सुख और हित के लिए हो) बहलर, एपी. इण्डि., पुस्तक 2, पृ. 203, 204, शिलालेख सं 18।

4. 'वह जिसके लिए इस संसार में किसी भी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है...आदि, जन्म लेने का मार्ग उसने छोड़ दिया है।' याकोबी, से. बु. ई., पुस्त. 22, पृ. 213।

5. प्राचीन भारत में संसार सम्बन्धी प्रमुख दो सिद्धांत थे। एक तो वह जो वेदान्त के रूप में प्रसिद्ध हुआ और जो यह सिखाता है कि ब्रह्म और आत्म एक ही है और बाह्य जगत एक माया है। इलियट, वही, 1 पृ. 10।

6. आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते...हरिभद्र, षड्दर्शनसमुच्चय, श्लो. 52।

देवों का अस्तित्व, कम से कम पहले पहले तो, अस्वीकार किए बिना ही जैनधर्म प्रत्येक जिन को उनसे उच्च मानता है और उनको परिपूर्ण संत की अपेक्षा न्यून कोटि का गिनता है।¹ जैसे प्राथमिक ईसाईधर्म भी यहूदी-धर्म से पृथक था वैसे ही जैनधर्म भी ब्राह्मणधर्म से यह अस्वीकार करने में शास्त्रज्ञान एवम् बाह्य आचार ही पवित्रता का सूचक हैं² और यह मानने में कि नम्रता, हृदय और जीवन की पवित्रता, दया, प्रत्येक जीव के प्रति निःस्वार्थ प्रेम आवश्यक है, जुदा पड़ता है। परन्तु सर्वतोपरि अन्तर इसका जातिभेद सम्बन्धी विचार है। महावीर न तो जातिभेद का विरोध करते हैं और न सब जातियों को एक समान करने का ही वे प्रयत्न करते हैं। पश्चान्तर में वे तो यह प्रतिपादन करते हैं कि पूर्वजन्मकृत सुकृत्यों अथवा पापों के परिणाम स्वरूप उच्च अथवा नीच जाति या कुल में जीव जन्म लेता है, और साथ यह भी कि पवित्र और प्रेममय जीवन से, आध्यात्मिकता प्राप्त करने से प्रत्येक जीव सर्वोच्च मोक्ष भी एक दम प्राप्त कर सकता है। इस मोक्षप्राप्ति में जाति उन्हें कोई बाधक नहीं लगती है। वे तो चाण्डाल में भी समान ही आत्मा देखते हैं।³ जीवन के सुख-दुःख सब को समान ही भुगतने पड़ते हैं। उनका धर्म सब जीवों के प्रति दया का धर्म है। इसलिए महावीर ने जो अनन्यतम क्षेमंकर परिवर्तन किया वह या जातिभेद को अवस्थाधीन और अप्रधान सिद्ध करना एवम् यह बताना कि आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए शांति प्रथा का बन्धन तोड़ना बिल्कुल सहज है।

महावीर का जीवन:—

जैनधर्म का सामान्य स्वरूप यही है। उसका यह स्वरूप लक्षण रूप में एकदम रुचिकर है। आज्ञा की अपेक्षा उपदेश को ही वह अपना साधन मानता है। महावीर का विचार करने पर हम देखते हैं कि बुद्ध की भांति वें भी एक अभिजात्य क्षत्रियवश में जन्मे थे। सच तो यह है कि जैन मान्यता ही ऐसी रही है कि जिन याने तीर्थंकर क्षत्रिय अथवा उस जैसे कुल में ही सदा जन्म लेते हैं।⁴ परन्तु महावीर के सम्बन्ध में ऐसा हुआ कि विगत जन्मों⁵ के कितने ही कर्मों के कारण वे ऋषभदत्त ब्राह्मण की भार्या देवानन्दा ब्राह्मणी की कोख में भ्रूण-

1. देवाधिदेवं सर्वज्ञं श्री वीरं परिणदधमहे...हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 1, श्लो. 2; ...जिनेन्द्रे सुरासुरेन्द्रसं-पूज्यः...हरिमद्र, वही, श्लो. 45-46।

2. केशलुंघन से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता है, ॐ के पवित्र उच्चारण से ही न कोई ब्राह्मण हो जाता है और न वन निवास से ही कोई मुनि, कुशघास और बल्कल पहनने से कोई तपस्वी। याकोबी सेबुई, 40।

3. सोवागकुलसंभूतो...हरि एसबलो...आदि। उत्तराध्ययन, अध्या. 12 शाथा 1। हरि पृ. 140। केशीबल षवपच। (चाण्डाल) कुल में जन्मा था वह गुणी और भिक्षु था।...आदि। याकोबी, वही, पृ. 50।

4. न तो ऐसा कभी हुआ है, न होता है, नहीं ऐसा होना सम्भव है कि अर्हत्...दरिद्रकुल...भिक्षुकुल या ब्राह्मण कुल में जन्म लेते हैं किन्तु अर्हत्...राजन्यकुल...ईक्ष्वाकुकुल...वा अन्य ऐसे ही उत्तम कुल, दोनों ही और से विशुद्ध जाति या वंश में जन्म लेते हैं। याकोबी सेबुई, पुस्त. 22, पृ. 225।

5. जैनों की मान्यतानुसार हम इस जन्म में जो भी हैं, वह सब पूर्व जन्मों में किएकर्मों के अन्तिम परिणाम स्वरूप है कर्म सब सामान्यतया अविनाशी, अवर्णनीय, अमा होते हैं जब तक कि भोग लिये नहीं जावे। महावीर ने नाम और गोत्र कर्मप्रपने पर्व के दृश्य 27 भवों में से किसी एक में बांधे थे। उन्होंने अन्तिम तीर्थंकर भव में जन्म लेने के पूर्व में चिताए थे। उसी कर्म के कारण उन्हें पहले ब्राह्मणवंश में जन्म लेना पड़ा तबच नीचर्गोत्र भगवता स्थलसप्तविंशतिभवापक्षेया तृतीयभवे बद्ध। कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ. 26। देखो याकोबी वही, पृ. 190-191।

रूप में पहले आए । सब पैगाम्बरों के जीवन की भांति महावीर के जीवन के सम्बन्ध में भी यह लोककथा प्रिय कथा कही जाती है कि ज्योंही राजा और देवों के स्वामी इन्द्र (शक्र) ने यह बात जानी तो उसने महावीर के भ्रूण को देवानन्दा की कोख से ज्ञातृ क्षत्रियवंशी काश्यप गौत्रीय क्षत्री राजसिद्धार्थ की पत्नि त्रिशला क्षत्रियाणी की कोख में बदल देने की योजना की ।¹ इस प्रकार यद्यपि यह एक अजीब सी ही बात है फिर भी महावीर चाहे वह चमत्कार के कारण ही हो, शेष में क्षत्रियवंश के ही थे यही हमें कहना होगा ।

भ्रूण परिवर्तन:—

आश्चर्य की बात तो यह है कि इस दन्तकथा को शिल्प में भी उत्कीर्णित कर दिया गया है । मथुरा के जैनशिल्प के कुछ नमूनों में इसकी तादृश साक्षी प्राप्त है और यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है । परन्तु साथ ही यह भी सिद्ध करता है कि यह दन्तकथा इसवी युग के प्रारम्भिक समय की ऐतिहासिक तो अवश्य ही है और इसलिए ऐसा भी कहने में कोई आपत्ति नहीं कि महावीर के जीवन के साथ अथवा उस समय की किसी न किसी सामाजिक परिस्थिति के साथ इसका कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए ।

हमें कल्पसूत्र से मालूम होता है कि इन्द्र ने अपनी आज्ञा के परिपालनार्थ हरिरागमेशी को भेजा था ।² इस हरिरागमेशी को सामान्यतः “हरि को नेगमेशी” याने इन्द्र का सेवक कहा जाता है ।³ डॉ. व्हूलर कहता है कि “वह जैनशिल्प जिसमें नेगमेश, एक छोटे रूप में तीर्थंकर, और एक छोटे शिशु सहित एक स्त्री दिखाए गए हैं, देवानन्दा और त्रिशला के भ्रूण-परिवर्तन सम्बन्धी उस प्रसिद्ध दन्तकथा का ही सूचन करता हुआ माना जा सकता है कि जिसमें इस देव ने प्रमुख भाग लिया था ।”⁴

प्रत्यक्षतः यह दन्तकथा विचित्र ही मालूम होती है । परन्तु इतना तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि अन्य धर्मों में अपने देवों के विषय में इससे भी अधिक विचित्र और काल्पनिक कथाएं कही गई हैं । हमें अभिभूत करने वाली जो बात इसमें है वह इसका रूप नहीं अपितु इसके पीछे रही हुई भावना है । जैनों के इस मानसिक भाव का यह अभिप्राय हो सकता है कि उनका साधूधर्म मूलतः क्षत्रियों के लिए ही योजित था । परन्तु ऐसा भाव दीख तो नहीं पड़ता है क्योंकि महावीर के समय से लेकर आज तक के इतिहास को टटोलने पर हम देखते हैं कि जैनधर्म की बड़ी से बड़ी और सुप्रसिद्ध व्यक्तियों में से कुछ ब्राह्मण भी थीं । महावीर के गणधरों में इन्द्रभूति⁵ से लेकर अन्तिम ग्यारहवें गणधर तक सभी ब्राह्मण थे । उनके बाद के जैन इतिहास में होने वाले सिद्धसेन, हरिभद्रसूचि आदि प्रसिद्ध जैनाचार्य और विद्वान भी ब्राह्मण थे ।⁶

1. 82 दिवस पश्चात् गर्भ को हटाया गया था । समगे भगवं महावीरे...वासीह...गव्भत्ताए साहरिए... कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पृ. 35, 36 । 2. याकोबी, वही पृ. 223 आदि । 3. व्हूलर, वही. पृ. 316 ।
4. वही, पृ. 317 । देखो मथुरा स्कल्पचर्स प्लेट 2; आ. स. रि., सं. 20, प्लेट 4 चित्र 2-5 ।
5. इन्द्रभूति के सम्बन्ध में ऐसी दन्तकथा है कि अपने गुरु के प्रति उसका असीम प्रेम था । महावीर के निर्वाण समय में वह वहां उपस्थित नहीं था । लौटने पर अपने गुरु के अकस्मात् निर्वाण की बात सुनकर वह शोकाभिभूत हो गया । उसे ज्ञान हुआ कि अन्तिम शेष बंधन जिसके कारण वह संसार से बंधा हुआ था वह राग था जो कि गुरु के प्रति वह अब भी दिख रहा है । इसलिए उसने उस बन्धन को काट दिया और “छिण्णपियबंधने” होते ही वह केवल ज्ञान की स्थिति को पहुंच गया । महावीर के निर्वाण के एक महीने बाद ही उसकी भी मृत्यु हो गई थी । याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 1 । 6. पिद्धसेन दिवाकर, ब्राह्मण मंत्री का पुत्र...हरिभद्र पूर्व में विद्वान ब्राह्मण था...स्टीवन्सन (श्रीमती वही, पृ 76, 80 ।

ऐसा संभव हो कि बुद्धिवाद के युग के प्रारम्भ में जब ब्राह्मण अपनी प्रतिष्ठा के प्रायः शिखर पर थे और जब अन्य जातियों में ब्राह्मण दासता के विरुद्ध अधिकाधिक जागृति हो रही थी तभी जैनों की इस मान्यता ने भी निश्चित स्पष्ट रूप लिया होगा। बौद्धों में भी ऐसे ही कुछ विचार थे जैसा कि उनके भिक्षुसंघ में दिए क्षत्रियों के से प्रतीत होता है। वाराणसी के एक प्रवचन में बुद्ध स्वयम् कहते हैं कि “धर्म के लिए कुलीन युवक प्रधानत्व संसार का सर्वथा त्याग कर देते हैं और गृह रहिन जीवनावस्था वे स्वीकार करते हैं।”¹

ऐसा होते हुए भी स्मरण रखना चाहिए कि जैनों को इस बात से कोई भी एतराज नहीं था कि ब्राह्मण लोग जैन गुरु बन कर जैनसंघ में उच्च पद प्राप्त नहीं करें ! परन्तु उनसे उनके विषय में इतना ही भेद किया और कहा है कि ब्राह्मण जन्म केवली बन मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है, परन्तु तीर्थंकर याने धर्मप्रवर्तक वह कभी नहीं बन सकता है। कदाचित् यह भेद उस समय के लोगों की इस सामान्य मान्यता को कि सब आध्यात्मिक कार्यों में ब्राह्मण ही सर्वोपरि होने के अधिकारी हो सकते हैं, मिटा देने के लिए ही किया गया हो। सप्रमाण साक्षियों से हमें ज्ञात है कि पूर्व काल में धर्म और अनुष्ठानिक मामलों में ब्राह्मण ही एकाधिकारी रहें या सर्वसत्ता भोगें, ऐसा कुछ भी नहीं। हीनकुल लोगों के अपने ज्ञान और सद्गुणों से पुरोहिताई में वस्तुतः प्रविष्टि होने के अनेक उदाहरण भी उद्धृत किए गए हैं। धार्मिक ज्ञान का इजारा केवल ब्राह्मणों का ही नहीं था इतना ही नहीं अपितु बहुत बार शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय राजों के नन्न शिष्य भी बने ऐसे भी उदाहरण हैं।² श्री टीले कहता है कि ‘उनसे अपनी पृथक जाति अभी तक नहीं बनाई थी क्योंकि राजा और राजा का पुत्र भी पवित्र गायक रूप में प्रसिद्ध थे और धार्मिक क्रियाएँ वे करते थे यद्यपि अनेक प्रतिष्ठित लोगों की भांति वे भी बहुत करके पुरोहित भी रखते थे।’³

स्थिति जैसी भी हो परन्तु, जैसा कि हम पहले ही कह गए हैं, उत्तरकालीन इतिहास में इगिते अथवा आडम्बरे, ब्राह्मण लोग समाज के यथार्थ हितेषी और आध्यात्मिक गुरु⁴ माने जाने लग गए थे, हालांकि ‘किसी भी अवस्था में प्राचीन ऋचाओं में तो ब्राह्मण और ब्राह्मणपुत्र का फिर भी कभी कभी उल्लेख मिल जाता है, परन्तु बाद की ऋचाओं में तो इनका उल्लेख बहुत है।’⁵ इसलिए ब्राह्मणों को अपनी स्वभू सर्वोपरि सत्ता के शिखर से गिराने और उनके कितने ही अधिकार छीन लेने के लिए क्षत्रिय एवं अन्य जातियाँ निःसंदेह उकसित हो गई होंगी।’

महावीर के जीवन के इस प्रसंग विशेष की व्याख्या करने में डा. याकोबी ने कुछ कष्टकल्पित अनुमान लगाए हैं। वे इस परिकल्पना पर चलते हैं कि सिद्धार्थ, महावीर के पिता के दो रानियाँ थी एक क्षत्रियाणी त्रिशला और दूसरी ब्राह्मणी देवानन्दा। फिर वे मान लेते हैं कि महावीर वास्तव में देवानन्दा की कोख से ही जन्मे थे,

1. ह्लिम डेविड्स, और ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., पुस्तक 13, पृ. 93।

2. दत्त, वही, पृ. 264।

3. टीले, वही, पृ. 116। जातियों के उद्भव के पूर्व और उस अन्तरिम काल में भी जब तक कि कार्यकलाप अचल प्रतिष्ठित नहीं हो गए थे, राजा स्वयम् के और अपनी प्रजा के हितार्थ अन्य की सहायता बिना ही यज्ञ कर सकता था। ला, न. ना., वही, पृ. 41।

4. ‘जन्हें राजों से कड़ा विरोध का सामना बहुत बार करना पड़ा था। परन्तु सामान्यतया वे अपने लक्ष्य में औद्यत्य एवम् अधिकार से अथवा चालाकी से, सफल हो ही जाते थे।’ टीले, वही, पृ. 121।

5. वही, पृ. 115।

परन्तु उसकी माता की ओर से राज्य सम्बन्धी लाभ और महत्ता प्राप्त कराने और अपने क्षत्रिय सम्बन्धियों का उन्हें प्राप्त कराने के लालच से उन्हें त्रिशला की कोख से जन्मा प्रसिद्ध कर दिया गया था।¹ एक महान् महावीर के जीवन के ऐसे प्रसंगों पर से काल्पनिक अनुमान घड़ निकालने में हमें कोई भी सार्थकता नहीं दीखती है। फिर भी उस काल का विचार करते हुए जैनसूत्रों के इस वर्णन का इतना अर्थ तो हो ही सकता है कि तोर्यकर के अतिरिक्त ब्राह्मण सभी कुछ हो सकता है।

इस प्रकार पटना के उत्तर लगभग 20 मील पर स्थित वैशाली² के पास के गांव में त्रिशला माता से महावीर का जन्म हुआ कहा जाता है। इनके पिता कुण्डग्राम³ गांव के सरदार थे ऐसा कहा गया है और उनकी माता त्रिशला विदेह की राजधानी वैशाली के सरदार की भगिनी एवम् मंगध के राजा विवमार की संबंधी थी।⁴ नन्दिवर्धन उनका बड़ा भाई और सुदर्शना उनकी बड़ी बहन थी। उनका विवाह यशोदा नाम की कौडिन्य गोत्र की कन्या से हुआ था। इस यशोदा से उन्हें एक पुत्री उत्पन्न हुई थी जिमका नाम अणोज्जा था और उसे प्रियदर्शना भी कहा जाता था।⁵ उसका विवाह उनके भानेज राजपुत्र जामाली के साथ किया गया था कि जो अपने श्वसुर का शिष्य और जैनधर्म में प्रथम मतभेद प्रवर्तक याने निन्हब हुआ था।⁶ महावीर तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे थे और माता-पिता का देहान्त पश्चात् अपने बड़े भाई की अनुमति से उनसे गृहत्याग कर अघ्यात्मिक जीवन में प्रवेश किया था।⁷ “यह जीवन पश्चिमी देशों की भांति ही भारत में भी महत्वाकांक्षी लघुपुत्रों के लिए सुन्दर माना गया होना चाहिए।”⁸

महावीर के पिता माता पार्श्व पत्य थे:—

जैन मान्यतानुसार महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के पूजक और श्रमणों के अनुयायी थे।⁹ महावीर के सिद्धान्तों को जैनसूत्रों में उनके निज के सिद्धान्त नहीं कहा गया है। परन्तु “पण्यत्ता” अर्थात् स्थापित सनातन

1. देखो याकोबी, सेबुई, पुस्तक 22, प्रस्तावना पृ. 31।

2. मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर उपविभाग स्थित आधुनिक बसाद को ही वैशाली कहा जाता है।

3. वैशाली के ठीक बाहर ही कुण्डग्राम का उपपुर था जो आज का कदाचित् वसुकुण्ड गांव ही हो, और यहां ज्ञात्रिक क्षत्रियों के वंश का सिद्धार्थ नाम का धनिक नायक रहना था। कैं. हि. ई. भाग 1, पृ. 150।

4. देखो फ्रेजर, वही, पृ. 128-131। जैनसूत्रों के अनुसार त्रिशला को विदेहदत्ता और प्रियकारिणी भी कहा जाता था और यही कारण है कि महावीर भी विदेहदत्ता के पुत्र कहे जाते थे। देखो याकोबी, वही, पृ. 193, 194, 256। 5. राजा समरवीरो थे यशोदा कन्यकां निजाम्। प्रदातं वर्धमानाय... षट्पुत्र्यशोदाया मजायत।... दुहिता प्रियदर्शना ॥ हेमचन्द्र, त्रिषष्टि-श्लोका, पर्व 10, श्लो. 125, 154, पृ. 16।

6. शार्पेटियर, कैं. हि. ई., भाग 1 पृ. 158। राजपुत्रो...। जमालि: ...प्रियदर्शनाम् ॥ हेमचन्द्र, वही, श्लोक 155, पृ. 17। 7. समो भगवं महावीरो...तीसं वासाइं कट्टु...विदेहंसि मुंडे भवित्ता, आदि। कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, पृ. 89, 96। 8. राधाकृष्णन, वही, भाग 1 पृ. 287।

9. महावीरस्स अम्मपियरो पासावच्चिग्जा...आदि ॥ आचारांग, श्रुत स्कंध 2, सूत्र 187 पृ. 422। देखो याकोबी, वही, पृ. 194। उसके माता-पिता परम्परा के अनुसार जो कि विश्वमत ही प्रतीत होती है, पूर्व तीर्थंकर पार्श्व के ही अनुयायी थे। जैसा कि पहले ही निर्देश किया जा चुका है महावीर का सिद्धान्त पार्श्व के सिद्धान्त का पुनर्नवीकृत या संशोधित संस्करण के सिवा और कुछ भी नहीं था। शार्पेटियर, वही, पृ. 160।

सत्य रूप बताया गया है। यदि बुद्ध की भांति ही वे अपने धर्म के मूल संस्थापक होते तो यह सब अशक्य हो जाता। परन्तु यह तो कोई भी मान सके ऐसे एक सुधारक के जीवन और कथन का ही उल्लेख है।¹ उनका गुणगान देवों और मनुष्यों ने इन शब्दों में किया कहा जाता है—जिनों द्वारा प्ररूपित अस्खलित मार्ग से सर्वोच्च पद अर्थात् पोक्ष-निर्वाण प्राप्त करो।²

महावीर का तपस्वी जीवन:—

गृह त्याग कर महावीर साधू की सामान्य जीवनचर्या में रहे। बारह वर्ष से कुछ अधिक काल तक वर्षावास के अतिरिक्त वे भ्रमण करते रहे थे।³ प्रारम्भ के लगभग तेरह महीने तक 'पूज्य तपस्वी महावीर ने वस्त्र धारण किया था।'⁴ बाद में वे प्रत्येक प्रकार के वस्त्र का त्याग कर नग्न ही भ्रमण करते रहे थे। अबाधित ध्यान, अखण्ड ब्रह्मचर्य तथा खानपानादि नियमों का सूक्ष्म पालन करते हुए उनसे अपनी इन्द्रियों को सम्पूर्णतया वश किया। बारह वर्ष तक देह-ममत्व की वे उपेक्षा करते रहे थे और कहीं से भी आते तमाम उपसर्गों को समभाव से सहन करने, उनका सामना करने और उन्हें भुगतने के लिए वे कटिबद्ध रहे थे।⁵ यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी विस्मृतावस्था में महावीर सवस्त्र थे या नग्न इसका उन्हें बिलकुल ही भान नहीं था। ऐसी कोई भी स्पष्ट उनकी प्रवृत्ति नहीं थी कि जिससे वे नग्न ही भ्रमण करते रहें। जो वस्त्र उनसे पदयात्रा में रखा था, उसे उनके पिता के एक ब्राह्मण मित्र सोम ने दो बार में टुकड़े-टुकड़े करके ले लिया था।⁶ उनकी थोड़ी बहुत विस्मृतावस्था में जो कुछ भी उनके जीवन में हुआ, वह उनके अनुयायियों द्वारा शब्दानुशब्द अनुकरणीय होने के अभिप्राय से नहीं था। जैनशास्त्रों में ऐसी कठोर आज्ञा कहीं भी देखने में नहीं आती है। उत्तराध्ययन में सुधर्मा मुख में नीचे लिखे शब्द रख दिए हैं कि 'मेरे वस्त्र फट जाने के पश्चात् में (तुरन्त ही) नग्न विचरूंगा अथवा नया वस्त्र लूंगा, ऐसे विचार साधू को नहीं रखने चाहिए।'

एक समय उसको कोई भी वस्त्र नहीं होगा, दूसरे समय उसके पास कुछ होगा। इस नियम को हितावह समझ कर बुद्धिमान (मुनि) को इस सम्बन्ध में कोई भी शिकायत नहीं करना चाहिए।⁷ संक्षेप में इसका अर्थ यह है कि ऐसी सब उपाधियों से साधू को अनासक्त रहना चाहिए। फिर भी सारे समुदाय के अनुशासन की दृष्टि

1. याकोबी, इण्ड. एण्टी., पुस्तक 9, पृ. 16।

2. योकोबी, से. बु. ई., पुस्तक 22 पृ 258। उनसे तीर्थंकरों के सर्वोच्च सिद्धान्त का उपदेश दिया था। वही, पुस्तक 45, पृ. 288।

3. "जब वर्षाऋतु आ जाती है और वर्षा हो रही है तो अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है और अनेक बीजों के अंकुर फुट जाते हैं।...यह जान कर मुनि को ग्रामानुग्राम भ्रमण करना नहीं चाहिए अपितु एक ही स्थान में वर्षाऋतु में वासावास करना चाहिए।"—याकोबी, सेबुई, पुस्तक 22, पृ. 136।

4. समणे भगवं महावीरे संवच्छरं साहियं मासं चीवरधारी हुत्था तेप्रां परं अचेलए पाणिपडिगहिए। कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, सूत्र 117, पृ. 98। देखो सेबुई, पुस्तक 22, पृ. 259, 261।

5. देखो वही, पृ. 200।

6. ततः पितुर्मित्रेण ब्राह्मणेन गृहीतं। कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, पृ. 98। देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो. 2, पृ. 19।

7. याकोबी, सेबुई, पुस्तक 45, पृ. 11।

से सामान्य नियम यह हुआ कि साधु को एक वस्त्र से काम चला लेने का प्रयत्न करना चाहिए और उससे न चले सकने पर वह दो वस्तु भी रख सकता है।¹

इस प्रकार स्वतः स्वीकृत तप और ध्यान में बिताए बारह वर्ष उनके निष्फल नहीं गए थे। “तेहरवें वर्ष में ...एक प्राचीन मन्दिर के अनति दूरे...शालवृक्ष के नीचे गूढ़ ध्यानस्थ महावीर को सर्व श्रेष्ठ केवलज्ञान जो कि अनन्त, सर्वोत्तम, अबाधित, आविच्छिन्न, परिपूर्ण और समग्र है, प्राप्त हो गया।”²

महावीर का दीर्घ विहार:—

इस प्रकार प्राथमिक आत्म-पीड़न के बारह वर्षों में महावीर बहुत से स्थानों में जाते रहे थे जिनमें से अनेक महानना आज अत्यन्त कठिन है। जंगली जातियों से बसे देशों में भ्रमण करते, कहीं रात्रि के विश्राम के लिए स्थान भी कभी-कभी ही पाते और लाढ़ नामक जंगली लोगों से बसे प्रदेश में भी भ्रमण करते उन्हें निर्दय बर्बर लोगों द्वारा बहुत ही दुःखद और भयानक परिषह सहन करने पड़े थे।³ परन्तु इस घोर माघनावस्था की समाप्ति के बाद वे सर्वज्ञ, सर्व विषय-ज्ञाता, केवली और इस जगत में जिसके जानने का कोई भी गुप्त नहीं हो ऐसे अर्हत् रूप में प्रसिद्ध और मान्य हुए।⁴ इस समय उनकी आयु 42 वर्ष की हो चुकी थी और जीवन के शेष 30 वर्ष अपने अपनी धर्म प्रणाली को सिखाने, साधुओं को संघ में व्यवस्थित करने और भ्रमण द्वारा अपने सिद्धान्तों के त्सार एवम् स्वधर्ममार्ग बनाने में बिताए थे। मगध और अंग देश के राज्यों में आए हुए उत्तर और दक्षिण बिहार के लगभग सभी नगरों में उनसे भ्रमण किया था। परन्तु प्रमुखतया वे मगध और अंग राज्यों में ही रहे थे। उनके अनेक चतुर्मास उनकी जन्मभूमि वैशाली⁵, मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह, प्राचीन अंग की राजधानी चंपा⁶,

1. याकोबी, सेबुई, पुस्तक 22, पृ. 157। “जैनों के वस्त्र सम्बन्धी आचार इतने सरल नहीं है क्योंकि साधु का अद्वैत या एक, दो और तीन वस्त्र तक रखने की भी आज्ञा दी गई है। परन्तु युवक सशक्त साधु को नियमतः एक वस्त्र ही रखना चाहिए। महावीर नग्न ही रहे थे और वैसे ही जिनकल्पिक भी या वे जो महावीर का यथाशक्य अनुकरण करने के प्रयत्नशील थे, नग्न रहते थे। परन्तु उन्हें भी अपनी नग्नता को आच्छादित करने की आज्ञा थी”—वही, प्रस्तावना पृ. 26।

2. वही, पृ. 263। देखो वही पृ. 201।

3. देखो शापेटियर, वही, पृ. 158; राधाकृष्णन, वही, पृ. 280। “महावीर बारह वर्ष से कुछ अधिक काल तक लाढ़, वज्जभूमि और शुभभूमि में और बंगाल में आज के राढ़ प्रदेश में भ्रमण करते रहे थे।”—दे, दी ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एशेंट एण्ड मैडोवल इण्डिया, पृ. 108। डॉ. व्हूलर के अनुसार बंगाल में आज का राढ़ प्रदेश। देखो व्हूलर, इण्डियन स्यैक्ट आफ दी जैनाज पृ. 26।

4. देखो याकोबी, वही, पृ. 263, 264।

5. कुण्डग्राम के नाम से वैशाली नगर शीश जैन तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि कहा जाता है और इसी से वे वैशाली अर्थात् वैशाली के निवासी भी कहे जाते थे। दे, वही, पृ. 107।

6. चंपा जैनों का एक पवित्र स्थान है। इसमें महावीर ने अपने भ्रमण काल में तीन वर्षाऋतुओं से वासावास किया था। फिर यह नगर जैनों के बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूण्य की जन्म और निर्वाण भूमि भी कही जाती है। देखो, वही, पृ. 44।

विदेह की राजधानी मिथिला और श्रावस्ती¹ में हुए थे ।

उनका भ्रमण बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में हुआ था ऐसा प्रतीत होता है । प्रसंगवश वे मगध की राजधानी राजगृह और अन्य नगरों में पधारते थे जहाँ उनको अपूर्व मान मिला करता था ।² फिर उनके ही समय में जैनों में मतभेद हो जाने पर भी, जैनों की मान्यतानुसार, उनके अनुयायियों की संख्या उनकी प्रतिष्ठा को जरा भी टेस पहुंचाने वाली नहीं थी । उनके संघ में 14000 भ्रमण, 36000 भ्रमणियां, 159000 श्रावक और 318000 श्राविकाएं थीं । इसके अतिरिक्त 5400 अन्य शिष्य थे जो या तो श्रुतकेवली चौदहपूर्वों के माता थे या केवली, मनः पर्याय ज्ञानी, अवधिज्ञानी आदि-आदि थे ।³

महावीर निर्वाण समय:—

पारसनाथ पहाड़ी के निकट की ऋजुपालिका नदी पर के जूँभिका गाँव में⁴ बयालीस वर्ष की उम्र में केवली होने और जैनधर्म के सुधारक के रूप में 30 वर्ष तक भ्रमण करने के पश्चात् महावीर राजगृह निकटस्थ⁵ में हस्तिलाल राजा की रज्जुगशाला में 72 वर्ष⁶ की आयु में निर्वाण प्राप्त हुए । आज भी जैन यात्री हजारों की संख्या में उस स्थान की यात्रा करते हैं । जैन काल गणनानुसार यह प्रसंग ई. पूर्व 527 में अथवा सिंहल गणनानुसार बौद्ध निर्वाण यदि ई. पूर्व 543⁷ मानें तो उससे सोलहवें वर्ष में बना माना जाता है । यह संवत् अनेक कालगणना पुस्तकों और टीकाग्रन्थों में पुनरावर्तित तीन गाथाओं पर ही अवलम्बित है ।⁸ इन गाथाओं

1. 'श्रावस्ती जिसको सहेत-महेत भी कहते हैं, जैनों की चन्द्रिकापुरी या चन्द्रपुर है । यहाँ तीसरे तीर्थंकर संबवनाथ जी का और आठवें श्री चन्द्रप्रभुजी का जन्म हुआ कहा जाता है ।' वही पृ. 190 । 'उस काल में, उस समय में भ्रमण भगवान् महावीर ने प्रथम चातुर्मास अस्थिकग्राम में, तीन चातुर्मास चंपा और पृष्ठचंपा में, बारह वैशाली और वारिण्यग्राम में, चौदह राजगृह और नालंदा के उपनगर में... एक श्रावस्ती में और एक पावानगरी में राजा हस्तिलाल की रज्जुगशाला (लेखकशाला) में किया था ।' याकोबी, वही, पृ. 264 ।
2. शार्पेंटियर, वही और वही पृष्ठ । 'उनके प्रभावक्षेत्र का विस्तार श्रावस्ती या कोसल, विदेह, मगध और अंग राज्यों याने आधुनिक अवध एवम् पश्चिमी बंगाल के बिहार और तिरहुत प्रदेशों की परिसीमाओं से मिलता हुआ है ।' वूलर, वही, पृ. 20 ।
3. याकोबी, वही, पृ. 267-268 ।
4. इसे जूँभिक या जूँमिला भी कहते हैं ।—स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 38 ।
5. महावीर 30 वर्ष तक गृहवासी, 2 वर्ष से कुछ अधिक छद्मस्थ और कुछ न्यून 30 वर्ष केवली याने 42 वर्ष साधू रूप में रहे थे ।—याकोबी, वही, पृ. 269 ।
6. पापा-पावापुरी, बिहारनगर के दक्षिण-पूर्व में लगभग 7 मील गिरियेक के उत्तर में दो मील पर है ।' स्टीवन्सन पादरी के कल्पसूत्रानुसार, महावीर का निर्वाण यहाँ पर उस समय हुआ जबकि पापा के राजा हस्तिलाल के महल में वे पर्युषणा व्यतीत कर रहे थे । उनके निर्वाण-स्थली पर एक बाड़े में चार सुन्दर जैन मन्दिर हैं । दीवाली (दीपावली) का वार्षिक पर्व महावीर के निर्वाण की स्मृति में ही प्रचलित हुआ था । देखो दे, वही, पृ. 148 ।
7. देखो याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्तावना पृ. 8 ।
8. जिनमें ये घोषणाएँ मिलती हैं, वे प्रमाण कोई भी 12 वीं सदी ईसवी से प्राचीन नहीं हैं । पूर्वतम प्रमाण हेमचन्द्र का है जिसका देहांत ई. 1172 में हुआ था ।—वूलर, वही, पृ. 23 ।

का मूल यद्यपि किसी भी स्थान में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है, परन्तु फिर भी ये अनेक टीका ग्रन्थों और प्राचीन जैन कालगणना ग्रन्थों में उद्धृत हुई देखी जाती हैं। इनमें वीर और विक्रम संवत् के बीच का अन्तर बताया गया है और प्राचीन जैन कालगणना के लिए इन्हें आधारभूत माना गया है।¹ मेरुतुंग की विचार श्रेणी इन्हीं गाथाओं पर आधारित है। इनमें वीर निर्वाण और विक्रमादित्य के राज्यारोहण के बीच में 470 वर्ष का अन्तर कहा गया है।

इन तीन गाथाओं का भाषान्तर इस प्रकार है²—(1) जिस रात्रि में तीर्थंकर महावीर देव ने निर्वाण प्राप्त किया, उसी रात्रि में अवंति के राजा पालक का राज्याभिषेक हुआ। (2) राजा पालक के 60 (वर्ष), नंदों के 155 (वर्ष), मौर्यों के 108 और पुष्यमित्र (पुष्यमित्र) के 30; (3) बलमित्र और भानुमित्र ने 60 (वर्ष) राज्य किया, नमोवाहन ने 40 और उसी प्रकार गर्दमिल्ल का राज्यकाल 13 वर्ष चला और 4 शक का वर्ष है।³

इस प्रकार मेरुतुंग की गणनानुसार विक्रमादित्य के युग और महावीर के समय में 470 वर्ष का अन्तर है और इसलिए निर्वाण ई. पूर्व 527 के अनुसार है।⁴ मेरुतुंग की गणनानुसार यह अन्तर 470 वर्ष मान लें तो विक्रम संवत् के प्रारम्भ और मौर्यों के राज्य में 255 वर्ष का अन्तर आता है और इससे चन्द्रगुप्त के अभिषेक का समय, जैन मान्यतानुसार, ई. पूर्व 312 (255 + 57) आता है। क्योंकि वि. सं. ई. पूर्व. 57 में शुरु हुआ था।⁵ अब 470 में से 255 घटावें तो चन्द्रगुप्त का समय और निर्वाण का अन्तर 215 आता है। इन 215 वर्षों के विषय में सब एक मत नहीं हैं क्योंकि हेमचन्द्राचार्य अपने परिशिष्टपर्व में लिखता है कि “और इस प्रकार महावीर के निर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त राजा हुआ था।”⁶ इसकी सन् पूर्व 312 में 155 वर्ष जोड़ने पर महावीर निर्वाण की तिथि ई. पूर्व 460 आती है। यह सही है कि मेरुतुंग भी हेमचन्द्राचार्य के इस कथन का उल्लेख करता है, परन्तु साथ ही कहता है कि ग्रन्थों में इसका विरोध किया गया है इससे अधिक वह कुछ भी नहीं कहता है।⁷

डा. याकोबी⁸ और डा. शार्पेटियर⁹ दोनों जैन विद्वानों ने महावीर की निर्वाण तिथि इन दोनों जैनाचार्यों के दिए प्रमाणों के आधार से निश्चित की है। दोनों ने इतनी प्रथिक सूक्ष्मता और ऐतिहासिक सत्यता से अपने अनुमानों को प्रस्तुत किया है कि उनके अभिप्राय को फिर से सिद्ध करने के लिए उस विवरण में फिर से

1. डूलर, इण्डि. एण्टी., पुस्तक 2, पृ. 363।

2. 'मेरुतुंग, सुप्रसिद्ध जैन ग्रन्थकार, ने वि. सं. 1361-ई. 1304 में अपना ग्रन्थ 'प्रबन्ध-चिंतामणि' और उसके दो वर्ष पश्चात् अपना 'विचारश्रेणी' ग्रंथ रचा था...।' -शार्पेटियर, इण्डि. एण्टी., पुस्तक 4, पृ. 119।

3. 'ये गाथाएँ मेरुतुंग द्वारा ही अथवा उसके किसी समकालिक द्वारा ही नहीं रची गई थी, यह सुनिश्चित है क्योंकि उस समय तक जैन लेखक बहुत पहले से ही प्राकृत में रचना करना त्याग चुके थे।' -शार्पेटियर, वही, पृ. 120।

4. जंरयणि कालगणना...सगससचक...। विचारश्रेणी, पृ. 1, हस्तपोथी, भा. प्रा. मं. पुस्तकालय, सूची 1871-1872 सं. 378। 5. विक्रम संवत् और ईसाई युग के प्रारम्भ के बीच में 57 वर्ष बीत चुके थे।

6. एवं च श्री महावीर...चन्द्रगुप्तो भवन्नृपः। याकोबी, परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 8 श्लो. 339।

7. तच्चिन्त्यम् यत एवं 60 वर्षाणि तुट्यन्ति ॥ अन्य ग्रन्थैः सहविरोधः। विचारश्रेणी, वही, पृ. 1।

8. याकोबी कल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 6-10।

9. शार्पेटियर, वही, पृ. 118-123, 125-133, 167-178।

जाना आवश्यक नहीं है। हेचमन्द्र के प्रस्तुत किए प्रमाण को स्वीकार कर लेने की वे शिफारिश करते हुए इस अनिवार्य निर्णय पर आते हैं कि इस युग की तिथि ई. पूर्व 460 के लगभग ही होना चाहिए।¹

‘मैंने यह बताने का प्रयत्न किया है’ डा. शार्पेटियर कहता है कि ‘कलागणना की टीप जिस पर जैनों ने विक्रम संवत् के प्रारम्भ और महावीर निर्वाण के बीच का अन्तर 400 वर्ष होने की कल्पना की है, वह एक दम अर्थहीन है। समय की पूर्ति के लिए जो राजवंशालियां बनाई गई हैं वे एकदम इतिहास विरुद्ध और किसी भी प्रकार से मानी जा सकें ऐसी नहीं हैं।...’² जैन कथन के एकदम काल्पनिक आधार को एक ओर रख कर इन प्रसिद्ध विद्वानों जो अन्य प्रमाण प्रस्तुत किए हैं वे हैं बुद्ध और महावीर दोनों की समकालिक अस्तित्व और हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत अधिक विश्वस्त ऐतिहासिक तथ्य।

दोनों महापुरुष समकालिक और प्रतिस्पर्धा साधू-समुदायों के स्थापक थे। यह अब एक सिद्ध तथ्य है। परन्तु यदि हम जैन दंतकथा को सत्य मान लें जो कि कहती है कि महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व 470 वर्ष यानि ई. पूर्व 527 में हुआ था तो हमें ऐसी शंका होती है कि ऐसा सम्भव है भी या नहीं क्योंकि बुद्ध का निर्वाण, जिसकी तिथि पहले ही मेरी दृष्टि में ठीक ही, जनरल कनिंघम और प्रो. मैसमूलर निर्णय ने की थी, ई. पूर्व 477 में हुआ। और सब आधार यह कहने में एक मत हैं कि बुद्ध उस समय 80 वर्ष के थे, तो फिर उनका जन्म ई. पूर्व 557 में होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि महावीर का निर्वाण ई. पूर्व 527 में हुआ हो तो बुद्ध उस समय 30 वर्ष के थे और उन्हें 36 वर्ष की आयु में यानि ई. पूर्व 521 पहले न तो बुद्धत्व प्राप्त हुआ था और न उनमें कोई शिष्य ही बनाए थे इसलिए यह एक दम असम्भव बात है कि बुद्ध महावीर से कभी मिले ही नहीं हों। फिर दोनों ही अज्ञातशत्रु जो बुद्ध निर्वाण के 8 वर्ष पूर्व ही राजा हुआ था और जिसने 32 वर्ष राज्य किया था, के राज्यकाल में थे, यह भी प्रमाणित है। इसलिए ऊपर कही गई तिथियां मानना और असम्भव हो जाता है।³

हेमचन्द्र के परिशिष्टपूर्व में दिए प्रमाणों का विचार करते हुए डा. शार्पेटियर कहता है कि ‘हेमचन्द्र के विक्रम संवत् और चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में बताए गए 255 वर्ष के अन्तर को हम डा. याकोबी के साथ ठीक

1. निःसंदेह अन्य विद्वान भी हैं जो इससे विरोधी मतवाले हैं, परन्तु उनके विचारों की याकोबी और शार्पेटियर के विवेचनों ने कालव्यतीत कर दिया है। इसलिए यहां पर फिर से उनका विचार करना अनुपयोगी है। इन विद्वानों में से कुछ के नामों का संकेतमात्र कर देना ही पर्याप्त है:— बर्ग्स, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 2, पृ. 140; राइस, त्यइस, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 3 पृ. 157; टामस (एडवर्ड), इण्डि. एण्टी., पुस्त. 8, पृ. 30; पाठक, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 12, पृ. 21; हरनीले, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 20, पृ. 360; गेरीनोट, बिब्लोग्राफी जैना, प्रस्ता. पृ. 7।

2. शार्पेटियर, वही, पृ. 125। ‘न केवल वर्ष की संख्या 155 जो गाथा में नन्दों का राज्यकाल की दी गई है, अत्यधिक है अपितु अवंती के राजा पालक के राज्यकाल का, मगध राजाओं के राज्यकाल में, वर्णन ही इस काल गणना को बहुत संशयास्पद कर देता है।’ याकोबी, वही, पृ. 8।

3. शार्पेटियर, वही, पृ. 131-132। ‘निर्वाण तिथि के हमारे विवेचन को फिर से विचार तो स्पष्ट है कि ई. पूर्व 467 जो हमने हेमचन्द्र उल्लिखित कालगणना के आधार पर निर्णय किया है, अधिक अशुद्ध नहीं लगता है क्योंकि यह बुद्ध निर्वाण की संशोधित तिथि ई. पूर्व से समकालिकता दृष्टि से इतनी अचञ्ची तरह मेल खा जाती है कि जो हम पूर्व शोधों द्वारा आवश्यक प्रमाणित कर चुके हैं।’ याकोबी, वही, पृ. 9।

मान सकते हैं। इससे महावीर निर्वाण और विक्रम के राज्यारोहण में 255+155 वर्ष मिल कर कुल 410 वर्ष का अन्तर हो जाता है और इससे महावीर निर्वाण ई. पूर्व 467 में होना ही निश्चित होता है और यह साल मेरे अभिप्रायानुसार उसके साथ सम्बन्धित सब प्रसंगों से अनेक प्रकार से ठीक बैठ जाता है और इसलिए इसे ही सत्य स्वीकार किया जा सकता है।¹

इनसे अतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं कि जो एक या दूसरी प्रकार से महावीर निर्वाण की इस तिथि के निर्णय किए जाने से हमारी सहायता करते हैं। उन सब की चर्चा में उतरने के स्थान में उनको यहां कह देना मात्र उचित होगा। भद्रबाहु के निर्वाण की तिथि और उनका चन्द्रगुप्त के साथ सम्बन्ध², जैनधर्म में हुए तीसरे पंथभेद की तिथि और उसके साथ मौर्य राजा बलभद्र का सम्बन्ध³, देवर्धिगरिण द्वारा निश्चित की हुई भद्रबाहु के कल्पसूत्र में दी गई तिथि और ध्रुवसेन के राज्यारोहण वर्ष में वल्लभी में एकत्रित महासभा की तिथि का सम्बन्ध⁴ और अन्त में स्थूलभद्र के शिष्य सुहस्ति की तिथि एवम् उसका अशोक के पौत्र और उत्तराधिकार सम्प्रति⁵ के साथ सम्बन्ध।⁶

हमारे सामने इन सब ऐतिहासिक तथ्यों के होने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जि। निर्णय पर हम ऊपर पहुंचे हैं उस विचारणीय तिथि से सम्बन्धित अनेक तथ्यों के साथ पूरी पूरी संगति बँठ जाती है। फिर भी ई. पूर्व 467 की तिथि यद्यपि बहुत अशुद्ध तो नहीं है, तो भी महावीर निर्वाण की तिथि यथार्थ रूप से नहीं स्वीकार की जा सकती है क्योंकि यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि हेमचन्द्र ने विक्रम संवत् और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण में 255 वर्ष का अन्तर होने का और इससे जिस निर्णय पर पहुंचने का कि जैन काल-गणानुसार चन्द्रगुप्त का राजवंश ई. पूर्व 312 में प्रारम्भ हुआ था, सत्य स्वीकार कर लिया था इसमें तो कोई भी संदेह नहीं है कि चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की निश्चित तिथि निकालना आज तक की उपलब्ध साक्षियों द्वारा असम्भव है।⁷ परन्तु फिर भी, इतनी अधिक अनिश्चितता की बात पर अधिक उहापोह न करते हुए, यह कहा जा सकता है कि प्राचीन तिथि अधिक उचित और तात्कालिक ऐतिहासिक वातावरण एवम् चन्द्रगुप्त के जीवन के

1. शार्पेटियर, वही, पृ. 175।

2. भद्रबाहु के देहान्त की यह तिथि वीरात् 170 है जो परम्परागत वीर निर्वाण तिथि के हिसाब से ई. पूर्व 357 और याकोबी एवम् शार्पेटियर निर्णीत तिथि के अनुसार ई. पूर्व 290 आती है। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध की दृष्टि से ई. पूर्व 357 सर्वथा त्याज्य है।

3. यह पंथभेद वीरात् 214 में हुआ था और मेस्तुंग के अनुसार मौर्य राज्य का प्रारम्भ वीरात् 215 है। इसलिए हेमचन्द्र की गणना जो कि मौर्य राज्य का प्रारम्भ वीरात् 155 कहता है, अधिक ठीक लगती है।

4. यह तिथि वीरात् 980 या या 993 है। यदि वीर निर्वाण तिथि ई. पूर्व 467 ले तो ई. 526 के अनुकूल यह आती है और वल्लभी पर ध्रुवसेन के राज्यारोहण वर्ष से एक दम मेल खा जाती है।

5. मेस्तुंग के अनुसार यह तिथि वीरात् 245 है और यह हेमचन्द्र की कालगणना के बहुत कुछ अनुरूप है जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त वीरात् 155 में राज्य करना प्रारम्भ करता है क्योंकि अशोक की मृत्यु चन्द्रगुप्त से बाद 94 वें वर्ष में हुई थी और इससे सम्प्रति की राज्यारोहण तिथि वीरात् 249 आती है।

6. देखो शार्पेटियर वही, पृ. 175-76; याकोबी, वही, पृ. 9, 10।

7. काल निरूपण का हमारा दोषी ज्ञान, उस विश्वस्त सूचना से एक दम विपरीत है कि जो हमें देश और शासन के सम्बन्ध में प्राप्त है। टामस (एफ. डब्ल्यू.), के. हि. इ., भाग 1, पृ. 73।

अनेक प्रसंगों के अधिक अनुकूल ही लगती है। डा. टामस¹, श्री स्मिथ² आदि विद्वानों ने चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का काल ई. पूर्व 325 से 321 अथवा उसके आस पास रखने को सम्मत हैं।³ यदि इस बात को हम अपना आधार बनाएं तो हमें महावीर निर्वाण की तिथि ई. पूर्व लगभग 480-467 के बीच आती लगती है और बुद्ध की ई. पूर्व 477 की ठीक की हुई निर्वाण तिथि से भी संगत हो जाती है जो कि 'लगभग सही प्रमाणित हो चुकी है।'⁴ इसका कारण यह है कि स्पष्ट रूप से इन दोनों महापुरुषों के निर्वाण में बहुत ही थोड़े वर्षों का अन्तर होना चाहिए।⁵ फिर वर्षभाग के निर्वाण की स्वीकृत वह तिथि उन किसी भी प्रमाणों और तर्कों के विरुद्ध नहीं है जो कि ऊपर गिनाए जा चुके हैं।

फिर भी महावीर के किए जैनधर्म में सुधार का विचार करने के पूर्व श्री जायसवाल, बेनरजी और अन्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत यथार्थ माने जाते अनुमानों से कालगणना में उत्पन्न हो रही भ्रमण के सम्बन्ध में भी यहाँ कुछ कह देना उचित है।⁶ जैसा कि हम 'कलिंग देश में जैनधर्म' शीर्षक अध्याय में आगे देखेंगे कि अभी तक श्री विसेट स्मिथ⁷ और अन्य विद्वानों की भांति ये विद्वान भी ऐसा मानते थे कि खारवेल का शिलालेख मौर्य युग के 165 वें वर्ष का है— राज-मुस्त्रिय-काले-याने ई. पूर्व 170 का। 300 वर्ष पूर्व याने ई. पूर्व 470 में कलिंग में किसी नन्द राजा के नहर खुदवाने का इसमें उल्लेख आता है।⁸ इस बात से यह ऐतिहासिक तिथि का महत्व बढ़ जाता है। नौवा शिशुनाग राजा नन्दिवर्धन जिसकी तिथि पहले ई. पूर्व 418 स्वीकृत हुई थी, के साथ इस नन्दराजा को मिला देने से स्मिथ सारी शिशुनाग वंशावली को पलट देने की सीमा तक पहुँच गए थे और अजातशत्रु को पहले के ई. पूर्व 491 के स्थान में ई. पूर्व 554 बिबसार को ई. पूर्व 519 के स्थान में 582 में उनसे रख दिया।⁹ बुद्ध और महावीर दोनों की समकालीन वंशावली में यह फेरफार देख कर और नन्दराज

1. वही, पृ. 471, 472।

2. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (4था संस्करण), पृ. 206।

3. प्रो. कर्न चन्द्रगुप्त की राज्यारोहण तिथि ई. पूर्व 321 और 322 निश्चित की है। तदनुसार निर्वाण तिथि ई. पूर्व 477 और 475 के बीच में कुछ कुछ पड़ती है जो कि कुछ वर्षों के हेरफेर सहित सत्य ही प्रतीत होती है क्योंकि बुद्ध की संशोधित निर्वाण तिथि ई. पूर्व 477 से यह मेल खाती है। याकोबी, परिशिष्टपत्र, प्रस्तावना, पृ. 6। 4. याकोबी, वही और वही पृष्ठ।

5. देखो दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 173।

6. जायसवाल, वि. उ. प्रा. पत्रिका, सं. 3, पृ. 425-472; और सं. 4 पृ. 364 आदि, बेनरजी (रा. दा.), वि. उ. प्रा. पत्रिका, सं. 3, पृ. 486 आदि।

7. स्मिथ, रा. ए. सो. पत्रिका, 1918, पृ. 543-547। 8. वही, पृ. 546।

9. अपने ग्रन्थ 'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया के तृतीय संस्करण में मैंने नन्दिवर्धन का राज्यारोहण समय सशंक ई. पूर्व लगभग 418 में रखा था। अब वह ई. पूर्व लगभग 470 में रखा जाना चाहिए या इससे भी कुछ पूर्व। उस शोध से अजातशत्रु या कलिंग (शिशुनाग 5 वां) को कम से कम ई. पूर्व लगभग 554 में और उसके पिता बिबसार याने श्रेणिक को (शिशुनाग 4 था) कम से कम ई. पूर्व लगभग 582 में रखना होगा।' स्मिथ, वही, पृ. 546-547। अपने प्रथम 1904 के संस्करण में स्मिथ ने नन्दिवर्धन को समय ई. पूर्व 401 रखा था, पृ. 33; देखो वही, 41; वही, पृ. 51 (4था संस्करण)।

से अपहृत प्रतिमा का उल्लेख शिलालेख के मुख्य भाग में होने से स्मिथ¹ और जायसवाल² इस निर्णय पर पहुंचे थे कि खारवेल के शिलालेख के अनुसार महावीर का निर्वाण ई. पूर्व 527 में और बुद्ध का निर्वाण ई. पूर्व 543 में हुआ था। और यह प्राचीन परम्परा का ही समर्थन करता है।

हम आगे देखेंगे कि खारवेल के शिलालेख पर आधारित ये अनुमान श्री जायसवाल द्वारा सूचित अन्तिम आकलन का विचार करते हुए कुछ भी उपयोगी नहीं हैं। उसमें निर्देशित समय का मौर्यकाल से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। फिर यह तथ्य भी कुछ महत्व का नहीं है क्योंकि महान् इण्डो-ग्रीक राजा डिमोट्रियस के उल्लेख का विचार करने पर हम शिलालेख की इस तिथि पर प्रायः पहुंच जाते हैं। इससे अति महत्व का फेरफार जो हुआ वह यह है कि उल्लिखित नहर नंदवंश के 103 वें वर्ष में खुदाई गई थी न कि 300 वर्ष पूर्व।³ इस प्रकार वह मूल आधार कि जिसके कारण श्री स्मिथ ने शिशुनागों की सारा वंशावली 50 वर्ष पीछे हटाने का भ्रष्टपट साहस कर लिया था, मूषणित हो जाता है। यह महान् इतिहासवेत्ता कहता है कि 'नवीन प्रमाणों से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ हूं कि मेरी अब छप रही और प्रकाशित होने वाली "आक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" में शिशुनागों और नंदों का पूर्व समय में होना माना।⁴ परन्तु जिस विद्वान को श्री स्मिथने इस सीमा तक उचित ही विश्वास किया था और जो अपने दृढ़ विश्वास पर डटे रहने के महान सम्मान का पात्र भी है, उसने ही अधिक लम्बे समय के अभ्यास और खोज के पश्चात् शिलालेख के पूर्व आकलन को एकदम ही बदल दिया है।

अब देखिए कि श्री जायसवाल कहते हैं कि "इससे यह भी सिद्ध होता है कि ई. पूर्व 450 के लगभग या उससे कुछ पूर्व भी जैन प्रतिमा का होना यह बताता है कि महावीर के निर्वाण की तिथि वही होना चाहिए कि जो हम पृथक पृथक जैन कालगणना को पुराणों और पाली ग्रन्थों के साथ-साथ आकलन करने पर प्राप्त करते हैं और जो सब के आधार से ई. पूर्व 545 निश्चित होती है।...⁵ यह कुछ विचित्र सा अवश्य ही लगता है क्योंकि जिस नन्दराज का यहां उल्लेख हुआ है उसे शिशुनागवंशी नन्दवर्धन जिसका समय अलबरूनी और अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से श्री जायसवाल ने उपर्युक्त नन्द का ही माना है, के साथ विशेष रूप से क्यों जोड़ा जाता है, यह कुछ भी समझ में नहीं आता है।⁶

यह राजानन्द जैसा कि हम दूसरे अध्याय में आगे देखेंगे, डॉ. शार्पेटियर के अनुसार, नव नन्दों में के एक से ठीक-ठीक मिलता आता है कि जिनमें का पहला "हेमचन्द्र द्वारा बहुत अननुकूल वर्णित मालूम नहीं देता है।"⁷

1. 'पाली कथानकों के अनुसार महावीर का निर्वाण बुद्ध से पूर्व हो गया था। परन्तु अन्य प्रमाण ई. पूर्व 467 का समर्थन करते हैं जिसकी कि डा. शार्पेटियर अनुरोध करता है और यह तिथि भद्रबाहु की परम्परागत तिथि से भी मेल खा जाती है जो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालिक थे। ई. पूर्व 527 (528-7), जो कि अत्यधिक प्रमाण में महावीर की निर्वाण तिथि कही जाती है, उन अनेक तिथियों में से एक है। परन्तु इसका समर्थन खारवेल के शिलालेख से होता है।' वही, पृ. 49।

2. जायसवाल, वि. उ. प्रा. पत्रिका, सं. 13, पृ. 246। 3. वही, पृ. 221 आदि।

4. स्मिथ, रा. ए. सो. पत्रिका, 1918, पृ. 547।

5. जायसवाल, वही, पृ. 246। जायसवाल की यह तिथि उन कालक्रमानुसारी तथ्यों पर आधारित है कि जिनको उनने पाली, पुराण और धर्मी परम्पराओं के परिशीलन से निकाला है। देखो वही सं. 1, पृ. 114।

6. जायसवाल, वही. सं. 13, पृ. 240-241। 7. शार्पेटियर, वही, पृ. 171-172।

यदि दोनों की यह समानता स्वीकृत हो तो जैन प्रतिमा के अस्तित्व का ऐतिहासिक काल ई. पूर्व चौथी सदी का लगभग प्रारम्भ ही होना चाहिए । फिर यह भी माना जाए कि राजा नन्द कि तिथि श्री जायसवाल के अनुसार ई. पूर्व 457 के लगभग है, वही नन्दवर्धन है तो ऐसा कहने में कि जैन प्रतिमाएं ई. पूर्व 450 के लगभग या उससे भी कुछ पहले थी, ऐतिहासिक भूल अथवा जैन दन्तकथा से कोई विरोध नहीं मालूम देता है । ऐसा कहने में केवल इसी कारण से ऐतराज नहीं हो सकता है कि महावीर का निर्वाण ई. पूर्व लगभग 467 के नहीं हो सकता है और ई. पूर्व 545 तक दूर जाना आवश्यक है क्योंकि सत्य या असत्य परन्तु अनेक दन्तकथाओं के अनुसार मूर्तिपूजा जैनधर्म में कोई नहीं है ।¹

जैन कालगणना में अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त के बीच का अन्तर उदायिन और नव-नन्दों² से सम्पूर्ण किया गया है, और मेरुतुंग जैसा लेखक कहता है कि नन्दों का राज्य 155 वर्ष चला था । पश्चात्तर में हेमचन्द्र ने शश नन्दों को केवल 95 वर्ष ही दिए हैं और वह वस्तुतः इसमें नवों-नन्दों को ही लेता है । फिर भी ई. पूर्व 480-467 का काल जिसे महावीर निर्वाण काल हमने माना है, सम्भव परिकल्पना की सीमा बांधने के प्रयत्न के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जैसा कि आज तक उपलब्ध कतिपय प्रमाणों से भारतीय प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण के हमारे प्रयत्नों में होना बहुधा अनिवार्य है । इससे अधिक सत्य निर्णय के लिए हमें उस समय की प्रतीक्षा करनी ही होगी कि जब पुरातत्व खोजों से हमें और पर्याप्त साधन प्राप्त नहीं हो जाएं ।

जैनधर्म की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति:—

महावीर के संस्कारित जैनसम्प्रदाय या तथाकथित जैनधर्म का जब विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि किसी के भी सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना हमारे लिए सम्भव नहीं है । इस पुस्तक के मर्यादित क्षेत्र में हमारे लिए इतना ही सम्भव है कि हम उसके मुख्य लक्षण और मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी सामान्य समस्याओं, प्रश्नों और उलझनों के विषय में उसके विश्वासों का विचार मात्र यहां कर लें । तत्त्वज्ञान की जीवित ज्योति चिंतन है । प्राथमिक तत्व चिंतन जगत की उत्पत्ति की खोज में रहा था और कर्म सिद्धान्त को स्वरूप देने का उसने प्रयास किया था । इस विषय में जैनधर्म को नास्तिक यदि किसी शाश्वत सर्वोपरि ईश्वर को सर्व वस्तुओं का कर्ता और स्वामी नहीं मानना ही नास्तिकता हो तो, कहा जा सकता है । “देवी सर्जकात्मा के अस्तित्व का निषेध ही जैनधर्म की नास्तिकता का अर्थ है ।”³ जैनी ऐसे सर्व शक्तिमान ईश्वर को नहीं मानते हैं । परन्तु वे शाश्वत अस्तित्व, सर्वव्यापी जीवन, कर्मसिद्धान्त की अटलता और मोक्ष के लिए सर्वज्ञता की आवश्यकता को स्वीकार करता है ।

जैनों को विश्व-उत्पत्ति के आदि कारण के प्रश्न के आकलन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।⁴ वे बुद्धिगम्य आदि कारण के अस्तित्व को नहीं मानते हैं⁵ और शून्य में से अथवा अकस्मात् उद्भूत सर्जन सिद्धान्त

1. तएणं सा दोवई रायवर कन्ना...जेणेव जिणधरे...यजिणपडिमाणं...पणामं करेई...ज्ञाता, सूत्र 119 पृ. 210 । 2. देखो रेफसन. कै. हि. इ., भाग 1, पृ. 313 ।
3. हापकिंस, वही, पृ. 285-286 । “उनके यथार्थ देव उनके जिन या तीर्थंकर ही हैं जिनकी मूर्ति की पूजा उनके मन्दिरों में की जाती है ।”—वही ।
4. कर्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः, स सर्वगः स स्ववश स नित्यः । इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकत्वम् ॥9॥ हेमचन्द्र, स्याद्वादमंजरी (मोतीलाल लधाजी सम्पादित), पृ. 24; वही, पृ. 14 आदि ।
5. राधाकृष्णन, वही, भाग 1.पृ.299 । देखो विजयधर्मसूरि, भण्डारकर स्मृतिग्रन्थ,पृ.(14 आदि) 150-151 ।

की भी वे उपेक्षा करते हैं। एक जैन विचारक की दृष्टि में प्रकृति के सिद्धान्त का व्यवस्थित संचालन किसी अकस्मात् अथवा प्रारब्ध का फल नहीं हो सकता है। जैनों की कल्पना में यह भी नहीं सकता है कि असर्जक ईश्वर एका-एक सर्जक कैसे बन सकता है। आचार्य जिनसेन प्रश्न करता है कि “यदि ईश्वर ने विश्व को रचा है तो इसकी रचना के पूर्व वह ईश्वर कहां था ? यदि वह आकाश में नहीं था तो उसने विश्व का स्थान निर्देश कैसे किया ? अरूपी और अमूर्त ईश्वर मूर्त द्रव्य रूप जगत को कैसे बना सकता है ? यदि द्रव्य का पहले से अस्तित्व मान लेते हैं तो फिर क्यों न जगत को ही अनादि और अनुत्पन्न ही मान लें ? यदि जगत को कर्ता ईश्वर का कर्ता कोई नहीं है तो जगत को स्वयम् उत्पन्न हुआ मानने में ही क्या दोष है ? “वै और भी कहते हैं कि” क्या ईश्वर स्वयम् पूर्ण है ? यदि ऐसा है तो उसको जगत उत्पन्न करने का कोई भी कारण नहीं है। यदि वह स्वयम् सम्पूर्ण नहीं है तो साधारण कुम्हार की भांति वह यह कार्य करने के लिए अशक्त माना जाना चाहिए क्योंकि पूर्व सिद्धान्त से तो सम्पूर्ण जगत ही वह बना सकता है। यदि ईश्वर ने अपनी इच्छा से ही जगत को खिलौने के रूप में बनाया है तो वह ईश्वर बालक ही होना चाहिए। यदि ईश्वर दयालु है और उसने कृपा करके ही यह जगत बनाया है तो उसको सुख और दुःख दोनों ही नहीं बनाना चाहिए था।”¹ यदि हम यह कहें कि जो कुछ भी अस्तित्व में है उसका कोई कर्ता होना ही चाहिए तो कर्ता का भी कोई कर्ता होना आवश्यक है। इस प्रकार हम एक वतुल में पड़ जाएंगे और उसमें से बचने का मार्ग प्रत्येक वस्तु के कर्ता का स्वयम् अस्तित्व मानने में ही रहेगा। यहां फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि एक व्यक्ति के लिए स्वयम् अस्तित्व और शाश्वतता शक्य है तो वह अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों के लिए संभव क्यों नहीं ? ऐसी परिस्थिति में जैन दृष्टि अनेक द्रव्यों की परिकल्पना करती है और सभी द्रव्यों की परिकल्पना करती है और सभी द्रव्यों को स्वयम्-प्रकट होने के सिद्धान्त द्वारा इस विश्व की व्याख्या की जाती है।” जीव और अजीव मय यह विश्व अनादि से चला आ रहा है और उसमें किसी बाह्य देवसत्ता के दखल बिना ही प्राकृतिक नियमानुसार असंख्य परिवर्तन होते ही रहते हैं। विश्व की विविधता का मूल पांच समवाय याने काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ में ही समाया हुआ है।”²

इतना सब होते हुए भी जैनों के इस विश्वास ने उन्हें अविास प्राप्त जड़वादी कि जिसे ‘भौतिकवाद’ कहा जाता है अथवा चार्वाक कि जिसका सिद्धान्त ‘यावज्जीवेत सुखंजीवेत’ है और जो ‘भष्म हुआ शरीर फिर से जन्म नहीं लेता’ मानता है, नहीं बनाया। श्री वास्त ने अपनी ‘जैनीज्म’ नामक पुस्तिका में जैनदर्शन और अन्य दर्शनों के विचारभेद को मुन्दर रीति से नीचे लिखे शब्दों में व्यक्त किया है। ‘विश्व नियंता सर्वशक्तिमान ईश्वर के सिद्धान्त का एक विकल्प’ वह विद्वान कहता है कि ‘आत्महीन जड़वादी नास्तिकवाद का सिद्धान्त है जो प्रतिपादन करता है कि जीव और चेतन भौतिक अणुओं की गति और स्कंध का परिणाम है जो कि मृत्यु समय में विचूर्णित हो जाते हैं। परन्तु जिन्हें इस प्रकार के किसी भी सिद्धान्त से सन्तोष नहीं होता है उनके लिए पुस्तक में एक सिद्धान्त की स्थूल रूपरेखा दी गई है कि जो न तो आत्मा के अस्तित्व का ही निषेध करता है और न शृष्टिकर्ता की मान्यता को मान कर ही चलता है। परन्तु वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने भाग्य का आप विधाता बनाता है, प्रत्येक चेतन आत्मा के लिए मोक्ष का ध्येय बनाता है और उस शाश्वत सुख के आवश्यक साधन रूप आत्मविकास की सर्वोत्कृष्ट भूमिका में पहुंचने तक के समय के लिए सर्वोच्च त्याग आवश्यक कहता है।”³

1. लाटे, इन्ट्रोडक्शन टू जैनिज्म, पृ. 85-87; जिनसेन. आदिपुराण, अध्या. 3। देखो भण्डारकर, रिपोर्ट आन संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट, 1883-1884, पृ. 118।

2. राधाकृष्णन, वही, पृ. 330। 3. वारेन, जैनीज्म, पृ. 2। ‘हे मानव ! तू ही अपना मित्र है, फिर क्यों अपनेसे बाहर किसी मित्र की तू खोज करता है।’ याकोबी, सेबुई, पुस्त. 22, पृ. 33।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ईश्वर जैसी कोई वस्तु अथवा व्यक्ति जैनी स्वीकार नहीं करते हैं तो वे किस सत्ता को मानते हैं और उस सत्ता के लक्षण क्या है। लक्षणों द्वारा पहचाने बिना किसी भी व्यक्ति के आदेश स्वीकार करने में अनुत्तरदायी और आततायी सत्ताधीश की आज्ञा स्वीकार करने का आरोप आता है। सत्ताधीश चाहे जैसा सच्चा हो फिर भी उसके उपदेश की पहली भूमिका सत्यज्ञान है। धर्म के मूल तत्व या जड़का विचार करने पर हम देखते हैं कि मनुष्य और ईश्वरी सत्ता का पारस्परिक सम्बन्ध ही धर्म की तात्विक व्याख्या नहीं है और यह व्याख्या जैनधर्म के अनुकूल नहीं है। ऐसी व्याख्या धर्म के गूढ़ रहस्य का आकलन करती ही नहीं है। 'दुःख के अस्तित्व के कारण जानने की, उनको निर्मूल करने की, फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शाश्वत सुख के लिए मनुष्य की स्वाभाविक आकांक्षा ही धर्म का लक्षण है।'¹ उपयुक्त शक्तियों को इच्छापूर्वक ही इन्द्रियातीत नहीं कहा गया है, ताकि इश्य देवी-शक्ति इस प्रकार अस्वीकार हो जाएं और फिर ये शक्तियां वास्तविक रूप में नहीं अपितु पूजकों की दृष्टि में अलौकिक हैं।² तथ्य जो भी हो, यह ऐसी निर्बलता है कि जो किसी न किसी रूप में सार्वभौमिक है, और इस दृष्टि से, प्रकृतया जैन भी इससे विमुक्त नहीं रह पाए हैं। इस विचारसरणी को यहीं छोड़ दें तो जैसा कि हम पहले ही देख आए हैं जैनधर्म, यह कहा जा सकता है कि, एक ऐसा स्वच्छ और परिपूर्ण प्रकाश है जिसे उन महान् आत्माओं ने कि जिनने अपने सब विकारों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली थी और जो सब प्रकार के कर्मों से इसलिए विमुक्त हो गए थे, इस संसार को दिया था।³

जिन-जैनधर्म के आध्यात्मिक नेता:—

जैनधर्म के मौलिक सिद्धांतों को प्रस्तुत करनेवाले सब शास्त्र पृथ्वी पर मनुष्य रूप में विचरते पार्श्वनाथ और महावीर जैसे महान् आध्यात्मिक गुरुओं के उपदेशामृत हैं। ये उपदेश सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा जिन भगवान् के शिष्य गणधरों⁴ को सर्व प्रथम उनके द्वारा दिए गए थे और उन गणधरों ने आज तक चली आती गुरु परम्परा को वारसे में वे दिए।⁵ इस प्रकार हम जो कुछ भी जैनधर्म के विषय में अब कहेंगे उस सब का मूल ये जिन भगवंत ही हैं।

इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि मूल सिद्धांत की दृष्टि से उनके आधार सब अपेक्षाकृत परवर्ती कालीन हैं। परंतु मूल और रूपांतर को पृथक करना जरा भी कठिन नहीं है क्योंकि डा. शार्पेटियर ठीक ही कहता है कि 'मूल सिद्धांतों को दृढ़ता से चिपके रहने में छोटी सी जैन जाति की अनमनशील अनुदारता' ही उसका सुदृढ़ रक्षक रही है।⁶ इसी अनुदारता के कारण अनेक भयंकर विपत्तियों के आने पर भी जैनी लोग अपने शास्त्रों को लग-भग अबाधित रूप में सुरक्षित रख पाए हैं। ईसवी पहली और दूसरी सदी के उद्भिदों (वास-रिलीफ) में उनकी

1. वारेन, वही, पृ. 1। 2. टीले, वही, पृ. 2।

3. जिनेन्द्रो...रागद्वेषविवर्जितः...कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संप्रान्तः परमंपदम्। हरिभद्र, षडदर्शनसमुच्चय श्लो. 45, 46। 'जैनधर्म का यह खयाल है कि वही ज्ञान यथार्थ है जो क्रोध, मान, घृणा आदि विकारों से रहित है। वही जो सर्वज्ञ है, वही आर्जव के मार्ग का उपदेश कर सकता है कि जिससे जीवन का अनंत सुख प्राप्त हो सकता है और वह सर्वज्ञता उसमें असम्भव है जिसमें प्रमादी तत्व पाए जाते हैं।' धारेन वही, पृ. 3।

4. इन्द्रभूति से प्रारम्भ कर प्रभवस्वामी में समाप्त होने वाले महावीर के ग्यारह गणधर थे।

5. प्रक्रान्तशास्त्रस्य चौर जिनवरेन्द्रापेक्षया र्थतः आत्मागमत्वं तच्छिष्यं तु पंचमगणधरं सुधर्म...तच्छिष्यं च जंबू...परम्परागमतां प्रतिपिषादयिषुः सूत्रकारः...आह...। ज्ञाता, टीका, पृ. 1।

6. शार्पेटियर, कॅहि इं., भाग 1, पृ. 169।

आत्मा को जन्म और पुनर्जन्म¹ सहित इस संसार चक्र के सब अनुभव करने पड़ते हैं बस इसी में हमारे सब दुःखों का मूल है और इसलिए जीव और अजीव दोनों तत्वों और उनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्थूल रूप में समझाने के लिए जैनशास्त्रकारों ने नव तत्व का विधान प्रस्तुत किया है और ये नौ तत्व इस प्रकार हैं:—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष।² इन सब तत्वों का जैन अध्यात्मशास्त्र में बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है, परन्तु हमें यहां इन सबका इतनी सूक्ष्मता से विचार करने की आवश्यकता नहीं है।³

इन तत्वों में जिसमें चेतन हो वह जीव और जो चैतनरहित हो वह अजीव है।⁴ जैसा कि पहले ही कह आये हैं, इस सांसारिक अस्तित्व में जीव याने आत्मा और अजीव दोनों साथ साथ रहते हैं। इसलिए इस शरीर से सम्बद्ध आत्मा अच्छे और बुरे सब कर्मों का कर्ता बनती है। अपने शुद्ध स्वरूप में आत्मा अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य की स्वामिनी है। वह सम्पूर्ण है।⁵ आत्मा जब अपने सत्य, शाश्वत स्वरूप में होती है तब इन चार अनंत सिद्धियों का वह अनुभव करती है।⁶

सामान्य दृष्टि से केवल मुक्तजीवों को छोड़ कर सब संसारी जीवों की शक्ति और स्वच्छता अनंत समय से चले आते कर्मों के पुद्गलों रूपा सूक्ष्म आवरणों से ढकी होती है। आत्मा के स्वामाविक गुण कमोबेश प्रमाण में इस प्रकार आच्छादित रहते हैं और इसलिए पुण्य और पाप की विविध परिस्थितियां अनुभव की जाती हैं। जीव और अजीव के बाद के दो विभाग पुण्य और पाप के विचार की ओर हम इस प्रकार पहुंच जाते हैं।

आत्मा को जो पुद्गल अच्छे और परोपकारी कार्यों के परिणाम स्वरूप चिपटते हैं, उनका समावेश पुण्य में होता है। इससे विपरीत स्थिति में जो चिपटते हैं वही पाप है।⁷ पुण्यशील कर्म पुण्य और पापमय कर्म पाप है। जब आत्मा शुभाशुभ कर्म की सत्ता के अधीन इस प्रकार प्रयत्नशील होती है तो मन, वचन और काया की प्रवृत्तियां उसके इन प्रयत्नों में सहायक होती हैं। इससे धार्मिक पुद्गलों के आगमन को अवसर मिलता है और आत्मा उन पुद्गलों के साथ बंध जाती है अथवा उनके चिपटने में वह रुकावट डालती है। इस प्रकार आश्रव, संवर और बंध अस्तित्व में आते हैं।

1. "पुद्गल चेतनाहीन है, आत्म चेतन है। पुद्गल में इच्छा नहीं है परन्तु आत्मा द्वारा उसका ढांचा बनता है। आत्मा और पुद्गल का संबंध भौतिक है, और वह आत्मा की प्रवृत्तियों से प्रभावित होता है। बंधन को कर्म कहते हैं क्योंकि वह आत्मा का कार्य याने कर्म है। यह पौद्गलिक है और अति सूक्ष्म कार्मिक पुद्गलों का यह ऐसा सूक्ष्म बन्धन है कि वह आत्मा को ऊर्ध्वगमन कर अनंतज्ञान, अनंतसुख और अव्याबाध शांति के स्थान मोक्ष में नहीं जाने देता है। "जैनी, वही, पृ. 26; कर्ता शुभाशुभं कर्मभोक्ता कर्मफलस्य च...हरिभद्र, वही, श्लो. 48।
2. जीवा-जीवो तथा पुण्यं पापमांश्रवसंवरौ। बन्धश्च निर्जरामोक्षो नव तत्वानि तन्मते ॥ हरिभद्र, वही, श्लो. 47। देखो कुन्दकुन्दाचार्य, पंचास्तिकायसार, गाथा 108 भी।
3. देखो स्टीवेन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 299-311।
4. चैतन्य लक्षणो जीवे, यश्चैतद्वैपरीत्यवान्। अजीवः स...। हरिभद्र, वही, पृ. 49।
5. दर्शन और ज्ञान में जैन विभेद करते हैं। पदार्थों के सामान्य ज्ञान को वेद दर्शन कहते हैं जैसे में पट देखता हूं। पदार्थ कि विशिष्टता का जानना ज्ञान है जैसे मैं न केवल पट ही देखता हूं अपितु यह भी जानता हूं कि वह किसका है, किस जाति का है, कहां का बना है आदि आदि। परिचय करते सबसे पहले दर्शन होता है जिसके पश्चात् ज्ञान। शुद्ध आत्मा अनंतदर्शन और अनंतज्ञान पूर्ण विशिष्टता सहित होता है—दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 129। 6. जैनी, वही पृ. 1।
7. पुण्यं सत्कर्म पुद्गलाः। हरिभद्र, वही, श्लो. 49। पापं तद्विपरीतं तु...वही श्लो. 50।

अधिक स्पष्टता से कहें तो मन, वचन और काया के व्यापार जो आत्मा का कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध कराते हैं वह आश्रव है, और जिन व्यापारों से कर्म पुद्गलों का आगमन रुक जाता है वह संवर है। कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ तन्मय सम्बन्ध हो जाना ही बंध है।¹ इस प्रकार जैनमतानुसार हम स्वयम् अपनी स्थिति के लिए सर्वथा उत्तरदायी हैं। 'अज्ञानी, रोगी, दुःखी, दयाहीन, चातकी अथवा निर्बल चाहे जैसा भी कोई क्यों न हो उसका कारण इस जन्म से ही नहीं अपितु अनंत काल (भूतकाल) के जन्मों से हम जो ग्रहण सूक्ष्म परन्तु सत्य पुद्गलों को ग्रहण करते आ रहे हैं, और यही आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान, आनन्द, प्रेम, दया और शक्ति आदि का अवरोध करते हैं और हमें अपकृत्य करने की प्रेरणा देते हैं।'²

कर्म रूपी इन सब बन्धनों से हमारी आध्यात्मिक उन्नति रुक जाएगी ऐसा विचार कर विराश होने का कोई भी कारण नहीं है। यद्यपि मनुष्य के कर्म बहुत कुछ उसको बनाते हैं, फिर भी सत्कार्य के लिए उसमें अनंतशक्ति और अनंतवीर्य है जिससे समय समय पर कर्म के प्रभाव का दबाव होते हुए भी ये शक्तियां कर्म द्वारा किसी भी समय निःसत्व नहीं की जा सकती हैं। जैनशास्त्र कहता है कि पूर्ण धार्मिक जीवन और तप से इन सब कर्मों का नाश किया जा सकता है और आत्मा अपनी स्वाभाविक उच्च दशा को जो कि मोक्ष है, प्राप्त कर सकता है। डा. व्हीलर कहता है कि 'नातपुत्र प्रारब्धवादी थे यह दोष प्रतिपक्षी के प्रति घृणा और उसकी अपकीर्ति करने की दृष्टि से उत्पन्न की हुई कल्पना और परिणाम मात्र ही समझना चाहिए।'³

कर्म को भाड़ कर फेंक देने अथवा उसे क्षय कर देने को निर्जरा कहते हैं और सब कर्म का सर्वथा नाश याने कार्मिक पुद्गलों के आत्मा की सम्पूर्ण मुक्ति ही मोक्ष है।⁴ आत्मा के परिणामों में फेरफार होने से, उस पर चिपके हुए कर्म भोग लेने से अथवा परिपाक पूर्व ही तपस्या से उनकी निर्जरा की जा सकती है। जब सब कर्मों का क्षय हो जाता है तभी मोक्ष या मुक्ति मिलती है।⁵

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के लक्षणों से यह बात स्पष्ट है कि जब तक जीव अच्छे या बुरे कर्मों से सम्पूर्ण आत्मशुद्धि द्वारा अन्तिम छुटकारा प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक एक या दूसरी रीति से ये कर्म आत्मा से चिपके

1. ...मिथ्यात्वाद्यास्तुहेतवः । यस्तेबन्धः स विज्ञेय आश्रवो जिनशासने । संवरस्तनिरोधत्तु बन्धोजीवस्य अपर्णः । अन्धोन्यानुगमात्कर्मसम्बन्धो यो द्वयोरपि ॥ हरिभद्र, वही, श्लोक 50-51।

2. वारेन, वही, पृ. 5 । 'शुद्ध आत्मा की स्वाभाविक पूर्णता भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म पुद्गलों से आच्छादित रहती है। जो उसके सम्यग्ज्ञान को आच्छादित करते हैं उन्हें ज्ञानावरणीय, जो उसके सम्यक्दर्शन को आच्छादित करते हैं जैसे कि निद्रा में बाधक आदि, उन्हें दर्शनावरणीय, जो आत्मा को अनंतसुख प्रकृति को ढकें रख कर उसे सुखदुःख का अनुभव कराते हैं वे वेदनीय, और जो सम्यक्चारित्र के प्रति आत्मा की सम्यक्श्रद्धा को रोकते हैं, वे मोहनीय कर्म हैं।' दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 190-191 । इन चार कर्मों के अतिरिक्त भी चार प्रकार के कर्म और हैं जिन्हें आयु कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अंतराय कर्म कहते हैं। इनसे क्रमशः आयु की स्थिति, वैयक्तिक स्वभाव, कुल अथवा जाति, और आत्मा की सफलता या उन्नति की अवरोधक निसर्गज शक्ति का निर्णय होता है।

3. व्हीलर, वही, पृ. 32 । देखो याकोबी, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 9, पृ. 159-160 ।

4. बद्धस्य कर्मणः शाटोयस्तु सा निर्जरा मता । आत्यन्तिको वियोगस्तु देहात्मेधि उच्यते ॥ हरिभद्र वही श्लोक 52 । 5. विपाकात्तपसा वा कर्मपरीशाटो कर्मात्मसंयोगध्वंसः निर्जराः कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणः मोक्षः...

उपास्वातिवाचक, तत्त्वार्थविमल सूत्र (मोतीलाल लवाजी सम्पादित), पृ. 7, टिप्पण ।

हुए ही रहते हैं और इसलिए इस जगत में कार्मिक वर्गणायुक्त जीव अज्ञान, दुःख, दरिद्रता, वैभव आदि द्वारा बाह्य सुखदुःख अनुभव करता है। जीव के ऐसे विलक्षण परिभ्रमण को ही संसार कहा जाता है उससे मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष या अन्तिम छुटकारा है। इसमें जीव को बाहर से कुछ भी नहीं प्राप्त करना है परन्तु कार्मिक बन्धनों के पाश में से छूट कर अपनी स्वाभाविक स्थिति मात्र ही पाना है।¹

संक्षेप में सब कर्म बन्धनों से आत्मा की मुक्ति ही मोक्ष दशा है। शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म आत्मा को बादलों की भांति आवरणरूप हैं। जब बादल हट जाते हैं तो जैसे भल-भलाट चमकता हुआ सूर्य प्रकाशमान हो जाता है, वैसे ही कर्मरूपी आवरण के दूर हो जाने पर आत्मा के सकल गुण प्रकट हो जाते हैं। इसमें एक वस्तु दूसरे का स्थान ले लेती हो वैसी कोई भी बात नहीं है। सिर्फ विघ्नकर्ता वस्तु का ही नाश इसमें होता है। जब कोई पक्षी पिंजरे में से मुक्त होता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि पक्षी पिंजरे को छोड़ कर दूसरी वस्तु ग्रहण कर रहा है। परन्तु यही अर्थ है कि परतंत्रता रूप पिंजरे को ही वह त्याग कर रहा है। इसी प्रकार आत्मा जब मोक्ष प्राप्त करता है तब सब पुण्य एवं पाप कर्मों का सर्वथा नाश कर वह कोई नई वस्तु ग्रहण नहीं करता है अपितु वह शुद्ध आत्मस्वरूप का तब अनुभव करता है। इस प्रकार जब आत्मा को मोक्ष मिल जाता है तब वह पवित्र और मुक्त आत्मा भौतिक शरीर और उसके अंतराय से मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक दशा को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य इतना ही है कि मुक्त आत्मा अपनी उज्ज्वलता, आनंद, ज्ञान और शक्ति सहित पूर्ण रूप में प्रकट हो जाता है।

तीन रत्नों द्वारा मोक्ष:—

सुख दुःख की सब परिस्थितियों के मूल को इस प्रकार समझने पर ही मोक्ष प्राप्त कैसे किया जाए यह प्रश्न उपस्थिति होता है। औत्तर-बाह्य तपश्चर्या से जीवन के दुखों में से बाहर निकलने का मार्ग जैनधर्म बताता है। जिन भगवान ने बताया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र इन तीन रत्नों द्वारा मोक्ष मिल सकता है।² प्रथम दृष्टि में पृथक-पृथक दिखते हुए भी ये तीनों बौद्धधर्म के त्रिरत्न-बुद्ध, नियम और संघ से मिलते हुए ही हैं।³

यह “रत्नत्रय” जिसका परिणाम, जैनों के अनुसार, आत्मा की मुक्ति है, उस जैन योग का मूल आधार है जिसे हेमचन्द्र मोक्ष का कारण कहते हैं।⁴ इनमें से पहला रत्न कहता है कि जिन-प्ररूपित तत्त्वों में श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।⁵ इसका अस्वीकार एक प्रकार का संशयवाद है कि जो सब प्रकार के गंभीर विचार में रुकावट करता है। इस सम्यग्दर्शन का एक मात्र लक्ष्य यह है कि “शुष्क न्याय और कुतर्क वितण्डा से नष्ट होने अथवा

1. ...आत्मनः स्वभावसंभवस्थानं वही...स्वभावजं सोख्यम् हेमचन्द्र, योगशास्त्र, प्रकाश 11, श्लोक 61, पृ. 1 हस्तप्रति, भण्डारकर प्रा. मं. पुस्तकालय सूची 1886-1892 सं. 1315।
2. सम्यग् दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। उमास्वातिवाचक, वही, अध्या. 1, सूत्र 1। देखो हरिभद्र, वही, श्लो. 53। 3. वार्थ, वही, पृ 147। “बुद्ध, नियम और संघ, इन बौद्ध त्रिरत्नों से जैन इन त्रिरत्नों की तुलना करना अवश्य ही मनोरंजक है। मुसलमानी त्रिपुटी, खेर मेर और बंदगी, और पारसी त्रिवर्ग याने पवित्र मन, पवित्र वाचा और पवित्र वर्तन भी तुलनीय है।” स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 247।
4. चतुर्वर्गे अग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम् ॥ ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपं रत्नत्रयं च मः -हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 1, श्लो. 15, पृ 1। 5. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ -उमास्वातिवाचक, वही, अध्या. 1. सूत्र 2। यहां जिन तत्त्वों का निर्देश किया गया है वे उपर्युक्त नव-तत्व ही हैं। हरिभद्र, वही, पृ. 53।

संशयवाद के खार से खाई जाने के स्थान में इसकी ज्ञान के वृक्ष रूप में वृद्धि हो और यह चरित्र के सर्वमंगलमय फल में फलित हो ।¹ इस प्रकार इन त्रिरत्नों में अनन्यतम महत्व का रत्न तो सम्यग्दर्शन ही है क्योंकि संशयवाद की आत्म-प्रवंचना और जटिल व्यर्थता से हमारी रक्षा यही करता है । पक्षान्तर में सम्यग्ज्ञान हमें उन सब बातों की सूक्ष्म परीक्षा करने की योग्यता देता है कि जो हमारे मानस पर श्रद्धा द्वारा अंकित होती हैं । संक्षेप में सम्यग्ज्ञान हमें उपर्युक्त तत्त्वों की यथार्थ और स्पष्ट अभिव्यक्ति कराता है । वस्तुतः सम्यग्ज्ञान जिनों द्वारा प्ररूपित जैनधर्म और उसके सिद्धान्तों का ज्ञान ही है ।² संक्षेप में श्रद्धायुक्त ज्ञान ही हमें अन्तिम ध्येयरूप सम्यक्चारित्र की ओर ले जाता है ।

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन दोनों ही यदि सम्यक्चारित्र रहित हों तो व्यर्थ हैं । जिन द्वारा प्ररूपित सर्व नियमों के पालन में ही सम्यक्चारित्रक का समावेश होता है और उसी के द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है । हमारा अन्तिम ध्येय मोक्ष ही होने से स्वभावतः सम्यक्चारित्र ऐसा होना चाहिए कि जो शरीर का महत्व घटाए और आत्मा को उन्नत करे । मन, वचन और काया से पापरूप व्यापार का त्याग ही, संक्षेप में कहे तो सम्यक्चारित्र है ।³

व्यवहारिक जीवन में चारित्र के दो भाग किए गए हैं:—1. साधू-चारित्र अर्थात् साधू की चर्या, और 2. गृहस्थ-चारित्र अर्थात् गृहस्थी की चर्या । परन्तु यहां इनके विवरण में जाना आवश्यक नहीं है । इतना ही कह देना यहां पर्याप्त होगा कि गृहस्थ-चारित्र की अपेक्षा साधू चरित्र के नियम स्वाभाविकतः ही कड़े होते हैं क्योंकि कठिनतम होते हुए भी निर्वाण का निकटतम मार्ग वही है । गृहस्थ-जीवन का ध्येय भी निर्वाण प्राप्ति ही है परन्तु यह मार्ग लम्बा और धीरा है ।

जैनधर्म स्वीकार के पूर्व वह प्रत्येक मनुष्य से नियमन की तीव्रता, दृढ़-इच्छा, शक्ति और शुद्ध चारित्र की अपेक्षा रखता है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह⁴ के पांच महाव्रतों से प्रारम्भ कर मन, वचन और काया का संयम पोषण करते हुए मनुष्य आध्यात्मिक जीवन की पराकाष्ठा को पहुंच जाता है कि जहां जीवन-मरण की आकांक्षा नहीं है और अन्त में अनशनव्रती या अनाहारी रह कर मृत्यु का स्वागत किया जाता है ।⁵

जैन आचारशास्त्र इतना सूक्ष्म और विचारपूर्वक रचा हुआ है कि यह स्वयम् अभ्यास रूप है ।⁶ हमने जीवन

1. जैनी, वही, पृ. 34 । 2. ...तत्वानां...। ...अवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं... ॥ —हेमचन्द्र वही, प्रकाश 1, श्लो. 16, पृ. 1 । जैन पांच प्रकार के ज्ञान मानते हैं और बहुत ही सुक्ष्मता से सर्वज्ञता तक पहुंचाने वाले ज्ञान की इन पांचों श्रेणियों का विवेचन करते हैं, वे पांच ज्ञान हैं —मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान । इनको अंगरेजी में क्रमशः कहा जा सकता है:—सेन्स नालेज (Sense Knowledge), टेस्टीमनी (Testimony), नालेज आफ दी रिमोट (Knowledge of the remote), थाटरीडिंग (Thought reading) और ओम्नीसीएन्स (Omniscience) ।

3. सर्वसावदययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते । —वही, प्रकाश 1, श्लो. 18, पृ. 2 ।

4. अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।...विमुक्तये ॥ —हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 1, श्लो. 19, पृ. 2 ।

5. मरणकाल य अणसणा । —उत्तराध्ययनसूत्र, अध्या. 30 गाथा 9 ।

6. "जैनदर्शन का मुख्य इसमें ही नहीं है कि इसने, हिन्दुधर्म के असमान, दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ नैतिक शिक्षा भी जोड़ दी है अपितु इसमें भी है कि इसने मानवी प्रकृति का अद्भुत ज्ञान भी अपनी नीति के प्रदर्शन में बताया है ।"—स्टीवन्सन (श्रीमती), वही. पृ. 123 ।

और मोक्ष के जैन दृष्टि कोण का जो अब तक विचार किया है उसका उपसंहार कर जैनधर्म की अन्य प्रमुखता का विचार करेंगे। आचार्य कुंदकुंद के शब्दों में इस प्रकार संवरण करेंगे :—

“आत्मा ही अपने कर्म का कर्ता और भोक्ता है वह अज्ञानरूप पडल से अंध बना हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यह संसार श्रद्धालु के लिए मर्यादित और अश्रद्धालु के लिए अमर्यादित है।”

“यह अज्ञान का पडदा समझ और इच्छाशक्ति को घेरे हुए है। इसको जड़मूल से चीर कर, रत्नत्रय से सुसज्जित हो, जिस निर्भय-यात्री ने परिस्थिति द्वारा उत्पन्न सुख दुःख को जीत लिया है और आत्मज्ञान के आदर्शों में से प्रकाश प्राप्त करते हुए विकट मार्ग में जो चल रहा है वही पूर्णता के देवी मन्दिर में पहुंचता है।”¹

इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों से घिरा हुआ और अच्छे बुरे कर्मों के कारण अपनी स्वाभाविक स्थिति से बलात्कार दूर हुआ आत्मा जब इन सब विघातक और बाह्य आवरणों को दूर फेंक देता है तभी वह ईश्वर या परमात्मा के सब गुणों को धारण कर लेता है ऐसा कहा जाता है।² कर्म रहित होने के पश्चात् सर्वज्ञ बना हुआ यह आत्मा प्रशांत अविकारी और शाश्वत सुख प्राप्त करता है।³ सच तो यह है कि ऐसा आत्मा ही जैनधर्म में ईश्वर का आदर्श प्रस्तुत करता है और⁴ एक समय सर्वोत्तम पद पर पहुंच कर फिर उसका वहां से पतन संभव ही नहीं है। श्री उमास्वातिवाचक कहते हैं कि—

दग्धे बीजे यश्चाज्यन्तं प्रातुर्भवति नाङ्कुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥

अर्थात् भूमि में के बीज जल जाने पर फिर से अंकुरित नहीं होते उसी प्रकार कर्म रूप बीज जल जाने पर उनमें से संसार रूप अंकुर नहीं फुट सकते हैं।⁵

इस प्रकार ईश्वर शब्द से यद्यपि किसी व्यक्ति विशेष का निर्देश नहीं है तो भी सर्व मान्य गुण जब मनुष्य में पूर्ण विकसित हो जाते हैं तब वह ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है। ईश्वर मनुष्य की आत्मा में छुपी शक्तियों का सर्वोत्तम, महान् और सम्पूर्ण प्रकाश या विकास मात्र है।⁶

तीर्थंकर और केवली:—

यहां इतनी सूचना कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि ऐसी सर्वज्ञ आत्माओं में बुद्धि ही नाम कर्म⁷ के

1. कुन्दकुन्दाचार्य, पंचास्तिकायसार, सेबुजे, पुस्त. 3, पृ. 75-76 ।

2. “संक्षेप में शृष्टिकर्तृव्य सिद्धान्त के मानने वाले ईश्वर को एक मानव ही बना देते हैं और उसे आवश्यकता और अपूर्णता की सतह तक नीचा खींच लाते हैं। पक्षान्तर में जैनधर्म मनुष्य को ईश्वरत्व में ऊंचा उठाता है और उसे दृढ़ श्रद्धा, सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान और फ़िलकं जीवन द्वारा यथा संभव ईश्वरत्व के निकटतम पहुंचने की पूरी-पूरी प्रेरणा देता है।” —जैनी वही, पृ. 6 ।

3. कुन्दकुन्दाचार्य वही, गाथा 151 (जैनी, वही, पृ. 77 अंगरेजी अनुवाद) ।

4. कर्मक्षयस्स करणेन भवतीश्वरो न पुनर्नित्यमुक्तः कश्चिदेकः सनातन ईश्वरः । विजयधर्मसूरि, वही, पृ. 150 ।

5. उमास्वातिवाचक, वही, अध्या. 10, सूत्र 8, पृ. 201 । अकर्मकीमतः परमात्मा न पुनः कर्मवान्हीत भवितुम् मुक्तिं प्राप्य न पुनरोधो वतारं:...—विजयधर्मसूरि, वही और वही स्थान ।

6. राधाकृष्णन, वही, भाग 1, पृ. 331 ।

7. जैसे गोत्र नामकर्म महावीर के क्षत्रियाणी के गर्भ में ध्यवन में बाधक हुआ था वैसे ही यह नामकर्म है । तीर्थंकरनामसंज्ञं न यस्य कर्मास्ति... —हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 11, इलो. 48 पृ. 30 ।

फलस्वरूप तीर्थंकर कहलाती हैं। तीर्थंकर का खास लक्षण है कि उन्हें किसी के उपदेश बिना ही आत्मा की स्वयं जागृति होती है और वे अपने उस शरीर से सत्यधर्म का उपदेश और प्रचार करते हैं। अन्य सर्वज्ञ आत्माएं सामान्य केवली कही जाती हैं।¹ तीर्थंकर अपनी अद्वितीय प्रभुता, प्रगल्भ देवत्व और असाधारण एवम् आलौकिक सुन्दरता, शक्ति, प्रतिभा और प्रकाश से जगत पर चिर स्मरणीय छाप छोड़ जाते हैं।

तीर्थंकर कौन ?

तीर्थंकर जैनों का एक विशिष्ट परिभाषिक शब्द है। इसका बहुधा साधू, साध्वी, श्रावक और श्राविका के चतुर्विध संघ का स्थापक अर्थ भी किया जाता है, परन्तु यथार्थ अर्थ तो यही है कि इस विचित्र संसार रूप समुद्र में से पार उतारने के लिए और अध्यात्मिक सुख के शिखर पर पहुंचने के लिए आत्मिक प्रकाश चहुं ओर जो फैलाता है, वही तीर्थंकर कहलाता है। क्योंकि उस प्रकाश द्वारा ही आत्मिक सुख की उच्चता को पहुंचा जा सकता है। ये तीर्थंकर धर्म को नव जीवन, नया प्रकाश और पुनर्जागृति देकर जगत का कल्याण करते हैं और सर्व पूर्व कालों से जगत को आगे ला देते हैं।⁴ यह स्वाभाविक है कि आत्मा को चिपके हुए अच्छे-बुरे सभी कर्मों का सर्वथा नाश करने वाले ही उस उच्चतम दशा को प्राप्त कर सकते हैं और अपनी महान् विजय के चिह्न स्वरूप सभी तीर्थंकर जिन या विजयी कहे जाते हैं। आचार्य योगेन्द्र कहते हैं कि “जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य है वही पूर्ण सन्त है और स्वयं प्रकाशी होने के कारण वह जिनदेव या आत्मविजयी कहा जाता है।³ ये सब सर्वज्ञ जीवात्मा इस जगत पर की निश्चित आयु पूर्ण कर अन्तिम स्थान याने मोक्ष प्राप्त करते हैं।⁴ इस प्रकार जैनों का यह निर्वाण या मोक्ष गुण और सम्बन्ध विहीन एवम् पुनर्जन्म से विमुक्त स्थिति है। बुद्ध द्वारा प्ररूपित मोक्ष की भांति यह शून्य में विलीन हो जाना नहीं है।⁵ उसमें देह से छुटकारा है परन्तु आत्मा के अस्तित्व का नाश नहीं है। “जैनों की दृष्टि में अस्तित्व तो अनिष्ट है नहीं, सिर्फ जीवन अनिष्ट है।”⁶ शरीर जब आत्मा से पृथक हो जाता है तो चेतन आत्मा जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाती है, और इस प्रकार उसका निर्वाण, आत्मा का नाश नहीं अपितु, अनन्त आनन्द की स्थिति में प्रवेश मात्र है।” (मुक्त) आत्मा न तो लम्बा है और न ठिगना...; न श्याम है और न श्वेत...; न कटु है और न तिक्त...; वह अशरीरी, पुनर्जन्मरहित, पुद्गल के सम्बन्ध रहित, स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद रहित है। वह दृष्टा और ज्ञाता है, परन्तु उसकी कोई उपमा नहीं है (जिसके द्वारा मुक्त आत्मा की प्रकृति समझी जा सके)। वह अरूपी सत्ता है, वह शब्दातीत है इसलिए उसका कोई शब्द नहीं है।⁷

1. देखें जैनी, वही पृ. 2।
2. “जब नया तीर्थंकर धर्म प्रवर्तता है तो पूर्व तीर्थंकर के अनुयायी इस नए तीर्थंकर का अनुसरण करने लगते हैं जैसा कि पार्श्वनाथ के अनुयायी महावीर का अनुसरण करने लगे थे।” स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 241।
3. देखो जैनी वही, पृ. 78।
4. कुछ विशदता के लिए हम यहां यह दें कि जैनों का दिगम्बर सम्प्रदाय बौद्धों से इस बात में सहमत है कि कोई भी स्त्री निर्वाण प्राप्ति की योग्यता नहीं रखती है। दिगम्बरों की मान्यतानुसार मोक्ष प्राप्ति के पूर्व स्त्री को पुरुष रूप में एक जन्म फिर से लेना आवश्यक होता है। पक्षान्तर में श्वेताम्बर मोक्ष का मार्ग स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान रूप से मुक्त मानते हैं। अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुं वत्, श्री शाकटायनाचार्य ने अपने ‘स्त्री-मुक्ति-केवलिमुक्तिप्रकरणयुग्मम्’ में स्पष्ट कहा है। देखो जैसासं, भाग 2, अंक 3-4, परिशिष्ट 2 श्लो. 2।
5. ‘बौद्धलोग...निर्वाण शब्द का प्रयोग तृष्णा के विलेपन में ही नहीं जिससे जैन भी सहमत होंगे, अपितु आत्मा के विलीन के अर्थ में भी करते हैं। परन्तु इसको जैन प्रखरता से अस्वीकार करते हैं।’ स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 172।
6. वार्थ वही, पृ. 147
7. याकोबो, सेबुई, पुस्तक 22, पृ. 52।

अहिंसा का आदर्श:—

जैनधर्म के मुख्यताओं का विचार करने पर सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करने वाली बात उसका अहिंसा का आदर्श है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि “जीव चेतन, अरूपी, उपयोग वाला, कर्म से जकड़ा हुआ, कर्म का कर्ता और भोक्ता, सूक्ष्म-स्थूल शरीर धारण करने वाला, और कर्म बन्धन से छूट कर लोक के अग्र भाग तक उर्ध्व गमन करने वाला है।”¹ जैनों के अनुसार जीव शाश्वत है और कार्य-कारण के अबाधित नियमाधीन है। मनुष्य में जीव होता है इतना ही नहीं, अपितु वनस्पति, पशु, पक्षी, जीव जन्तु, पृथ्वी, अग्नि, पानी, हवा आदि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अदृश्य अणुओं में भी जीव होता है। याकोबी कहता है कि “यह जड़चेतनवाद सिद्धान्त जैनों की प्रमुख विशेषता है और “उनकी सम्पूर्णां दार्शनिक पद्धति और सदाचार संहिता में वह अंतर्प्रोत है।”² पाषाण वृक्ष और बहते भरणां आदि में भूतास्तित्व की मान्यता से यह सिद्धान्त एक दम भिन्न है।³ इस भूततत्व को अपर रूप अमृत्य प्राणियों के नाश द्वारा रक्त बलि देकर सन्तुष्ट करना होता था। परन्तु जैनों की दृष्टि में जीव मात्र, चाहे किसी भी रूप में वह हो, पवित्र है और सब एक ही ध्येय के लिए उच्च दशा में जाने वाले होते हैं इसलिए उन्हें किसी भी प्रकार के बल प्रयोग द्वारा दुःखी प्राणविहीन नहीं किया जाना चाहिए। जैनधर्म में प्रमुखतम प्रभुत्वशील लक्षण अर्थात् अहिंसा सिद्धान्त की सही युक्ति या मनस्तत्व की पृष्ठभूमि है।⁴

अहिंसा की परिभाषा आचार्य हेमचन्द्र ने इस प्रकार की है:—

न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् ।
त्रसनां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥

“प्रमादवश पंचेन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय किसी भी जीव का हनन नहीं करने में अहिंसाव्रत का पालन माना जाता है।”⁵

आचार्य श्री हेमचन्द्र इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए “योगशास्त्र” में जो दृष्टांत देते हैं वैसा अत्यन्त कहीं भी मिलना सम्भव नहीं है। वह दृष्टांत इस प्रकार है। श्रेणिक राजा के काल में अपनी क्रूरता के लिए प्रख्यात ऐसा कालसौरिक नाम का एक कसाई था। उसे सुलसा नाम का एक पुत्र था जो कि महावीर का पूर्ण भक्त था और इसलिए धर्म भावना से वह श्रेणिक राजा के पुत्र अमयकुमार का मित्र था। इस कसाई का मानस इतना क्रूर और क्षुद्र था कि उसे जैनों की अहिंसा के प्रतिकूल भुक्ताना एकदम ही असम्भव था। श्रेणिक महावीर का परम भक्त था। इसलिए वह इस बात से खूब दुःखी होता था और इस कसाई को उसने उच्च बुद्धि से प्रेरित हो कर इस प्रकार कहा।.....

‘...सूनां विमुंच यत् ।

दास्ये हर्मथर्मथस्य लेमस्त्वमसि सैनिकः ॥

1. कुन्दकुन्दाचार्य सेबुजै, पुस्त. 3, पृ. 27; देखो द्रव्यसंग्रह, सेबुजै, पुस्त. 1, पृ. 6-7।
2. याकोबी, वही, प्रस्तावना पृ. 33।
3. सर्वजीवतत्व की भावना कि प्रायः सभी पदार्थों में आत्मा है, सिद्ध करती हैं कि जैनधर्म महावीर और बुद्ध से भी पहले का है। इस विश्वास का उद्भव अति प्राचीन काल में ही हो गया होगा जब कि धार्मिक विश्वासों का उच्चतम रूप सामान्य रूप से भारतीय मानस पर अधिकार नहीं जमा पाया होगा। देखो याकोबी, वही, पुस्त. 45, प्रस्तावना, पृ. 33।
4. देखो स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 53।
5. हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 1, श्लो. 20, पृ. 2। (अनुवाद के लिए देखो स्टीवन्सन, श्रीमती, वही, पृ. 234)।

अर्थात् जो तू अपना यह कसाई का धन्धा छोड़ दे तो मैं तुझ को धन दूंगा क्योंकि तू धन के लिए ही लोभ से कसाई है। राजा की इस प्रार्थना का कसाई पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ और उसने निडर होकर राजा को उत्तर दिया कि—

सूनायां मनु को दोषो यया जीवन्ति मानवाः ।
तां न जातुं त्याजामीति..... ॥

अर्थात् जिससे मनुष्यों का निर्वाह होता है उस कसाईपन से क्या हानि है ? मैं तो इसे कदापि छोड़ने वाला नहीं हूँ ।...

इस प्रकार राजा ने जब देखा कि कसाईपन से निवृत्त करने का अन्य मार्ग नहीं है, तो उसने उसे एक अंधेरे कुएँ में कैद कर दिया परन्तु सारी रात उसमें लटकाए हुए रखा। परन्तु वहाँ भी उस कसाई की दुर्बुद्धि ने उसे कुएँ की भीत पर पशुओं की आकृतियाँ खींचने और उन्हें वहाँ की वहाँ मिटा देने की प्रेरणा दी और इस प्रकार वह अपनी वृत्ति सन्तुष्ट करता ही रहा। अन्त में वह किसी भयंकर व्याधि में ग्रसित होकर मरा एवम् नरक में गया।

पिता की मृत्यु के पश्चात् सुलस के सगे-सम्बन्धी सब तुरन्त ही एकत्र हुए और उसको कुल-व्यवसाय चलाते रहने को समझाया। उत्तर में उसने उनसे कहा कि “जैसे मुझे मेरा जीव प्रिय है वैसे ही वह सब जीवों-प्राणियों को प्रिय है, और यह सब जानते हुए भी कौन मूढ़ हिंसा के व्यवसाय द्वारा जीवन निर्वाह करना पसन्द कर सकता है ?” परन्तु सुलस के सगे-सम्बन्धियों पर इस तर्क का प्रभाव कुछ भी नहीं हुआ, यही नहीं उनसे उसके कर्मों के फल में साझी बनने की पूरी-पूरी तत्परता दिखाई। फिर सुलस ने एक भैंसे को मारने का ढोंग करते हुए, अपने पिता की कुल्हाड़ी को अपने ही पैर पर मारकर एक भारी घाव कर लिया जिससे मूर्च्छित होकर वह भूमि पर गिर पड़ा। जब वह संचेत हुआ तो उन सम्बन्धियों से यों कहने लगा...बन्धवो यूयं विमण्य मम वेदानाम् ।’...हे भाइयों। अब आप मेरे इस दुःख में साझी बनिए याने इसमें का कुछ आप ले लीजिए। सिवा शाब्दिक सांत्वना देने के वे कोई भी कुछ नहीं कर सके। तब उसने अपने पूर्व वचनों का स्मरण कराते हुए उनसे कहा कि “...व्यथामियतीमपि । न मे ग्रहीतुमीशिध्वे तत्कथं नरकव्यथाम् ॥ अर्थात् आप जब इतनी सी मेरी व्यथा भी नहीं बंटा सकते हैं तो फिर नरक में मुझे मिलने वाला दुःख आप कैसे ले सकेंगे ? इस प्रकार सुलस ने सब सम्बन्धियों को अपनी मान्यता की ओर झुका लिया और जैन श्रावक के बारहव्रत अंगीकार कर मृत्योपरान्त वह स्वर्ग में गया।¹

इस कथा का सार एक दम स्पष्ट है। यह कर्म-सिद्धान्त जितनी ही ग्रहिसा-सिद्धांत के प्रति जैनों के अत्यन्त-ग्रह की घोषणा करता है। यज्ञ के लिए पशु-हिंसा की जा सकती है ऐसे मनु के वाक्य उद्धृत करते हुए ‘योगशास्त्र’ में कहा गया है कि ‘नास्तिकों की अपेक्षा भी वे लोग अत्यन्त पापी हैं कि जो हिंसा की शिक्षा देनेवाले शास्त्र बनाते हैं।’²

1. हेमचन्द्र, योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्तिसहित, अध्या. 2, श्लो. 30, पृ. 91-95। बहुधा स्वर्ग को ही मोक्ष मान लिया जाता है परन्तु यह ठीक नहीं है। जैनों की दृष्टि में मोक्ष वह स्थिति है कि जहाँ से आत्मा कभी भी नहीं लौटती है। परन्तु स्वर्ग में जीव की आयु की सीमा है। परन्तु आत्मा जब मोक्ष पा लेती है तो सदा सर्वदा के लिए वह अनन्तसुख की भोक्ता हो जाती है। कभी आयु समाप्त नहीं होती है।

2. हार्पकिस, वही, पृ. 288।

व्यावहारिक जीवन में भी जैनों का जीवों के प्रति दयाभाव आश्चर्य जनक है जब तक जानना जानकर वह पण संघर्ष दिनों दिन बढ़ रहा है। आज के जैनों की वर्तनी की टीका करना किसी अपेक्षा से उचित भी हो फिर भी जैनों की अहिंसा का महान् आदर्श अर्थात् प्राणी मात्र पर प्रेम और उसके प्रति मित्रता अद्भुत है। हम सम्भने के लिए संक्षेप में कुछ कहना यहां उचित है। जैन माधु के लिए, किसी भी जाति की हिंसा उममे न हो। इसलिए, यह नियम है कि वह सदा तीन वस्तुएं अपने पास रखे ही एक पीने का पानी छानने के लिए वस्तु, दूसरा रजोहरण और तीसरा सूक्ष्म जीवों की जाने-अनजाने हो जानेवाली हिंसा को बचाने के लिए मुहपत्ती। 'इस नियम के परिपालनार्थ ही केशों का लोच, पूर्ण कण्ट कर होते हुए भी, किया जाता है, कि जो दोआ लेने के समय ही, प्राचीन प्रथानुसार, उतारे जाते हैं। केशलौच की यह प्रथा जैनों की विशिष्ट प्रथा है और भारत के अन्य किसी तपस्वी समाज में यह नहीं पाई जाती है।'¹

इसी प्रकार अहिंसाव्रत का भंग नहीं हो जाए इस दृष्टि में एक गृहस्थ जैनी भी दैनिक जीवन में बहुत मावधान रहता है। इसमें भी एक विशिष्टता है और वह यह कि वे रात में याने सूर्यास्त के पश्चात् इसलिए नहीं खाते और सम्भव होते पानी भी नहीं पीते हैं कि अनजान में भी कहीं जीव-जन्तु उनके खानेपीने में नहीं आ जाए। इसीलिए हेमचन्द्र कहते हैं कि 'जिस रात्रि के अन्धकार में मनुष्य भोजनादि में पड़नेवाले जीवजन्तु को देख नहीं सकता है, उस रात्रि में भोजन करना ही कौन चाहेगा ?'² इन सब प्रथाओं का विचार करते हुए यही कहा जा सकता है कि किसी हिन्दूधर्म ने अहिंसा याने जीव मात्र की रक्षा के लिए इतने मान और त्याग भाव को महत्त्व नहीं दिया है।'³

व्यावहारिक जीवन में नियमों की इन सब कठोरताओं से एक क्षण के लिए भी किसी को यह नहीं मान लेना चाहिए कि उपरोक्त नियमों के पालने से जैनधर्म जगत में खड़ा रही नहीं सकता है क्योंकि उससे राष्ट्र में गुलामी, अकर्मण्यता और दरिद्रता फैल जाएगी। 'जैनधर्म के विषय में ऐसी खोटी समझ का कारण है कि इसकी अपूर्ण जानकारी और पूर्वग्रह।'⁴ अपना कर्तव्य करते रहे। जितनी भी सहृदयता से वह कर सको करने रहे। 'यही संक्षेप में जैनधर्म की प्रमुख और सर्वप्रथम शिक्षा है। अहिंसा किसी भी मनुष्य के कर्तव्य निर्वहन में बाधक नहीं है।' जैनों की अहिंसा दुर्बलों की अहिंसा तो है ही नहीं। वह तो एक वीर आत्मा का आत्मबल है कि जो जगत के सब अनिष्ट बलों से उच्च है अथवा उच्च होने की अभिलाषा रखता है। हेमचन्द्र ने इसे इस सूत्र पर आधारित ठीक ही कहा है कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषुः।'⁵ गरीब से गरीब, नीच से नीच और मान भूने हुए के प्रति एक जैन का भाव कैसा होता है इसका उत्तराध्ययन सूत्र में एक बड़ा अच्छा दृष्टान्त दिया है जो इस प्रकार है:—

हरिकेश एक श्वपच याने चाण्डाल था। वह इन्द्रियों का दमन कर उच्चतम गुण प्राप्त एक महान् साधु हो गया था। एक समय गोचरी (मिशाचरी) के लिए भटकते हुए वह ब्राह्मणों के यज्ञ के एक बाड़े के पास आ पहुंचा। उसने वहां कहा:—

“हे ब्राह्मणों ! आप किस लिए यह अग्नि जला, पानी द्वारा बाह्य पवित्रता प्राप्त करने हो ? मुझ पुरुषों का तो यह कथन है कि जो बाह्य पवित्रता तुम खोज रहे हो, वह यथार्थ वस्तु नहीं है।”

1. अहलर, वही, पृ. 15। 2. हेमचन्द्र, वही, हस्तुपोथी, प्रकाश 3, श्लो. 49, पृ. 8

3. बाण, वही, पृ. 145। 4. जैनी, वही, पृ. 72।

5. आत्मवत् सर्वभूतेषु... हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 2, श्लो. 20, पृ. 3।

“तुम कुशधास, यज्ञ-यूप, काष्ठ और तृण का व्यवहार करते हो। प्रातः सायं पानी का आचमन करते हो और जीवित जन्तुओं का तुम नाश करते हो। इस प्रकार तुम अपने अज्ञान के कारण बारबार पाप करते हो।”

‘धर्म ही मेरा सरोवर है, ब्रह्मचर्य मेरा स्नानागार है जो मलिन नहीं है, परन्तु आत्मार्थे प्रति विशुद्ध है। तप उद्योग है, धर्म-व्यापार मेरे यज्ञ का चादू है; शरीर सूखे छा है, कर्म मेरी समिधा-लकड़ियां हैं, संयम मेरा यथार्थ पुरुषार्थ है और शांति बलिदान है। इनकी-साधु-पुरुषों ने प्रशंसा की है और वहीं मैं बलि देता हूँ।”

यह तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि उत्तरार्धयुग पुकार-पुकार कर कहता है कि “तपश्चर्या का फल दीख पड़ रहा है। जन्म का कोई महत्व नहीं है। शंभु के पुत्र हरिकेश पवित्रात्मा को देखो। उसकी शक्ति अनन्त है।”¹

उपरोक्त दृष्टान्त जनों के ग्राह्य उन नैतिक गुणों का स्पष्ट दिग्दर्शन करता है कि जिन्हें की प्राचीन काल के जैन पुनः पुनः उपदेश द्वारा शिक्षा दिया करते थे। वस्तुतः यह है कि इस धर्म का विशिष्ट लक्षण इसकी सर्वव्यापकता ही है। और उसकी पृष्ठ भूमि में उसका महान् आदर्श अहिंसा है जो केवल मोक्षार्थी जैन साधु का ही आदर्श नहीं अपितु उन सभी संघ के सदस्य साधुओं का आदर्श है जो दूसरों को भी पार लगाना चाहते हैं। “यह... मात्र कुलीनों आर्यों को ही नहीं, अपितु नीचकुल शूद्रों और भारत में अत्यन्त निरस्कृत माने जाते परदेशियों और म्लेच्छों तक को याने मनुष्य मात्र को मुक्ति की ओर झुका उनके लिए अपना द्वार मुक्त करने का महान् उद्देश घोषित करता है।”²

किसी भी वर्ग के व्यक्ति को अपने धर्म में स्वीकार करने की स्वतन्त्रता जैसी सार्वभौमिक भावना और इस प्रकार सहयोगिता³ के सिवा भी दूसरे धर्मों के प्रति जैनों की रखी गई उदार भावना भी कम प्रशंसनीय नहीं है। वह बताता है कि दूसरे के भावों को न तो नहीं पहुंचे इस विषय में जैनधर्म किस सीमा तक सतर्क था। श्रीमती स्टीवन्सन को भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि “जैनधर्म की अद्वितीय प्रतिष्ठा यह है कि वह अपना ध्येय सिद्ध करने के लिए परधर्मियों की योग्यता को भी स्वीकार करता है जबकि भारत के अनेक धर्म यह बात स्वीकार नहीं करते हैं।”⁴ दूसरे धर्मों के लिए बहुमान रखने की यह प्रशस्त भावना जैनधर्म की सर्वोत्तम प्रभावशाली अनेक विभूतियों का प्रमुख लक्षण है। पड़दर्शनसमुच्चय के जैनधर्म-विभाग के प्रारम्भ में ही आचार्य हरिभद्रसूरी कहते हैं कि —

पक्षपातो न मे वीरान् द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

1. याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 50-56 ।
2. बह्लर, वही, पृ. 3 । “जैनसंघ प्रति और श्रावक ऐसे दो विभागों में विभक्त है। यदि भारत के किसी भी भाग में, जैन जातिभेद को व्यावहारिक रूप में मानते हैं तो वह ठीक वैसा ही है कि जैसे कि दक्षिण भारत के ईसाईयों और मुसलमानों मानते हैं। यही कर्मासिंहलद्वीप के बौद्ध मानते हैं। इसका धर्म से जरा भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो सामाजिक उच्चता की भावना ही कारण है कि जो भारतियों के मस्तिष्क में खूब गहरी ठसी हुई और जिसे धर्मसुधारकों के वचन हीष्मितासकते हैं।” — याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 4 ।
3. “कैपिशी में निर्ग्रन्थों याने दिगम्बरों के देखे जाने पर ह्यूएनत्सांग (बील की सी-य-की, भा. 1, पृ. 55) का टिप्पण प्रत्यक्ष रूप से यह तथ्य बताता है कि उनसे कम से कम उत्तरे-पश्चिम में तो भारत की परिसीमाओं से परे अपना धर्म का प्रचार किया था।” — बह्लर, वही, पृ. 4 ।
4. स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 243 ।

अर्थात् 'मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि के प्रति ही कोई द्वेष है । जिसका कथन युक्तियुक्त हो उसको स्वीकार करने में मेरा कोई भी पूर्वग्रह नहीं है ।'

सामायिक और प्रतिक्रमण की दो आवश्यक क्रियाएँ:—

जैनों की जहाँ एक ओर ऐसी उदार भावना है वहाँ दूसरी ओर उनके अहिंसा के आदर्श ने उन्हें अपने दोष या पाप-स्वीकरण को भी जैनसध में पोषण और पर्याप्त प्रमुखता देने को बाध्य किया है । मनुष्य जीवन में हिंसा कुछ अंशों में अनिवार्य सी ही है और इसलिए सारे दिन होने वाले पापों और स्खलनाओं का दिन प्रति दिन ध्यान रहना और उनका दैनिक स्वीकरण अन्तिम ध्येय सिद्ध करने के लिए आवश्यक है । इसे जैनधर्म का अद्वितीय लक्षण नहीं माना जा सके तो भी जैनधर्म में दोष-स्वीकरण को जो महत्व दिया गया है वह अवश्य ही अद्वितीय है । इस दोष-स्वीकरण के तत्व में से ही फलित होने वाले दो विधान याने सामायिक और प्रतिक्रमण साधू और श्रावक दोनों के ही जीवन में महत्व के हैं । सुषर्मास्वामी का आवश्यकसूत्र तो यहाँ तक कहता है कि 'सामायिक से प्रारम्भ और विदुसार नामक चौदहवें पूर्व में समाप्त होने वाला ज्ञान ही सत्य याने सम्यग्ज्ञान है । उसका परिणाम सत् या सम्यक्चारित्र्य है और ऐसे चारित्र्य से निर्वाण प्राप्त होता है ।'²

सामायिक व्रत जिससे कि आत्मा स्वभाव की शिक्षा प्राप्त करता है, का विधान है कि दिन में कम से कम 48 मिनट अर्थात् दो घड़ी तो ध्यान में बिताए ही जाएं ।³ इस व्रत का अनिवार्यतम अंश 'करेमियंते' का पाठ है जिसका अर्थ इस प्रकार है:—

हे भगवन्त ! मैं सामायिक करता हूँ । मैं सब प्रकार पापमय व्यापारों से निवृत्त होता हूँ । जब तक मैं जीवित रहूँ, मन-वचन और काया से न तो मैं ही पाप करूँगा, और न किसी दूसरे से ही पाप कराऊँगा । हे भगवन्त ! मैं किए पापों को भी विसिराता याने छोड़ता हूँ । गुरु और आत्मा की साक्षी से मैं पाप का मिच्छामि दुक्कड़ देता हूँ । और पापमय कार्यों से मेरी आत्मा को मुक्त रखने के लिए मैं यह सामायिक व्रत स्वीकार करता हूँ ।⁴

महावीर ने संसार का त्याग कर साधू की दीक्षा ली उस समय उनसे उपरोक्त शब्द प्रतिज्ञा रूप से उच्चारण किए थे ।⁵ हरिभद्रसूरि ने आवश्यकसूत्र की टीका में इस सामायिक की नीचे लिखी व्याख्या की है:—

'जिसने सबभाव प्राप्त कर लिया है और जो सब प्राणियों में अपनी ही आत्मा को देखता है उसीने यथार्थतः सामायिकव्रत पालन किया है ।⁶ जहाँ तक आत्मा राग-द्वेष का त्याग नहीं करती है वहाँ तक किसी भी प्रकार का तप लाभकारक नहीं है जब जीव प्राणी मात्र के प्रति समभाव से देख सकता है तभी राग और द्वेष पर विजय प्राप्त उसने कर ली ऐसा कहा जाता है ।'⁷

1. हरिभद्र, वही, पृ. 39; देखो यह भी

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ हेमचन्द्र, महावीरस्तोत्र श्लो. 44 ।

2. सामाद्यमार्थं... । ...निध्वाणं ॥ आवश्यकसूत्र, गाथा 93, पृ. 69 ।

3. देखो स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 215 ।

4. करोमिमंते...वोसिरामि । आवश्यकसूत्र 454 ।

5. कृतपंचमौष्टिकलोचो भगवान्...करेमिसामाइमं...उच्चरति । कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका पृ. 96 । देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 281 ।

6. यः 'समः' मध्यस्थः, आत्मानमिव परं..., 'सर्वभूतेषु'...; तस्य सामायिकं भवति । आवश्यकसूत्र, पृ. 329 ।

7. देखो दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 201 ।

अब पडिक्रमणम् अर्थात् प्रतिक्रमण का विचार करें। इसमें पापों का मुक्त स्वीकरण और उनके लिए सूच्चाई से क्षमा मांगी जाती है। संक्षेप में कहें तो आत्मा को लगे हुए दोषों या पापों का यह प्रायश्चित्त है। "प्रतिक्रमण में किसी भी इन्द्रिय वाले जीव के प्रति किए हुए अपराध का स्मरण कर जैनी क्षमा मांगते हैं। इसके सिवा आरोग्य के नियमों के विरुद्ध किसी भी जीव-जन्तु की उत्पत्ति उनके द्वारा हो गई हो तो उसका भी इस समय विचार और प्रायश्चित्त किया जाता है।"¹ अहिंसा के सिद्धान्त में से उत्पन्न विश्व-बन्धुत्व के गुणों का विकास ही इस शिक्षा का स्वाभाविक परिणाम है और व्यावहारिक दृष्टि से मुक्ति के लिए हा-हा करती हुई मनुष्य जाति की सहायता करने का अर्थ इसमें से उद्भूत होता है। फिर जैनों का सामाजिक संगठन इस प्रकार का है कि उसमें उपरोक्त आदर्श व्यवहार में लाए जा सकते हैं।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त :—

अब हम जैन तत्त्वज्ञान के एक विशिष्ट लक्षण का विचार करें कि जो भारतीय न्यायशास्त्र को जैन दर्शन का विशिष्ट योगदान माना जाता है। "संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश और प्रचार ही सब धर्मों का हेतु होता है। प्रत्येक धर्म मनुष्य को जगत-प्रपंचों से परे जाने या देखने की शिक्षा देने का प्रयास करता है। जैनधर्म का भी यही प्रयत्न है परन्तु इसके कथन में उनसे इतना ही भेद है कि वह किसी भी वस्तु को एकान्त स्वरूप याने मर्यादित बिन्दु से नहीं देखता है।

संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैनधर्म के पास अपना ही तत्त्वज्ञान है जिसे स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त कहा जाता है। "नय का (दृष्टि बिन्दु का) सिद्धान्त जैन न्याय का विशिष्ट लक्षण है।"² हम ने देख ही लिया है कि जैन अध्यात्मशास्त्र जगत को दो प्रकार याने जीव और अजीव में विभक्त मानता है और प्रत्येक में उत्पत्ति-उत्पाद, व्यय-नाश और ध्रुवत्व-नित्यत्व के गुण स्वीकार करता है।³ यहां उत्पत्ति या उत्पाद का अर्थ नया सर्जन नहीं है क्योंकि जैन दृष्टि से सारा विश्व शाश्वत याने नित्य अनादि ही है। यहां इसका प्रयोग इस अर्थ में हुआ है कि इस शाश्वत जगत में पदार्थों का निरन्तर रूपान्तर होता ही रहता है।⁴ प्रत्येक वस्तु-पदार्थ सहज-स्वाभाविक गुणों की अपेक्षा से सत्-ध्रुव-नित्य है। परन्तु दूसरे पदार्थ के गुणधर्म की अपेक्षा से वह सत् नहीं होने से, असत् है यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। "अनुभव से ऐसा भी मालूम होता है कि शाश्वत तत्व प्रत्येक क्षण कितने ही गुणों को त्याग नए गुण ग्रहण करता जाता है।"⁵ इसी को संक्षेप में अनेकान्तवाद कहा जाता है।⁶ "बौद्धों के नानात्ववाद और उपनिषदों के ब्रह्मवाद के स्थान में ही जैनों का यह अनेकान्तवाद है।"⁷ इसी पर जैनों के स्याद्वादसिद्धान्त की रचना हुई है। "इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत पदार्थ को पृथक-पृथक दृष्टि बिन्दु से देखने पर नाना प्रकार के विरुद्ध दिखने वाले धर्म भी उसमें देखे जा सकते हैं।"⁸

प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्म गुण रहे हुए हैं जो सब एक ही समय में व्यक्त नहीं हो सकते हैं। फिर भी पृथक-पृथक अपेक्षा से ये सब धर्म उसमें सिद्ध किए जा सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ का भिन्न-भिन्न चार दृष्टियों से विचार

1. स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 101। 2. राधाकृष्णन, वही, भाग 1, पृ. 298।

3. वस्तुत्त्वं चोत्पादव्ययधोव्यात्मकम्...—हेमचन्द्र स्याद्वादमंजरी, पृ. 168। देखो वही, श्लो. 21-22। येनोत्पादव्ययधोव्ययुक्तं यत्सत्तदिष्यते। अनन्तधर्मकं वस्तु तनोक्तं मानगोवरः ॥—हरिभद्र, वही, श्लोक 57।

4. देखो वारेन, वही, पृ. 22-23। 5. दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 175।

6. तत्त्वं...जीवाजीवलक्षणम्, अनन्तधर्मात्मकमेव...—हेमचन्द्र, वही, पृ. 170।

7. दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 174; नैकानि मानानि...अनेकामान इति।—विशेषावश्यकमाष्यम्, भाग 2186, पृ. 895। 8. वेत्तनकर, वही, पृ. 112।

किया जा सकता है यान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से। इस प्रकार 'स्याद्वाद का सिद्धांत यह प्रतिपादन करता है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मी होने के कारण चाहे जिस एक दृष्टि बिन्दु से निश्चित किया उसका विधान एकदम सत्य नहीं माना जा सकता है।¹ इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में भिन्न भिन्न अपेक्षा से नाना प्रकार के विरुद्ध धर्मों का स्वीकार करना ही स्याद्वाद है।' पदार्थ को संयोगात्मक रीति से समझने की ही यह पद्धति है।²

इस स्याद्वाद के सिद्धांत को बहुधा संशयवाद कह दिया जाता है।³ परन्तु अधिक सत्य तो यह है कि उसको वैकल्पिक शक्यता का सिद्धांत मानना ही उचित है।⁴ सुप्रसिद्ध विद्वान आनन्दशंकर ध्रुव कहते हैं कि 'स्याद्वाद का सिद्धांत संशयवाद तो नहीं ही है। वह मनुष्य को विशाल और उदार दृष्टि से पदार्थ को देखने को प्रेरित करता है और विश्व के पदार्थ किस प्रकार देखे जाएं यह सिखाता है।'⁵ यह वस्तु का एकाग्र अस्तित्व नहीं स्वीकार करता है और न वह उस प्रकार के स्वीकरण को एकदम अस्वीकार ही करता है।⁶ परन्तु वह कहता है कि वस्तु है, अथवा नहीं है अर्थात् अनेक दृष्टिबिन्दु में की एक दृष्टि से उसका विधान हुआ है यह वह स्पष्ट स्वीकार करता है। वास्तविकता का सच्चा और सचोट प्रतिपादन तो मात्र आपेक्षिक और तुलनात्मक ही हो सकता है और उस प्रतिपादन की शक्यता वह स्वीकार करता है। प्रत्येक सिद्धांत सत्य होता है परन्तु कुछ निश्चित संयोगों में ही याने परिकल्पना में ही। अनेकधर्मी होने के कारण कोई भी बात निश्चय रूप में नहीं कही जा सकती है। वस्तु के विविध धर्मों को बताने के लिए विधि-निषेध सम्बन्धी शब्द प्रयोग सात प्रकार के होते हैं, यही इस सिद्धांत का वक्तव्य है।⁷ इन सात प्रश्नों उत्तर देने की पद्धति को ही सप्तभंगी नय अथवा सात-वचन-प्रयोग भी कहते हैं। यह तात्विक सिद्धांत अत्यन्त गहन और रहस्यपूर्ण है, इतना ही नहीं अपितु वह विशिष्ट परिभाषिक भी है। यह स्पष्ट करने के लिए नीचे के वह सरल और सुन्दर विवरण से अधिक स्पष्ट कुछ नहीं हो सकता है।

'अद्वैतवादियों का कहना है कि यथार्थ अस्तित्व तत्व एक ही है याने आत्मा। अन्य कुछ भी नहीं है। एकमेवाद्वितीयम् और वह नित्य है। इसके अतिरिक्त सब असन् होने सौयिक है। इस प्रकार आत्मवाद, एकवाद या नित्यवाद इसको कहा जाता है। इन अद्वैतवादियों का मात्र यही तर्क था कि जैसे प्याला, तश्तरी जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, वह तो पृथक पृथक नामों से कही जाती मिट्टी मात्र ही है वैसे ही भिन्न भिन्न नामों से पहचाने जाते विश्व के पदार्थ एक आत्म-तत्व के ही पृथक भेद मात्र हैं। दूसरी ओर बौद्ध कहते हैं कि मनुष्य को नित्य आत्मा जैसे किसी तत्व का सच्चा ज्ञान ही नहीं है। वह तो मात्र अटकल है क्योंकि मनुष्य का ज्ञान उत्पत्ति,

1. दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 109। 2. वारेन, वही, पृ. 20।

3. देखो हुट्टज, एपी. इण्ड., पुस्त. 7, पृ. 113। 'शून्यवादी बौद्ध मान्यता के स्थान में जैनों ने संशयवादी पक्ष स्वीकार किया है और इसलिए उन्हें कथंचित् 'दार्शनिक' याने स्याद्वादिन कहा जाता है हापकिस, वही, पृ. 29। 4. देखो फ्लीट, इण्ड. एण्टी., पुस्त. 7, पृ. 107। 'इस दृष्टि को स्याद्वाद दृष्टि कहा जाता है क्योंकि इसमें ज्ञान संभावित ही माना जाता है। प्रत्येक स्थिति हमें केवल कदाचित्, स्यात् हो ऐसा ही कहती है। हम न तो किसी पदार्थ का पूर्णतया समर्थन ही कर सकते हैं और न इन्कार ही। कुछ भी निश्चित नहीं है क्योंकि वस्तुएं अनन्त भेदात्मक हैं।' राधाकृष्णन, वही, भाग 1, पृ. 302।

5. कन्नोमल, सप्तभंगी न्याय, प्रस्तावना पृ. 8।

6. उपाधिभेदोपहित विरुद्ध नाथेवसत्त्वं सदावाच्यते। च हेमचन्द्र, वही, श्लो. 24, पृ. 194।

7. राधाकृष्णन, वही, भाग 1, पृ. 302; स्याद्वादो हि सापेक्षस्तथैकस्मिन्...सदसत्त्वनित्यानित्यत्वाद्यनेक-धर्मान्युपगमः। विजयधर्मसूरि, वही, पृ. 151।

विनाश और लय पा कर बदलते हुए पदार्थों में परिमित हो जाता है। उनका यह मिद्धान्त इसीलिए अनित्यवाद कहा जाता है। मृत्तिका पदार्थ रूप से नित्य हो, परन्तु घटरूप में वह अनित्य है याने अस्तित्व में आ कर वह नाश प्राप्त हो जाती है। अस्तित्व, जैसा कि अद्वैतवादी कहते हैं, उतना सरल नहीं है परन्तु जटिल है और इसके लिए उसके विषय का हर विधान सत्य का अंश मात्र है। वस्तु के प्रत्येक धर्म का विधान तथा निषेध सम्बन्ध शब्द प्रयोग से सात प्रकार के हो सकते हैं जिसको जैन सधर्मगी कहते हैं। यह विधान 'स्यात्' शब्द के उपयोग सहित 'अस्ति', 'नास्ति' और 'अवक्तव्य' शब्दों के उल्लेख से व्यक्त किया जाता है। वस्तु के स्वपर्याय पर मार दिया जाए तो 'स्यादस्ति', परपर्याय सम्बन्धी उसके भेद पर मार दें तो 'स्यान्नास्ति', और जब उसके 'सत्' एवम् 'असत्' दोनों ही पर्यायों पर समान मार दिया जाए तो 'स्यादस्तिनास्ति' ही कहा जा सकता है। परन्तु किसी एक पर भी मार दिए बिना वह पदार्थ वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है यह बताने के लिए 'स्यादवक्तव्य' का व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार अमुक अपेक्षा से वह नित्य होते हुए भी अवक्तव्य है यह बताने के लिए 'स्यान्नास्तिअवक्तव्य' का व्यवहार होना है। इसके बिना अमुक अपेक्षा से वस्तु नित्य और अनित्य होने के साथ ही अवक्तव्य है यह बताने के लिए 'स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य' ऐसा कहा जाता है। इन सात प्रकारों में समझने का इतना ही है कि सब समय सब प्रकार से और सब रूप में वस्तु अस्तित्व में है ऐसा विचारा ही नहीं जा सकता है। परन्तु वह एक ही स्थान में अस्तित्व रख सकती है और दूसरे स्थान में नहीं, एक ही समय में अस्तित्व रख सकती है और दूसरे समय में नहीं।¹

“जैनधर्म का यह स्पष्टीकरण वेदान्ती और बौद्धों के दो अतिकेक का समन्वय है और वह बुद्धिग्राह्य अनुभव पर रचा हुआ है।”² याकोबी और वेल्वलकर संजयवेलाठिपुत्र के अज्ञेयवाद के विरोधात्मक मिद्धान्त रूप इसको मानते हैं। “जब संजय कहता है कि” वह है यह में नहीं कह सकता हूँ और वह नहीं है यह भी मैं नहीं कह सकता हूँ। “तब महावीर कहते हैं कि” मैं कहता हूँ कि एक दृष्टि से वस्तु है और विशेष में मैं यह भी कह सकता हूँ कि अमुक दूसरी दृष्टि से वह वस्तु नहीं है।”³

संक्षेप में स्याद्वाद जैन तत्त्वज्ञान का अद्वितीय लक्षण है। जैन बुद्धिमत्ता का इससे अधिक सुन्दर, शुद्ध और विस्तीर्ण दृष्टान्त दिया ही नहीं जा सकता है। जैन सिद्धान्त की इस खोज का श्रेय महावीर को ही है।⁴ दासगुप्ता के अभिप्रायानुसार इस विषय का जैन शास्त्रों में सब से प्रथम उल्लेख भद्रवाहु की सूत्रकृतांग नियुक्ति (ई. पूर्व 433-350) की टीका में है।⁵ यह उस विद्वान ने स्व. डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण के आधार से लिखा है।⁶ और उनसे प्रमाण में नियुक्ति से नीचे लिखी गाथा उद्धृत की है :—

असियमयं किरियाणं अक्किरियाणं च होई चुलसीती ।

अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा ॥

अर्थात् 'क्रियावाद के 180, अक्रियावाद के 84, अज्ञानवाद के 60 और वैनेयिकवाद के 32 भेद'। इससे

1. देखो भण्डारकर, रिपोर्ट आन संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स, 1883-1884, पृ. 95-96; राइप (ई.पी.) कैनेरीज लिटरेचर, पृ. 23-24 ।
2. दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 175 ।
3. वेल्वलकर, वही, पृ. 114 । देखो सेबुई, भाग 45, प्रस्तावना पृ. 27; वेल्वलकर और रानाडे, वही, पृ. 433 टिप्पण, 454 आदि ।
4. वेल्वलकर, वही, पृ. 114 ।
5. दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 181 टिप्पण 1 ।
6. विद्याभूषण, हिस्ट्री ऑफ दी मेडीवल स्कूल ऑफ इण्डियन लोजिक, पृ. 8; हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लोजिक पृ. 167 ।
7. सूत्रकृतांग. आगमोदय समिति. गाथा 119, पृ. 209 ।

स्पष्ट है कि स्व. डा. ऐसे खोटे खयाल में थे कि नियुक्ति की उपरोक्त गाथा में सप्तभंगी नय का उल्लेख है। जना को मान्य चार नास्तिक मतों के 363 भेद ही यहां तो प्राप्त होते हैं।¹ निश्चय ही हमारा अभिप्राय यह है कि जैनों का स्याद्वाद सिद्धांत और सात नयों का उल्लेख स्थानांग, भगवती और अन्य जैनशास्त्रों में प्राप्तव्य है।² अन्त में लाभा कन्नोमल के शब्दों में कहें तो 'इस ज्ञान के तत्त्वज्ञान ने सत्य स्वरूप और उसकी खूबियों को समझाने के लिए अनेक महान् ग्रन्थ रचे हैं जो भारत में प्रचलित परस्पर विरोधी दीखती धार्मिक प्रवृत्तियों को जो कि बहुधा विचारभेद बढ़ा देती हैं, समझने के लिए इस विचार पद्धति का उपयोग किया जाए तो समाधान की ओर प्रत्यक्ष भुकाव होना सम्भव है।'³

इस प्रकार यदि अहिंसा को जैनधर्म का मुख्य नैतिकगुण-विशेष माना जाए⁴ तो स्याद्वाद जैन आध्यात्म-वाद का मुख्य और अद्वितीय लक्षण माना जाना चाहिए, और शाश्वत जगतकर्ता सम्पूर्ण ईश्वर का स्पष्ट निषेध करनेवाले जैनधर्म का यह सन्देश है कि 'हे मनुष्य ! तू ही अपना मित्र है उसके विधिविधानों का केन्द्रबिन्दु कहा जाना चाहिए। अहिंसा के आदर्श के साथ उपरोक्त सब बातें हमें सिखाती हैं कि—

He prayeth well who loveth well
Both man and bird and best,
He prayeth best who loveth least
all things both great and small;

—कोलोरिज (Coleridge)

अर्थात् जो मनुष्य अथवा पशु-पक्षी को प्रेम से चाहता है, वही ठीक प्रार्थना भी कर सकता है जो छोटे बड़े सब पदार्थों को उच्च भाव से चाहता है वही उत्तम प्रकार की प्रार्थना करता है। वही कारण है कि जैन सदा ही कहते हैं कि—

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु में।

मेत्ती में सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई।

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवों के साथ मेरी मैत्री है। मेरा क्रिमी के साथ वैर नहीं है।⁵

इन सिद्धान्तों के एक भी लक्षण के विषय में गलतफहमी खड़ी करना अथवा विपरीत रीती से उन्हें समझना जैनधर्म के सत्य स्वरूप के प्रति ही अन्याय करना है। हमें खुले मन से स्वीकार करना चाहिए कि महावीर के उद्देश उच्च और पवित्र थे और मनुष्य जाति एवम् सर्व जीवात्मा की समानता का उनका सन्देश भारत के यज्ञयागादि से त्रासित और जातिभेद से क्षुब्ध लोगों के लिए उदार और महान् आशीर्वाद रूप थे।

1. देखो याकोबी, वही, प्रस्तावना पृ. 26; वही, पृ. 315 आदि।
2. स्थानांग (आगमोदय समिति), पृ. 390. सूत्र 552; भगवती (आगमोदय समिति) सूत्र 469, पृ. 592। अन्य सन्दर्भों के लिए देखो सुखलाल और वैचरदास. सिद्धसेन का सम्मतितर्क, भाग 3, पृ. 44। टिप्पण 10।
3. कन्नोमल, वही, प्रस्तावना पृ. 7।
4. दासगुप्ता, वही, पृ. 200। 5. आवश्यक सूत्र पृ. 763।

जैनधर्म में पड़े हुए मुख्य भेद—

महावीर द्वारा संस्कारित जैनधर्म विषयक विचार करने के पश्चात् अब हमें उसमें हुए प्रमुख मतभेदों का भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए। महावीर के संघ में हुए इन मतभेदों को जैन समाज कैसे पचा सका उसका भी साथ साथ थोड़ा विचार हमें करना होगा।

सभी पैगम्बरों और धर्मसुधारकों के सम्बन्ध वैसा हुआ करता है ऐसा ही महावीर को दुर्भाग्य से अपने जीवित काल में और उनके धर्म को पीछे भी पाखण्डी धर्मगुरुओं का सामना करना पड़ा था। ऐसे पाखण्डियों में ही जैनों में सुप्रसिद्ध सात निहवों (निहवों)।¹ अर्थात् जिन प्ररूपित धर्म के विरुद्ध मत प्रचारकों का भी समावेश हो जाता है। जमाली, तीसगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गंग, छलुए और गोष्ठा माहिल' ये सात निहव हैं।² परन्तु विरोधियों में सबसे विख्यात और महावीर का प्रचण्ड प्रतिद्वन्द्वी गोशाल मंखलिपुत्र था जो कि पाली सूत्रों में उल्लिखित बुद्ध के छह पाखण्डी प्रतिस्पर्धियों में के एक मंखलि गोशाल के साथ बराबर ठीक उतरता है।³ उसका और उसके आजीवक संघ का हमें नगण्य परिचय ही मिलता है। अभी तक अस्तित्व में रहने वाले जैन और बौद्ध दोनों ही महान संघों की एक समय संख्या और महत्व में प्रतिद्वन्द्वता करने वाले इस सम्प्रदाय के सिद्धांत और क्रियाकाण्ड के सम्बन्ध में हम वास्तविकतया अन्धकार में ही हैं।⁴ गोशाल के बाद हम महावीर के जामाता जामाली, जैन संघ के एक पवित्र साधू तीसगुप्त आदि अन्य मतभेदकारकों का नाम ले सकते हैं।⁵

मंखलीपुत्र गोशालः—

गोशाल पहले पहल महावीर को राजगृह में मिला था और वहां वह उनका तुरन्त ही शिष्य हो गया। वह गोशाला में जन्मा था इसलिए गोशाल कहलाता था।⁶ उसका पिता एक भिक्षुक था। ये सब संयोग आजीवक कहे जाने वाले भिक्षुओं की धर्म-सम्प्रदाय के संस्थापक की हीनता उत्पत्ति बनाने के लिए पर्याप्त है।⁷ सातवें अंगशास्त्र ने सटालपुत्र में गोशाल का आजीवक सम्प्रदाय स्वीकार किया था ऐसा कहा गया है। फिर पांचवें

1. बहुरय...। सत्तेएण्णहगा...वद्धमाणस्स। आवश्यकसूत्र, गाथा 778, पृ. 311।; अथ सप्तनिहवस्वरूपं ...लिख्यते। मेरुतुंग, विचारश्रेणी, जैसासं भा. 2, सं. 3-4, परिशिष्टि, पृ. 11-12।
2. भगवतीसूत्र, आगमोदय समिति, भाग 2, पृ. 410-430।
3. याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्तावना पृ. 1।
4. हरनेली उवासगदशास्त्रों, भाग 2, प्रस्तावना पृ. 12। देखो व्हूलर, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 20, पृ. 362।
5. महावीर के केवलज्ञानी तीर्थंकर होने के पश्चात् चौदहवें वर्ष में उनके भानजे और जवाई जामाली ने उनके विरोध का नेतृत्व किया और इसी प्रकार इसके दो वर्ष पश्चात् ही संघ में से एक साधू तीसगुप्त ने उनका विरोध किया था। ये दोनों ही विरोध नगण्य बात के सम्बन्ध में थे...जमाली अपने विरोध में अपने जीवन पर्यंत रूढ़ रहा था। 'शापेटियर, केहिङ्ग', भाग 1, पृ. 163।
6. कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ. 102। 'गोशाला, भिक्षुजीवि मंखली और उसकी भार्या भद्रा का पुत्र था। उसने सावत्री के धनिक ब्राह्मण गोबहुल की गोशाला में सर्व प्रथम दिन का प्रकाश देखा था याने वह जन्मा था। शास्त्री (वेनरजी), बिउप्रा पत्रिका, सं. 12, पृ. 55।
7. 'आजीवक' नाम ऐसा लगता है कि मूल में गोशालक और उसके सम्प्रदाय को व्यवसायी भिक्षु कह कर निन्दा करने का ही सूचक था, हालांकि बाद में जब यह साधुओं की एक सम्प्रदाय विशेष का नाम ही हो गया तो इसका फिर वह निन्दापरक अर्थ नहीं रहा। हरनेली, एरिए, भाग 1, पृ. 259।

अंगशास्त्र भगवतीसूत्र में उस सम्प्रदाय के मुखी गोशाल का हमें पूरा वृत्तांत मिलता है। बुद्ध के उपालम्भ के चुने हुए छह भिक्षुसंघों के नेताओं में का एक नेता रूप में गोशाल मंखलिपुत्र का उल्लेख बौद्ध धर्मग्रन्थों में अनेक बार मिलता है। फिर भी स्पष्ट रीति से उनमें कहीं भी उसका आजीवक सम्प्रदाय के साथ सम्बन्धित होने के रूप में उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु जैन और बौद्ध दोनों ही स्वतन्त्र इच्छाशक्ति और नैतिक उत्तरदायिता के निषेध के तात्त्विक सिद्धांत याने नियतिवाद के प्रचारक के रूप में उसे स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्परा की इस विषय के समान मान्यता स्पष्टतः है।¹

जिस समय का यहां विचार किया जा रहा है वह प्राचीन भारत के धार्मिक-जीवन का संक्राति-काल अर्थात् देश के इतिहास में बुद्धिवाद का भ्रम था। वह एक उत्थान का युग था जब कि गोशाला मंखलिपुत्र, संजब वेल्दट्टिपुत्त और अन्य तत्त्ववेत्ता उत्पन्न हुए थे। सच तो यह है कि भारतवर्ष तब ऐसी धार्मिक जागृति में से गुजर रहा था कि...हमें यह जोरों के साथ कहना चाहिए कि उस समय में तत्त्वज्ञान का जीवन और व्यवहार को तलाक देकर मात्र विद्वत्ता या क्रियाकाण्ड के लिए शोभारूप माना जाना बंद हो गया था।...इसने दृढ़ और ससारत्यागी व्यक्तियों को विकसित कर दिया था और अनेक प्रकार के अद्भुत तप और आचरण का प्रवेश भी जीवन में पा गए थे।...इन अवैदिक स्वतन्त्र विचारकों को ही इसका श्रेय दिया जाना चाहिए कि उनने तत्त्वज्ञान की विवेचना का द्वार मुक्त कर दिया और उसे जन साधारण के दैनिक जीवन और व्यवहार की समस्याओं का समन्वय करने को बाध्य कर दिया था। इसी लिए मंखलि गोशाल के आजीवक सम्प्रदाय के विषय में हम यह पढ़ते हैं कि सब “ये प्रकार के वस्त्रों का तिरस्कार करते हैं, सभी शिष्टाचारी स्वभाव का उनने त्याग कर दिया है, अपने हथेलियों में लेकर ही ये भोजन चाट जाते हैं।...वे मछली और मांस नहीं खाते हैं, मदिरा अथवा मादक पदार्थ का सेवन नहीं करते हैं। कितने ही एक घर से और एक ही ग्रास भिक्षा लाते हैं, अन्य दो अथवा सात घरों में भिक्षा की याचना करते हैं। कितने ही एक बार ही भोजन करते हैं, कितने दो दिन में एक बार, सात दिन में अथवा एक पखवाड़े में एक दिन ही भोजन करते हैं।” और यह कोई अपवाद रूप ही नहीं था। ऐसा लगता है कि मानो विचार मौलिकता और सुप्रकटता एवम् व्यवहार स्वातंत्र्य और उत्केन्द्रता का तब बहुमूल्य हो गया था।²

यह तो स्पष्ट ही है कि गोशाल महावीर के संघ को पुष्ट करने के स्थान में प्रारम्भ से ही उनके संस्कारित जैनधर्म की प्रगति में बाधारूप हो गया था। उसने बौद्धों की सत्ता सुदृढ़ होने देने और महावीर की बढ़ती प्रतिष्ठा को भारी चोट पहुंचाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया था।³ इस दृष्टि से निरीक्षण करते हुए महावीर और गोशाल के प्राथमिक संयोग के परिणाम गुरु और शिष्य दोनों के लिए निश्चय ही भयावह थे। “चारित्र्य और स्वभाव से दोनों ही इतने अधिक भिन्न थे कि छह वर्ष के सहवास बाद गोशाल की धूर्तता और अविश्वास से दोनों का सम्बन्ध टूट ही गया और वे अलग-अलग हो ही गए।”⁴

1. वही। 2. वेल्वलकर और रानाडे, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसोफी, भाग 2, पृ. 460-461।

3. विवाद का मुख्य विषय पुनर्जीवन का सिद्धान्त था जिसको गोशाल ने वनस्पतिक-जीवों के मौसमी पुनर्जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर किया था और इसको उसने यहाँ तक साधरणीकरण कर दिया था कि वह यह सिद्धान्त प्रत्येक प्रकार के जीवों पर ही लागू करता था।—बरुआ, जेडी एल, सं. 2, पृ. 8। देखो शास्त्री (बेनरजी), वही, पृ. 56 भी।

4. हूरनोली, वही, पृ. 259। “तेजोलेष्या अर्थात् दाहक शक्ति प्रक्षेप की विद्या कैसे प्राप्त की जाती है यह महावीर से जानकर, और पार्श्वनाथ के कुछ शिष्यों से आठ अंगों का महानिमित्ता पढ़कर, गोशाल ने अपने आपको जिन घोषित कर दिया और अपने गुरु से वह पृथक हो गया।”—विलसन, वही, भाग 1, पृ. 295-296।

अपने गुरु से पृथक होने के पश्चात् गोशाल ने श्रावस्ती में एक कुंभारण के घर में अपना मुख्य स्थान बना कर बहुत प्रभाव जमा लिया था ।¹ महावीर से पृथक होकर तुरन्त ही उसने अपनी साधुता की सबश्रेष्ठ दशा अर्थात् जिन पद प्राप्त होने की घोषणा कर दी थी । “महावीर ने स्वयम् केवलज्ञान प्राप्त किया उसके दो वर्ष पूर्व ही गोशाल ने अपना यह दावा प्रस्तुत कर दिया था ।”² जैन दन्तकथानुसार महावीर ने गोशाल को फिर कभी प्रत्यक्ष में नहीं देखा । उनके केवल ज्ञानी हुए पश्चात् चौदहवें वर्ष में कदाचित् पहली बार ही वे श्रावस्ती पहुंचे मालूम होते हैं और वहीं उसके जीवन के अन्तिम दिनों में उनको देखा हो ऐसा लगता है । ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि यहां गोशाल का द्रौघ और अस्थिर स्वभाव बहुत प्रखर हो गया था और अपने गुरु³ के प्रति अशिष्ट वर्तन का उसे अन्त समय में पश्चात्ताप हुआ था ।⁴

इतना होते हुए भी एक बात हमें नहीं भूल जाना चाहिए कि महावीर और गोशाल का सम्बन्ध या यों कहिए कि भारत के धार्मिक उत्थान की महान लहर में मंखलिपुत्र का स्थान कुछ अधिक स्पष्टता से विचारे जाने की अपेक्षा रखता है । डॉ. बरुआ कुछ भ्रांति पूर्वक कहता है कि “इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जैन अथवा बौद्ध आधारों से मिलने वाली सूचनाओं से यह प्रमाणित नहीं होता है कि गोशाल महावीर के दो ढोंगी शिष्यों में से, जैसा कि जैन मानते हैं एक था । उन प्रमाणों से तो इससे विपरीत बात ही सिद्ध होती है अर्थात् मैं यह कहना चाहता हूं कि इस विवादग्रस्त प्रश्न पर निश्चित अभिप्राय देने का इतिहासवेत्ता यदि प्रयत्न करेंगे तो उन्हें यह कहना ही पड़ेगा कि इसके लिए यदि कोई भी ऋण हो तो निःसंदेह वह गुरु है न कि जैनों का मान लिया हुआ ढोंगी शिष्य ।”⁵

इस विद्वान को यह भ्रांति हो गई है कि महावीर पहले-पहल पार्श्वनाथ की धर्म-सम्प्रदाय में थे, परन्तु साल भर पश्चात् जब वे नग्न रहने लगे, आजीवक सम्प्रदाय में वे जा मिले ।⁶ यह मान्यता प्रामाणिक जैन आधारों और दन्तकथाओं की उपेक्षा करती है इतना ही नहीं अपितु गोशाल के अनुयायी आजीवक क्यों कहलाए इस तथ्य का अज्ञान भी प्रकट करती है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पार्श्व और महावीर के धर्म-सिद्धान्तों में भेद महावीर की विचार प्रगति का ही था और आजीवक शब्द उस जाति के प्रति घृणा प्रदर्शित करने के लिए ही था कि जिसे जैन एवम् अन्य लोग आजीवक सम्प्रदाय की मूल स्थिति व्यक्त करने को प्रयोग किया करते थे ।⁷ इस प्रकार यह अस्पष्ट था कि महावीर आजीवकों की सम्प्रदाय में जा मिलते । फिर इस नाम का कोई सम्प्रदाय गोशाल के अपने गुरु से विद्रोह करने के पूर्व कोई था ही नहीं क्योंकि गोशाल स्वयम् ही इस सम्प्रदाय का मूल संस्थापक था ।

1. स्वामिनः पार्श्वीस्फटितः श्रावस्त्यां तेजोविसर्गमातापयति...। —आवश्यक सूत्र पृ. 214 ।
2. शार्पेटियर, कैहिंड, भाग 1, पृ. 159 ।
3. “कुछ जैनों का यह विश्वास है कि मृत्यु से पहले इतना घोर पश्चात्ताप करने के कारण वह नरक में नहीं, अपितु किसी एक देवलोक में ही ही गया होगा ।” —स्टीवन्सन, श्रीमती, वही, पृ. 60 ।
4. देखो, वही । “उसका अन्तिम कार्य था अपने शिष्यों के समक्ष महावीर के अपने सम्बन्ध के वक्तव्य की सत्यता का स्वीकार करना और उन्हें अपनी लज्जा की प्रकट घोषणा करने एवम् हर प्रकार की अवज्ञा पूर्वक अपना अन्तिम संस्कार करने का आदेश दिया था ।” —हरनोली, वही, पृ. 260 ।
5. बरुआ वही, पृ. 17-18 । 6. वही । 7. “यह स्पष्ट है कि आजीवक शब्द बौद्धों में भी घृणासूचक ही था और वह मस्करिन या एक दण्डन जैसे हीन लोगों के लिए ही प्रयोग किया जाता था ।” —हरनोली, वही, पृ. 260 ।

यह स्पष्ट तथ्य है कि गोशाल और उसके अनुयायियों के विषय में जो भी हम जानते हैं उसका आधार जैन और बौद्ध ग्रन्थ ही हैं । “इनका वर्णन अवश्य ही हमें मावधानी से स्वीकार करना होगा । परन्तु आवश्यक तथ्यों में दोनों आधारश्रोत एक मत हैं । इसलिए वह वर्णन विश्वस्त होना चाहिए । दो स्वतंत्र आधारों से उनकी प्राप्ति उन्हें और भी विश्वस्त कर देती है। चाहे जहां से छुटपुट दो चार बातें संग्रह कर लेने से ऐसा सप्रमाण साधन नहीं मिल जाता है कि जिससे हम यह कहने को प्रेरित हों कि “ऋणि कोई हो तो वह निश्चय ही गुरु है न कि जैनों का माना हुआ ढोंगी शिष्य।” ऐसा कहने का खास कारण तो यह है कि जिन साधनों से उपरोक्त व्यापक अनुमान किया गया है, वे ही उसके विरुद्ध जाते हैं ।

एक या दूसरा निर्णय करने के पूर्व विद्वान पण्डित आलोचकों को यह विचारने की कहते हैं कि “महावीर के पूर्व गोशाल के जिनपद प्राप्ति की बात भगवती में दिए मंखलिपुत्त के इतिहास से निशंक सिद्ध होती है और उसमें की प्रमुख प्रमुख घटनाएं कल्पसूत्र में दिए महावीर चरित्र से भी समर्थित होती हैं ।”

अच्छा तो यही होता कि विद्वान आलोचक को उक्त तथ्य का विचार करने की बात ही नहीं कहता । ऐसा लगता है कि विद्वान जानबूझ कर समस्त घटना के विषय में गंभीर भ्रम उत्पन्न करना चाहता है । सूत्र में कोई भी स्थान पर या समस्त जैन साहित्य में कहीं भी गोशाल के जिनपद प्राप्ति का उल्लेख नहीं है । वहां इतना ही कहा गया है कि गोशाल स्वतः अपने आप जिन अथवा तीर्थंकर बन बैठा था ।³ बुद्ध ने उसके प्रति अब्रह्मचर्य का दोष लगाया है ।⁴ फिर महावीर भी उसके प्रति ऐसा दोष लगाते हैं इतना ही नहीं अपितु वे इस विषय में इतने ही जोरदार शब्द भी प्रयोग करते हैं । सूत्रकृतांग में महावीर के शिष्य आर्द्रक और गोशाल में हुए संवाद में गोशाल कहता गया है कि ‘हमारे नियमानुसार कोई भी साधू...कुछ भी पाप नहीं करता है...स्त्री के साथ संभोग करता है ।’⁵ वह अपने अनुयायियों की ‘स्त्रियों के दास’ का दोष लगाता है और कहता है कि ‘वे सयमी जीवन नहीं बिता रहे हैं ।’⁶ ऐसे नैतिक-नियम-विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रचार से कुख्यात व्यक्ति जिनपद, प्राप्ति योग्य और प्राप्त कैसे कहा जा सकता है ? यह तो सुनने में ही अद्भुत लगता है कि जब कि यह कहा जाता है कि उसके जिनपद प्राप्ति का समर्थन जैनसूत्र ही करते हैं ।

एक अन्य स्थान पर विद्वान लेखक भगवतीसूत्र में बताए गोशाल के छह पूर्व जन्मों का विशिष्ट समयों की बात कहता है और यह निष्कर्ष निकालता है कि ‘गोशाल के छह पूर्व जन्मों का भगवती का उल्लेख चाहे विचित्र या काल्पनिक ही लगता हो परन्तु आजीवक पंथ के इतिहास को गोशाल से 117 वर्ष पूर्व खींच ले जाने की इतिहासकार को सहायता करता है ।...’⁷ इस पर से प्रकट है कि महावीर के सत्ताईस भवों की कथा यहां भुला दी गई है । ‘आजीवक पंथ का प्राक्मंखलि इतिहास’ रचने के लिए लेखक किस प्रकार प्रेरित हुआ है यही समझा नहीं जा सकता है ।⁸

इस प्रकार डा. बरुआ ने समीक्षक के विचार के लिए अनेक बातें प्रस्तुत की हैं, परन्तु प्रत्येक बात के लिए उसने स्वयम् यह भी कहा है कि ‘यह कल्पना का महा प्रयोग है ।’⁹ आजीवक के प्रति बुद्धिगम्य सहानुभूति पर

1. वही, पृ. 261 । 2. बरुआ, वही, पृ. 18 ।

3. अजिणं जिणप्पलावी...अकेवली केवलप्पलावी...विहरह । भगवतीसूत्र, अगमोदय समिति, शतक 15, पृ. 659 । देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 214; शार्पेटियर, वही, पृ. 159 ।

4. देखो हरनोली, वही, पृ. 261 । 5. याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 411 । 6. वही, पृ. 245, 270 । विजयराजेन्द्रसूरि, अभिधानराजेन्द्र, भाग 2, पृ. 103 ।

7. बरुआ, वही, पृ. 5 । 8. बरुआ, वही, पृ. 7 । 9. वही, पृ. 22 ।

रचित अनुमानों को स्थायी करने को प्रस्तुत किए गए सभी तर्कों का एक एक करके बुद्धिपूर्वक विचार किया जाए तो गोशाल पर एक छोटा सा निबन्ध ही लिखना होगा। फिर भी इतना तो कह देना आवश्यक है कि विद्वान डाक्टर ने जैन और बौद्ध दंतकथाओं को बहुतांश में असत्य सिद्ध करने का ही इसके द्वारा प्रयत्न किया है जब कि डा. याकोबी कहता है कि 'खास प्रमाणों की अनुपस्थिति में इन दंतकथाओं को अवश्य ही हमें विशेष ध्यान से देखना चाहिए।'¹

फिर भी इतना तो अवश्य ही सत्य है कि 'गोशाल का तत्वज्ञान इस देश में एकदम ही नवीन नहीं था।'² यह निश्चित है कि अनेक विरोधी सिद्धांतों और परस्पर असंगत मान्यताओं अनिष्ट वातावरण में महावीर ने जैनसंघ की जितनी भी सफलता प्राप्त की वह निःसंदेह भारतीय विचार के पद्धति पूर्वक विकास के अनुरूप ही थी।³ फिर डा. याकोबी के अनुसार मर्यादित रीति से यह कहने में भी कोई विरोध नहीं है कि 'महावीर के सिद्धांत पर अधिक से अधिक प्रभाव मंखलि के पुत्र गोशाल का पड़ा है।'⁴ क्योंकि गोशाल के व्यावहारिक और अव्यावहारिक जीवन का निश्चित रूप से स्थायी प्रभाव महावीर के मानस पर सम्भवतया पड़ा था। एक बात और भी कही जा सकती है और वह यह कि विचार दृष्टि से गोशाल प्रारब्धवादी था] वह यह मानता था कि 'उद्यम, परिश्रम या प्रारूप अथवा मनुष्यबल जैसी कोई भी वस्तु नहीं है। सब कुछ अपरिवर्तनीय रूप में निश्चित है।'⁵ व्यावहारिक जीवन में वह अग्रह्याचारी ही था।⁶ इसलिए स्वभावतया उसके जीवन के पापमय और निर्लज्ज व्यवहारों ने साधु समाज के लिए खूब कठोर नियमों का बनाना उन्हें अनिवार्य प्रतीत हुआ और नितान्त प्रारब्धवाद का उसका सिद्धान्त चरित्रहीन अनैतिक जीवन में परिणत होता भी लगने लगा। जैनधर्म ऐसे प्रारब्धवाद को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि उसकी तो यह शिक्षा है कि यद्यपि कर्म ही सब बात का निर्णायक है, फिर भी हम पूर्व कर्मों पर अपने वर्तमान जीवन द्वारा प्रभाव डाल सकते हैं।'⁷

इस प्रकार महावीर के जीवन पर और उनके संस्कारित धर्म पर गोशाल का कुछ भी प्रभाव पड़ा है तो वम इतना ही पड़ सकता है न कि इससे कुछ भी अधिक। फिर यह भी हम एक बार और कह दें कि जैनसंघ के इन अनिष्ट मतभेदों के कारण "भारत भर में एक धर्मचक्र स्थापन करने की महावीर की प्रवृत्ति अत्यन्त संकटापन हो गई थी।"⁸

1. वही। 2. याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 33। 3. वरुणा, वही, पृ. 27।

4. 'जब कि संजय के तर्क सब नकारात्मक हैं, गोशाल ने अपने 'तेरासिय' याने त्रिभंगी न्याय कि कदाचित् हो, कदाचित् न हो, और कदाचित् हो और न हो द्वारा महावीर के सप्तभंगी न्याय का याने स्याद्वाद का मार्ग पहले से ही प्रशस्त कर दिया था। बेलवलकर और रानाडे, वही, पृ. 456-7। देखो, हरनोली, वही, पृ. 262।

5. याकोबी, वही, प्रस्तावना पृ. 29।

6. हरनोली, उवासगदसाओ, भाग 1, पृ. 97, 115, 116। देखो वही, भाग 2, पृ. 109-110, 132।

7. श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 60। "गोशालुके चरित्र के कारण ही कदाचित् महावीर को पार्श्वनाथ के चतुर्थीय वर्ष में ब्रह्मचर्य का पांचवां व्रत बढ़ाना पड़ा हो।" —वही, पृ. 59। देखो वही, पृ. 185; हरनोली, वही, पृ. 264। 8. शास्त्री-बैनरजी, वही, पृ. 56। "ई. पूर्व छठी से तीसरी सदी में बौद्धधर्म एक नायक के नेतृत्व में सारे भारतवर्ष में और उससे परे के देशों में भी फैल गया था। परन्तु मतभेद ने जैनों की प्रारम्भ से ही रीढ़ तोड़ दी थी, फिर भी जैनों को यही जानकर सन्तोष होता है कि एक समय के शक्तिशाली आजीवक तो आज केवल स्मरण में ही अवशेष है।" —वही, पृ. 58।

गोशाल के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है। हम देख आए हैं कि महावीर के केवली जीवन के चौदहवें वर्ष में गोशाल की मृत्यु हुई थी। यह घटना स्वभावतया इस बात से मेल खा जाती है कि उसकी मृत्यु महावीर निर्वाण के 16 वर्ष पूर्व हुई कि जो महावीर के कुल 30 वर्ष के केवली जीवन में से 14 वर्ष घटाने से बच रहते हैं। महावीर निर्वाण की तिथि जो हमने ई. पूर्व 480-467 के बीच में होना माना है, से गोशाल की मृत्यु ई. पूर्व 486-483 के बीच में कभी भी हुई कही जा सकती है। भगवतीसूत्र के अनुसार गोशाल की इस मृत्यु तिथि का इस बात से भी समर्थन होता है कि उसकी मृत्यु और राजा कुरिया (अजातशत्रु) व वैशाली के राजा चेडग के बीच में अद्वितीय सचेनक हाथी के स्वामित्व के कारण हुए युद्ध की घटना समकालिक है।¹ यह हाथी कुरिया के पिता बिंबसार ने चेडग राजा की पुत्री चेल्लणा नाम की अपनी पत्नि से उत्पन्न कनिष्ठ पुत्र विहल्ल को दिया था। राज्यगदी पर बलात् अधिकार कर अजातशत्रु ने अपने कनिष्ठ भाई के पास यह हाथी प्राप्त करने की चेष्टा की। परन्तु विहल्ल उस हाथी को लेकर अपने नाना वैशाली में भाग गया।² जब कुरिया शांति से उसे लौटा लाने में सफल नहीं हुआ तो उसने चेडग से युद्ध प्रारम्भ कर दिया।³ इस प्रकार यह युद्ध कुरिया ने राजसत्ता प्राप्त की उसी समय में ही किया ऐसा संभव लगता है और इसे ई. पूर्व. 496 में रख सकते हैं।⁴

आजीवक सम्प्रदाय का ऐतिहासिक दृष्टि से यदि विचार करें तो हम देखते हैं कि वह उसके प्रवर्तक के साथ ही समाप्त नहीं हो गया था! बौद्धों के साथ के उसके सम्बन्ध का विचार करने पर मालूम होता है कि बौद्धों को "जैन अथवा आजीवक किसी के साथ भी खास वैर रखने का कोई कारण नहीं था।" अशोक और दशरथ जैसे बौद्ध राजों ने आजीवकों को नागार्जुनी और बराबर पहाड़ी पर की गुफाएं इसी भाव से अर्पित की थी कि जिस भाव से उनसे अन्य स्थलों पर बौद्ध स्तूप का निर्माण कराया था और ब्राह्मणों को दक्षिणा दी थी। बौद्धों का वैरभाव आजीवकों अथवा जैनों पर नहीं उतरा था। परन्तु बाद में जाकर ब्राह्मणों पर उनकी वैर बुद्धि हो गई थी।⁴

आजीवकों का सबसे पहला उल्लेख अशोक के तेरहवें वर्ष अर्थात् ई. पूर्व 257 में⁵ गया के पास की बराबर की टेकरी की चट्टान में खोदकर बनाई गई दो गुहाओं की दीवारों पर खुदे संक्षिप्त शिलालेख में मिलता

1. हरनोली, वही, परिशिष्ट 1 पृ. 7। एगहत्थिराणिणं पमू करिए राया पराजिरात्तए। भगवती, आगमोदय समिति, पृ. 316, सूत्र 300। देखो हेमचन्द्र, त्रिपिटि-शलाका, पर्व 10, श्लो. 205-206।
2. हरनोली, वही और वही स्थान। देखो टानी, कथाकोश, पृ. 178-9 भी।...न दद्यास्तदायुद्धसज्जो मवैभीति :—आवश्यक सूत्र, पृ. 684।
3. डॉ. हरनोली, महावीर निर्वाण ई. पूर्व 484 में मनाते हुए, गोशाल की मृत्यु और अजातशत्रु एवं उसके नाना के बीच युद्ध की तिथि ई. पूर्व लगभग 500 बताते हैं। देखो हरनोली, एरिए, भाग 1, पृ. 261।
4. शास्त्री-बैनरजी, वही, पृ. 55।
5. अशोक का राज्याभिषेक ई. पूर्व 270-269 में मान कर ही। देखो रिमथ, अशोक, 3 य संस्क., पृ. 73; मुकर्जी, राधाकुमुद, अशोक पृ. 37।

है जो कि इस प्रकार है—“राजा प्रियदर्शी ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में यह गुफा आजीवकों को दी है।”¹

दूसरा उल्लेख अशोक के सुविख्यात स्तंभ-आज्ञापत्रों में मिलता है जहाँ राजा अशोक अपने धर्माधिकारियों को कर्तव्यों को गिनाते हुए आजीवकों की सम्हाल रखने का कार्य भी उनको सौंपता है।² फिर “राज्यारोहण के बीसवें वर्ष में अर्थात् ई. पूर्व 250 में उस राजा ने एक तीसरी मूल्यवान गुफा आजीवकों के निवास के लिए दी है।”³ इसके अतिरिक्त एक उल्लेख उसके अनुगामी दशरथ के राज्य के प्रथम वर्ष याने ई. पूर्व 230 का नागार्जुनी टेकरी पर चट्टान से खोदी तीन गुहाओं की भीतों पर उत्कीर्णित छोटे से लेख में मिलता है। यह लेख इस प्रकार है। “यह गुफा महाराजा दशरथ ने अपने राज्या रोहण के तुरन्त बाद ही सामान्य आजीवकों को चन्द्र-सूर्य तपे वहाँ तक निवास स्थान रूप से उपयोग करने को दी है।”⁴

इस प्रकार “सात गुफाओं में की याने दो बराबर टेकरी की और तीन नागार्जुनी टेकरियों की गुफाएं आजीवकों को (आजीवकेहि) देने का उल्लेख है। ‘आजीवकेहि’ शब्द तीन स्थानों पर से जानबूझ कर कुतर कर निकाल दिया गया सा लगता है जब कि अन्य प्रत्येक शब्द जैसे के तैसे देखे जाते हैं।⁵ यह कुकृत्य किसने किया होगा यह कहना कठिन है। परन्तु इतना तो स्पष्ट दीखता है कि राजा दशरथ के बाद बराबर टेकरियां जैन राजा खारवेल के हाथ में आ गई थीं। उसके राज्य के 8वें वर्ष में अर्थात् अशोक-दशरथ काल के बाद ही वह गोरठगिरि में था। शिल्प के नियमानुसार लोमसऋषि गुफा पर से भी यह निश्चय किया जा सके ऐसा है।⁶ एक पवित्र श्रद्धावान जैन होने से खारवेल ने ‘दोगी गोशाल के आजीवक अनुयायियों का तिरस्कृत नाम घिस कर मिटा देने और उनके चिन्ह तक का नाश कर देने का प्रयत्न किया होगा।”⁷

1. हरनोली, वही, पृ. 266। देखो इण्डि. एण्टी., पुस्त. 20, पृ. 361 आदि। स्मिथ, अशोक, 1 म संस्क., पृ. 144। आजीवकों के प्रति भुकाव अशोक की, बहुत सम्भव है कि, उसके मातापिता से ही वारसे में मिला था। ‘यदि हम दंतकथा में विश्वास करें। विहांवंशटीका (पृ. 126) में जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, उसकी माता के गुरु का उल्लेख है जिसका नाम जनसान का (देविमा कुलूपगो जनसानो नाम एको आजीवक) जिसको राजा बिन्दुसार ने रानी के स्वप्नों का मर्म बताने के लिए बुलाया था अशोक के जन्म पूर्व। फिर दिव्यावदान (अध्या. 26) में बिन्दुसार ने स्वयम् आजीवक संत पिगलवत्स को अपने समस्त पुत्रों की परीक्षा लेकर उनमें से कौन उसका राज्य-उत्तराधिकारी होने योग्य है यह बताने को बुलाया, लिखा है। मुकर्जी राधाकुमुद, वही, पृ. 64-65। ‘...आजीवक संत पिगलवत्स ने, राजा के बुलाए जाने पर, उसके पुत्रों में से अशोक को ही उत्कृष्ट उत्तराधिकारी बताया था।’ वही, पृ. 3।

2. स्मिथ, वही, पृ. 155; एपी. इण्डि., पुस्तक 2, पृ. 270, 272, 274।

3. स्मिथ, वही, तीसरा संस्करण, पृ. 54। 4. हरनोली, वही, पृ. 266। देखो इण्डि. एण्टी. 7, पुस्तक 20, पृ. 361 आदि; स्मिथ, वही, 1 म संस्क. पृ. 145। 5. शास्त्री-बेनरजी, वही, पृ. 59।

6. वही पृ. 60। देखो यह भी, ‘दोनों स्थानों की तुलना कोई भी संदेह नहीं रहने देती है कि गारधगिरि का हर्म्यमुख और लेख उदयगिरि (खारवेल) के लेखों और हर्म्यमुखों से बहुत निकट सम्बन्धित हैं और दोनों ही जैनों के बनवाए हुए हैं जिसने ‘आजीवकेहि’ शब्द को अंश कर अपना धर्मराग दिखा दिया है। वही, पृ. 61।

7. वही पृ. 60। ‘उसने (खारवेल ने) प्रकृतया आजीवकों को इनमें से निकाल भगाया, उनका नाम भी खुरच दिया और कलिंगसेना को इन बराबर गुफाओं में ठहरा दिया था। अपूर्ण लोमसऋषि गुहा भी उसे बहुत सुविधायक हुई होगी। तथ्य जो भी हो, ऐसा लगता है कि, खारवेल ने मौर्य-काल पश्चात् के बारीगरों द्वारा इनकी भीतों को ठीक करने में लगाया था।’ शास्त्री-बेनरजी, बिउप्रा पत्रिका, सं. 12, पृ. 310।

शिल्पशास्त्र के प्रदेशों में इस जैन-आजीवक वैमनस्य पर लिखते हुए श्री मुखर्जी लिखते हैं कि “यहां की बराबर की गुफाओं के अन्तिम दो अशोक के शिलालेख और दशरथ के नागार्जुनी गुहाओं के तीन शिलालेख आजीवकों को उन गुफाओं के दिए जाने का उल्लेख करते हैं। परन्तु इनमें के तीन शिलालेखों में “आजीवकेहि” शब्द घिस देने का प्रयत्न किया गया दीखता है। ऐसा लगता है कि इस सम्प्रदाय का नाम किसी को सहन नहीं हुआ हो और उसी ने इसको मिटा देने का यह प्रयत्न किया हो। परन्तु यह कौन होगा ? हुल्ट्ज की धारणा है कि वह मंखरि अवतवर्मन होना चाहिए जिसने कि बराबर गुफाओं में एक गुफा कृष्ण को और नागार्जुनी की दो गुफाएं शिव और पार्वती को अर्पित की हैं और उसका कट्टर हिन्दू-मानस आजीवकों को सहन नहीं कर सका होगा। डॉ. बैनरजी-शास्त्री ने इससे अधिक विचारशील बात कही है। वह खारवेल पर इस अपकृत्य का दोष मढ़ता है कि जो कट्टर जैन था और आजीवकों के प्रति जैनों का विरोध परम्परा प्रसिद्ध था। यह कार्य मंखरि के समय से बहुत पूर्व जब कि अशोक की ब्रह्मी लिपि भूली जा रही थी, तब ही हो जाना चाहिए।¹

इस प्रकार व्यवहारिक दृष्टि से आजीवक सम्प्रदाय भारतवर्ष में से ई. पूर्व दूसरी सदी के अन्त में नष्ट हो गया था.² यद्यपि बाद के साहित्य में अर्थात् वराहमिहिर, शीलांक की सूत्रकृतांग-टीका, हलायुद्ध की अग्निधान रत्नमाला और विरंचिपुरम् निकटस्थ पोयगेई के पेहमल मन्दिर की भीतों पर के शिलालेख आदि बाद के साहित्य में उनका उल्लेख अवश्य ही मिलता है।³ परन्तु इन उल्लेखों का आजीवकों से सीधा सम्बन्ध नहीं है और न वे आजीवकों सम्बन्धी ही हैं। अनेक स्थलों पर तो आजीवक शब्द जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।⁴

जैनों के पहले पंथभेद के विषय में इतना कहने के पश्चात् अब हम जैनों के श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद का विचार करेंगे। वस्तुतः इस सम्प्रदाय-भेद का मूल कहां है यह कहना अत्यन्त ही कठिन है दिगम्बर और श्वेताम्बर दन्तकथाएं इसके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहती हैं, वह कहीं-कहीं तो निर्बोध और बहुतांश में बिलकुल अनैतिहासिक है। फिर भी इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि इस मतभेद ने जैन जाति को सर्व साधारण प्रगति और उन्नति में बहुत ही हानि पहुंचाई है। जैन साहित्य और इतिहास में मिलने वाली विरुद्ध दन्तकथाओं के कारण दोनों ही सम्प्रदायों को बहुत ही सहन करना पड़ा है। पारस्परिक विद्वेष और कभी-कभी तो इससे

1. मुखर्जी, राधाकुमुद, वही, पृ. 206। हुल्ट्ज का मत अग्राह्य है—1. वह प्रमाण दिए बिना ही यह मान लेता है कि अनंतवर्मन छठी-सातवीं सदी में अशोक की ई. पूर्व तीसरी सदी की ब्राह्मी लिपि का ज्ञाता और परिचित था।...शास्त्री—बैनरजी, वही, पृ. 57। ‘विद्वान् पण्डित द्वारा दूसरा कारण यह कहा गया है कि अनंतवर्मन जो कि हिन्दू था, को आजीवकों के प्रति यद्यपि कोई खाम वैमनस्य नहीं था, परन्तु वह लोगों में विष्णु या कृष्ण भक्त प्रसिद्ध था। वही। यह बात कर्न के कथन पर आधारित है (इण्डि. एण्टी., पुस्त 20, पृ. 361 आदि), परन्तु जैन सिद्धांत ग्रन्थ अथवा अन्य साहित्य से इसका समर्थन कुछ भी नहीं मिलता है। फिर भी, यह बिना किसी जोखम के कहा जा सकता है कि यह अपकृत्य हिन्दुओं या बौद्धों का कभी नहीं हो सकता है, बस, जो विकल्प शेष रहता है वह जैनों का है। ‘ऐतिहासिक दृष्टि से भी जैन-आजीवक विरोध इसे लगभग विश्वस्त बना देता है।’ शास्त्री—बैनरजी, वही, पृ. 60। हुल्ट्ज के वक्तव्य के लिए देखो कोरपस इंस्क्रिपशनम् इण्डिकारम्, पुस्त. 1, प्रस्ता. पृ. 28 नया संस्क. 1925 का।

2. शास्त्री—बैनरजी, वही, पृ. 53। 3. हरनोली, वही. 266, 267।

4. “इसमें कोई भी सन्देह नहीं रहता है कि छठी सदी ईसवी में जब कि वराहमिहिर ने इस शब्द का प्रयोग किया, उसका लक्ष्य जैनों का दिगम्बर सम्प्रदाय ही रहा था” वही पृ. 266।

भी अश्वि घृणा से ये एक दूसरे को देखते रहे हैं।¹ महावीर के धर्म के मूल अनुयायी कहलाने के उत्साह में दोनों में से एक भी अपनी उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं कहता है, परन्तु दोनों ही प्रतिस्पर्धी सम्प्रदाय की उत्पत्ति और कतिपय मान्यताओं की ध्यंगपूर्णा और कभी-कभी अपमानजनक टीका करते हैं।

पहले दिगम्बर दन्तकथाओं का ही विचार करें। उनके अनुसार हम देखते हैं कि दिगम्बर स्वयम् जैनसंघ में हुए इस सम्प्रदाय भेद के विषय में एक मत नहीं है। आचार्य देवसेन अपने ग्रन्थ 'दर्शनसार' में कहते हैं कि "श्वेताम्बर संघ का प्रारम्भ विक्रम राजा की मृत्यु के पश्चात् 136 वर्ष में सौराष्ट्र के वल्लभीपुर में हुआ था।"² इस विद्वान आचार्य के अनुसार श्वेताम्बरों की उत्पत्ति का कारण पुण्य "भद्रबाहु" के शिष्य आचार्य शांतिसूरि के शिष्य जिनचन्द्र का दुष्ट और व्यभिचारी जीवन था।"³

किस भद्रबाहु का यहाँ उल्लेख किया गया है यह स्पष्ट नहीं है यदि वह चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन भद्रबाहु ही है तो मतभेद का उक्त समय ठीक नहीं हो सकता है। परन्तु दिगम्बर दन्तकथानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पड़े महा दुष्काल के कारण भद्रबाहु और उनके शिष्यगण उत्तर से दक्षिण देश में चले गए थे और उसके परिणाम स्वरूप श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में जैनसंघ के विभक्त हो जाने का अनुमान सत्य हो तो यह निर्विवाद है कि वह भद्रबाहु वही होना चाहिए अन्य नहीं याने भद्रबाहु श्रुतकेवली।

देवसेनसूरि ने यही बात 'भावसंग्रह' में भी कही है, परन्तु उसमें भद्रबाहु के जीवन से सम्बन्धित दुष्काल के विषय में भी वह कुछ कह देता है। वहाँ भी जिनचन्द्र को उसी घृण्य रूप में चित्रित किया है। पर अधिक में यह कहा गया है कि उत्सूत्र मार्ग पर चलने के लिए उपालम्भ दिए जाने पर उतने अपने गुरु शांतिसूरि का वध ही कर दिया था।⁴ अभिभूत करने वाली बात तो यह है कि यहाँ भी इस सम्प्रदाय भेद की तिथि वही कही गई है।⁵

इस प्रकार दोनों दन्तकथाओं में निर्दिष्ट भद्रबाहु के सम्बन्ध में स्पष्ट ही कुछ भ्रम या अपूर्णता है। हो सकता है कि इनमें किसी दूसरे भद्रबाहु का उल्लेख किया गया हो, अथवा ऐतिहासिक घटना के सम्बन्ध में काल-क्रम का विचार किए बिना ही दन्तकथा बना दी गई हो। ये दोनों ही दन्तकथाएँ निर्दोष हों इसलिए भट्टारक राजनंदी ने भद्रबाहुचरित में यह अधिक कह दिया है कि भद्रबाहु के समय में अर्धफालक (अर्ध-वस्त्र परिधान किए) के नाम से मतभेद प्रारम्भ हुआ और स्थूलभद्र ने जब इस परिवर्तन करनेवाले का विरोध किया तो उसको मार डाला गया। इसके बहुत समय पश्चात् वल्लभीपुर में राजा की रानी उज्जायिनी के राजा की पुत्री चन्द्रलेखा के कारण अन्त में दो अलग सम्प्रदाय बन ही गए।⁶

1. इय उत्पत्ती कहिया, सेवइयाणं च भग्गभट्टाणं। आदि-देवसेनसूरि, भावसंग्रह (सोनीसम्पादित), गाथा 160, पृ. 39। देखो प्रेमी, दर्शनसार, पृ. 57। मिच्छादंसराभिरांमो...आदि। -आवश्यक सूत्र पृ. 324।
2. छत्तीसे वरिससए...सोरट्टे...उप्पणो सेवडो संघो। -प्रेमी, दर्शनसार, गाथा 11 पृ. 7।
3. वही, गाथा 12-15।
4. सोस सीसेण दीहदंडेण। थविरो घाएण मुओ...आदि। देवसेनसूरि, वही, गाथा 153, पृ. 38। देखो प्रेमी, वही, पृ. 56।
5. छत्तीस वरिससए...सोरट्टे उप्पणो सेवडसंघो...आदि। देवसेनसूरि, वही, गाथा 137, पृ. 35। देखो प्रेमी, वही, पृ. 35।
6. प्रेमी, वही, पृ. 60। दिगम्बरों के अनुसार 'भद्रबाहु, महावीर के पश्चात् आठवें पट्टधर, के समय में अर्ध-फालक नाम का एक शिथिलाचारी सम्प्रदाय हुआ जिनसे श्वेताम्बरों का वर्तमान सम्प्रदाय विकसित हुआ है।' दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 170।

इसके विपरीत में एक अन्य दन्तकथा यह कहती है कि स्थूलभद्र का ही दिगम्बरों के नग्नत्व के प्रति घोर विरोध था और उसके पश्चात् उसके शिष्य महागिरि ने 'नग्नता के आदर्श को पुनरुज्जीवित किया। वह मच्चा साधू था और यह मानता था कि स्थूलभद्र के शासन में धर्म में बहुत शिथिलता प्रवेश कर गई थी।' उनका इस प्रचार कार्य का मुहूर्ति ने विरोध किया। यह मुहूर्ति महागिरि के नीचे अनेक जैनसंघ नेताओं में से एक था।²

पश्चान्तर में श्वेताम्बर मान्यतानुसार इस पंथभेद का मूल नीचे लिखी बातों में दीखता है। रहवीर गांव में शिवभूति अथवा सहस्रमल्ल नाम का एक व्यक्ति रहता था। एक समय उसकी माता उससे अप्रसन्न हो गई इससे वह घर छोड़ कर चला गया और जैन साधू बन गया। साधू की दीक्षा लेने के बाद राजा ने उसे एक मूल्यवान कम्बल भेंट किया और वह उससे अभिमानी हो गया। उसके गुरु ने इसकी ओर उसका ध्यान दिलाया तो वह तब से ही नग्न रहने लगा। और उसने फिर दिगम्बर सम्प्रदाय चला दिया। उसकी बहन उत्तरा ने भी अपने भाई का अनुकरण करने का प्रयत्न किया। परन्तु स्त्रियां नग्न रहें यह उचित नहीं लगने से शिवभूति ने उससे कह दिया कि 'स्त्री मुक्ति की अधिकारिणी नहीं होती है।'³

इम पंथभेद की तिथि श्वेताम्बर महावीर के पश्चात् 609 वर्ष कहते हैं।⁴ महावीर निर्वाण और विक्रम के बीच 470 वर्ष के अन्तर के अनुसार यह घटना वि. सं. 139 में पड़ती है। इस प्रकार तिथि के विषय में दोनों ही प्रायः सम्मत हैं क्योंकि दिगम्बर विक्रम पश्चात् 136 वर्ष में और श्वेताम्बर वि. सं. 139 में पंथभेद हुआ कहते हैं। समय के विषय में इस प्रकार ऐक्य होते हुए भी कारणों के विषय में दोनों में तनिक भी ऐक्य नहीं है। जिनचन्द्र और शिवभूति ऐतिहासिक की अपेक्षा काल्पनिक व्यक्ति ही लगते हैं क्योंकि दोनों सम्प्रदायों की पट्टा-वलियों में ऐसे किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। इसी से दिगम्बर विद्वान श्री नाथूराम प्रेमी कहते हैं कि इस पर से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि दोनों में से कोई भी सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति नहीं जानता है। कुछ न कुछ लिखना या कहना चाहिए इस दृष्टि से बाद में जो जिसके मस्तिष्क में आया उसने वैसा ही लिख दिया है।⁵ कुछ कटु होते हुए भी कहना होगा कि दोनों सम्प्रदाय महावीर के समय जम्बू तक जो कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् 64 वें वर्ष याने ई. पूर्व 403 में निर्वाण हुए थे, के गुरुओं की वंशावली स्वीकार करते हैं।⁶ जम्बू के पश्चात् दोनों पक्ष अपने गुरुओं की भिन्न-भिन्न वंशावलियों देते हैं। परन्तु चन्द्रगुप्त के समय में हुए भद्रबाहु को दोनों ही स्वीकार करते हैं।⁷ सत्य तो यह है कि इन सब परस्पर विरोधी दन्तकथाओं में से सत्य बात का पता लग नहीं सकता है और इसलिए जैन समाज के इस महान् सम्प्रदाय-भेद की निश्चित तिथि बताना एक दम ही कठिन है।

1. श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 73।

2. वही, पृ. 74। 'मेरे विचार से ये भेद आर्य महागिरि और आर्यमुहूर्ति के समय से स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए हैं।' भवेरी, निर्वाणकलिका, प्रस्तावना, पृ. 7।

3. उपाध्याय धर्ममागर की प्रवचनपरीक्षा में यह कथा दी गई है। देखो हीरालाल हंसराज, वही, भाग 2, पृ. 15। बोडियसिवश्रूइउत्तराहि इमंय ।...रहवीरपुरे समुपपणं । आवश्यकसूत्र, पृ. 324।

4. छ्वाससयाइं नवुत्तराइं तभया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।

तो कोडियारा दिट्ठी रहवीरपुरे समुपपण्णा ॥ वही, पृ. 328। 'दिगम्बरों की उत्पत्ति शिवभूति से कही जाती है (ई. सन् 83) श्वेताम्बरों द्वारा और उसका कारण प्राचीन श्वेताम्बरों में भेद पड़ जाना कारण बताया जाता है।'...दामगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 17। 5. प्रेम, वही, पृ. 30।

6. देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 69। 7. देखो प्रेमी वही और वही स्थान।

इस कठिनाई के साथ-साथ दो बातें और हमें विशेष रूप में लक्ष्य में रखने की हैं। पहली यह कि दोनों का विरोध जैन साधू नग्न रहें अथवा अपने शरीर को ढकने के लिए एक या अधिक वस्त्र रखें इस प्रश्न पर है। दूसरी यह कि दोनों में सम्प्रदायभेद के समय के विषय में सर्व साधारण एक मान्यता है।

दोनों सम्प्रदायों के नाम ही उनके अर्थ का सूचन करते हैं। दिशा रूप वस्त्र है जिनका ऐसे दिगम्बरों की यह मान्यता है कि साधू के लिए एक दम नग्नता आवश्यक है। दूसरी सम्प्रदाय का श्वेत वस्त्र पहनने वाले यह अर्थ होता है। महावीर नग्न रहते थे इसे श्वेताम्बर भी स्वीकार करते हैं। फिर भी वे कहते हैं कि वस्त्र के उपयोग मात्र से ही उच्चतम मोक्ष पद तक नहीं सकता है।¹ यदि यह निर्णय सत्य ही तो जैनधर्म के मूल में कौन सम्प्रदाय होना चाहिए इस विषय में दोनों को ही वादविवाद करना आवश्यक नहीं है क्योंकि उनकी मान्यतानुसार तो जैनधर्म आदि और अन्त रहित है। ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से हम इतना ही कह सकते हैं कि श्वेताम्बर महावीर की अपेक्षा पार्श्वनाथ का अधिक अनुसरण कर रहे हैं। पक्षान्तर में दिगम्बर पार्श्वनाथ की अपेक्षा महावीर के अधिक निकट हैं क्योंकि महावीर ने अपना साधू जीवन नग्नतावस्था में ही बिताया था और पार्श्वनाथ एवम् उनके अनुयायी सबस्त्र जीवन बिताते थे।² इसके सिवा यदि श्वेताम्बरों के शास्त्रीय प्रमाण स्वीकार किए जाए तो एक कदम आगे बढ़ कर यह भी कहा जा सकता है कि दिगम्बरों ने महावीर के वचनों का जहां अक्षरशः पालन किया है वहां श्वेताम्बरों ने किसी भी नियम का उल्लंघन नहीं किया है क्योंकि महावीर ने अपनी निर्विकल्प ध्यानस्थ अवस्था में जो अनुभव किया उसे चाहे जिस आध्यात्मिक दशा में उनके अनुयायी चिपके रहें, ऐसी उनकी धारणा नहीं थी।

इतना होने पर भी जैनधर्म के मूल में दोनों में से कौन है यह प्रश्न ही चर्चा का विषय नहीं है क्योंकि जैनसंघ में जैनधर्म का आदि अनुयायी कौन है अथवा कौन हो सकता है इसका निर्णय करना ही कठिन है। इतिहास के अभ्यासियों का यह विषय नहीं है। उनकी खोज का विषय यदि कुछ है तो यही कि जैनसंघ में यह पंथभेद किस समय हुआ था? जो तथ्य हमें प्राप्त हैं उसकी विचार पूर्वक समीक्षा करना भी हमारे लिए सम्भव नहीं है। हम कुछ कर सकते हैं तो इतना ही कि महावीर के समय में मंखलिपुत्र जब अपने मनस्वी मत की प्ररूपणा की तब ही इस सम्प्रदाय-भेद का कीड़ा जैनसंघ को लग गया था। उसकी मृत्यु के बाद आजीवकों का बल भी बहुत घट गया था फिर भी कुछ निगंठ ऐसे थे कि जो नग्नता, कमण्डलु की अनावश्यकता, जीवन विषयक अपेक्षा, दण्ड का विशेष चिन्ह और अन्य अनेक बातों में आजीवकों के साथ सहानुभूति रखते थे।³ यह सहानुभूति बहुत सम्भव है कि भद्रबाहु के समय में ही बताई गई होगी जब कि दिगम्बरों की मान्यतानुसार पंथभेद का श्री गणेश

1. "तपस्वियों में नग्नता महावीर-काल में 'अनेक सम्प्रदायों में व्यवहार में थी, परन्तु बौद्ध एवम् अन्य अनेक जो कि इसको जंगली और अशोभन मानते थे, उनमें यह निर्दिष्ट गहित भी थी।" —इलियट, वही, पृ. 112।

2. देखो याकोबी, सेवुई, पुस्त. 119-129। "संभावना यह लगती है कि सदा से संघ में दो मत या पक्ष रहे थे। वृद्ध और निर्बल जो कि वस्त्र पहनते थे और जो पार्श्वनाथ के समय से चले आ रहे थे और जो स्वविरकल्पी कहे जाते थे। श्वेताम्बरों के आध्यात्मिक गुरु ये ही हैं। दूसरा पक्ष था जिनकल्पियों का जो महावीर की भांति ही नियम का अक्षरशः पालन करते थे और ये ही दिगम्बरों के अप्रदूत हैं।" —श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 79।

3. हरनोली, वही, पृ. 267 आदि।

पहले पहल हुआ था।¹ परन्तु तब तो यह भेद स्पष्ट प्रकाश में नहीं आया होगा। फिर जब हम स्थूलमत्र और आर्य महागिरि की दन्तकथाओं का विचार करते हैं और ई. सन् की पहली सदी के अन्त तक पहुंचते हैं तो हमें जैनसंघ में श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद की मान्यताएं स्पष्ट रूप से दिखलाई देती हैं।² यद्यपि दोनों सम्प्रदायों द्वारा प्रस्तुत की गई दन्तकथाएं अतिरंजित और निर्बोध दिखलाई देती हैं फिर भी एक बात उनसे स्पष्ट हो जाती है कि जैन इतिहास के इस विशेष समय में कोई ऐसी विचित्र या साधारण घटना घटित हुई होगी कि जो इन सब साहित्यिक दन्तकथाओं के लिए कारणभूत कही जा सकती हैं। फिर भी हम ऐसा नहीं कह सकते हैं कि दोनों सम्प्रदायों का मतभेद यहीं से वस्तुतः है क्योंकि मथुरा के शिलालेखों में हमें कितने ही ऐसे तथ्य मिलते हैं कि जो यह प्रकट करते हैं कि दोनों सम्प्रदायों में उस समय भी अनेक वस्तुएं एक थी जो कि परवर्ती काल में दोनों में चर्चा का विषय हो गई।

वस्तुस्थिति को और भी स्पष्ट करने के लिए हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जो मुख्य तथ्य दोनों सम्प्रदायों में मतभेद के विषय हैं वे हैं:—महावीर के गर्भ का अपहरण, स्त्रीमुक्ति और केवलीमुक्ति जिनको दिगम्बर अमान्य करते हैं और श्वेताम्बर मान्य। फिर जैनों का प्राचीन आगम साहित्य नाश हो गया यह भी दिगम्बर कहते हैं।³ कितने ही विधिविधानों और सामान्य बातों को छोड़ दें तो ये ही मुख्य तथ्य दोनों सम्प्रदायों के मतभेद के हैं।⁴

मथुरा की शिल्पकला का विचार करते हुए पता लगता है कि महावीर के गर्भापहार के शिल्प में महावीर को नग्न दिखाया गया है। शिल्प में नेमस के वाम घुटने के पास एक छोटे आकार का साधू खड़ा दिखाया है वह महावीर ही है। शिल्पशास्त्री ने उस प्रसंग को प्रदर्शित करने के उद्देश से साधू के उपकरण भी दिखाए हैं।⁵ और महावीर के तब तक जन्म नहीं लेने एवम् अर्हत्पद प्राप्त नहीं करने के कारण ही उन्हें इतने लघु आकार में बताया गया है।⁶ इस प्रकार मथुरा के एक ही शिल्प में दिगम्बरों की नग्नता की मान्यता और श्वेताम्बरों के गर्भापहार की मान्यता दोनों ही आ जाती हैं। इससे यह देखा जा सकता है कि ई. सन् की पहली सदी तक तो दोनों सम्प्रदायों का पंथ-भेद निश्चय ही उत्पन्न नहीं हुआ था।

फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनमूर्ति-शास्त्र प्रारम्भ में जैन तीर्थंकरों को नग्न ही बनाना है और अधिक नहीं तो कम से कम ई. सन् की दूसरी सदी तक तो ऐसा ही। मनमोहन चक्रवती उदयगिरि और खण्डगिरि

1. इससे ऐसा लगता है कि जैनसंघ का दिगम्बर और श्वेताम्बर में विभाजन, जैनधर्म के प्रारम्भ में ही पाया जाता है। इसका एक मात्र कारण महावीर और गोशाल दो सहयोगी नेताओं का पारस्परिक विरोध है जो कि दो विरोधी सम्प्रदायों का नेतृत्व करते थे। हरनोली, वही, पृ. 268।

2. निर्वाणकलिका की प्रस्तावना में श्री भवेरी लिखते हैं कि 'इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ऐसा मालूम देना है कि विक्रम की पहली शती में दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से दो सम्प्रदाय जैनसंघ में अस्तित्व में थे। सिद्धसेन दिवाकर की स्तुतियों की प्रशस्ति से भी प्राचीनकाल में ऐसे सम्प्रदायों के अस्तित्व का समर्थन होता है।' प्रस्तावना पृ. 7। 3. तेण कियं मणमेयं इत्थीणं अत्थि तवमवे मोक्खो।

केवलणारीण पुणो अहक्खाणं तहा रोओ॥

अंबरसहिओ वि जई सिज्झइ वीरस्स गवमचारत्तं। प्रेमी, वही, गाथा 13-14, पृ. 8।

4. 'उसके (नेमस के) वाम घुटने के पास एक छोटा नग्न पुरुष खड़ा है जिसके बाएं हाथ में साधू की भांति वस्त्र है और दायां हाथ ऊंचा उठा हुआ है।' वूलर, एपी. इण्ड., पुस्त. 2, पृ. 316। 5. वही, पृ. 317।

के स्मारकों के विषय में लिखते हुए कहते हैं कि 'मात्र तीर्थ'कर ही नगनावस्था में देखे जाते हैं। किसी किसी स्थान में वे भी वस्त्र पहने दिखाए जाते हैं जहां कि उनके मानवी जीवन के दृश्य या प्रसंग बताए गए हैं। स्त्रियों, राजाओं देवों, अर्हंतों, गंधर्वों और परिचारकों को बहुधा वस्त्र सहित बताया गया है। मथुरा शिल्प में नर्तकियां, अश्वामुख और कुछ तापस दिग्म्बर याने नग्न बताए गए हैं। कभी-कभी स्त्रियां भी नग्न बताई गई हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनमें वस्त्र की सूक्ष्म रेखाएं दिखलाई पड़ती हैं कि जिसमें से शरीर की मरोड़ आरपार दिख आती है।¹ परवर्ती इतिहास में वराहमिहिर ने अपने बृहत्संहिता ग्रन्थ में जैन तीर्थंकरों का वर्णन इन शब्दों में किया है—'जैनों के देव नग्न, युवान, स्वरूपवान, शांत मुख मुद्रा वाले और धुटनों तक लम्बे हाथों वाले चिचित किए जाते हैं।'²

इस प्रकार ईसवी सन् के प्रारम्भ तक जैनसंघ में दो पृथक सम्प्रदाय जैसा कुछ भी यद्यपि नहीं देखा जाना है, फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि महान् दुष्काल के समय की भद्रबाहु की और ईसवी सन् 80 की जिनचन्द्र और शिवभूति की कथाएं उम महान् पंथभेद के इतिहास की सुस्पष्ट वस्थाएं हैं, जिसने कि, लेखक के मतानुसार, ईसवी पूर्व 250 में महावीर निर्वाण मानते हुए देवधिगण क्षमाश्रमण की प्रमुखता में³ ईसवी 5वीं सदी में जब दूसरी परिपद मिली तब दो स्पष्ट सम्प्रदायों में अन्तिस रूप से पृथक-पृथक कर दिया था।⁴ परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि ऐसे स्पष्ट सम्प्रदाय इस समय से कुछ पूर्व ही हो गए हों और समय जैन सिद्धान्त के अन्तिस स्थिरिकरण एवम् उम रूप में लेखन ने, कुछ सिद्धान्तों और कुछ विश्वासों की विभिन्नता के साथ इन्हें जैनसंघ के समक्ष दो स्पष्ट विभागों में अन्ततः प्रस्तुत कर दिया हो। इसे ऐसे युग का जब कि सब बातें लिख-लिखाकर संहिताबद्ध की जा रही थी स्वाभाविक समनुपात भी निरापदे कहा जा सकता है।

पश्चिम भारत की गुफाओं के अध्ययन के आधार पर श्री जेम्स बर्ड यही समय इस महान् सम्प्रदाय भेद का स्वीकार करता है और इस निर्णय पर पहुंचता है कि "दिग्म्बर जैनों की उत्पत्ति ई. सन् 436 के आसपास होना इन गुफाओं की तिथि से भी मेल खा जाता है। काठियावाड़ में स्थित पालीताणा के जैन मन्दिरों की कथा "शत्रुजयमाहात्म्य भी दिग्म्बरों की उत्पत्ति का समय यही निश्चित करती है।"

इस पंथभेद के इतिहास का उपसंहार, संक्षेप में, सर चार्ल्स ईलियट के शब्दों में इस प्रकार किया जाता है कि "संभवतया दिग्म्बर और श्वेताम्बर भेद जैनधर्म की शैशवावस्था से ही चले आते हों और श्वेताम्बर ही वह प्राचीन सम्प्रदाय हो जिसको महावीर ने संस्कारित अथवा गुरुतर किया हो। हमें यह कहा गया है कि "वर्धमान के नियम वस्त्र का निषेध करते हैं, परन्तु पुरसादानी मार्ग के नियम एक अघो और एक उपरि इस प्रकार दो वस्त्रों की आज्ञा देते हैं परन्तु यह पंथ भेद बहुत वर्षों बाद निश्चित रूप में उग समय प्रकट हो ही गया कि जब दोनों के शास्त्रों का पृथक-पृथक निर्माण हुआ।"⁵

1. मनमोहन चक्रवर्ती, नोट्स आन दी रिमेन्स आन धौली एण्ड इन दी केज आफ उदयगिरि एण्ड खंडगिरि.
2. बृहत्संहिता, अध्या. 59, राएसो पत्रिका, नयी माला सं. 4 पृ. 328 में कर्न का अनुवाद। देखो (पृ. 2)। चक्रवर्ती, मनमोहन, वही और वही स्थान। 3. देखो प्रेमी, वही, पृ. 31।
4. यह निश्चित लगता है कि ई. सन् 454 में सब शास्त्र लिख लिये गए थे और उनकी प्रतियां भी अनेक इमलिए कराई गई कि कोई भी प्रमुख उपाश्रय उनके बिना नहीं रह जाए। —"श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 15।
5. बर्ड, हिस्टोरिकल रिसर्च, पृ. 72। 6. ईलियट, वही, पृ. 112।

जैनसंघ के इस पंथभेद का पूर्व इतिहास इतना अधिक गुंफित होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि दोनों सम्प्रदायों में वास्तविक भेद बहुत ही अल्प है। कितने ही सिद्धान्तिक और विधिविधान की बातों में दोनों में मतभेद बड़ा अवश्य है फिर भी अनेक विरोधात्मक तथ्य अनावश्यक और परोक्ष हैं। आधुनिक युग के अत्यन्त सम्मान्य और अत्यन्त धर्मिष्ठ श्री रायचन्द्रजी के विचार बहुत कुछ ऐसे ही हैं।¹ वे एक महान् तत्त्वज्ञ और आध्यात्मिक व्यक्ति थे और उनके विचार आज भी अनेक व्यक्तियों को स्वीकार्य हैं।

“दिगम्बरों ने, “डॉ. दासगुप्ता कहता है कि, श्वेताम्बरों से बहुत प्राचीन काल में ही पृथक होकर अपने-विशेष धार्मिक क्रिया काण्ड रच लिये और अपना पृथक धार्मिक और साहित्यिक इतिहास भी बना लिया हालांकि प्रमुख सिद्धान्त के विषय में दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं दीखता है।”² तात्विक दृष्टि से दोनों सम्प्रदायों इस प्रकार परस्पर विशेष भिन्न नहीं है। जो भी अन्तर उनमें हैं वह सब व्यापारिक बातों का है और विल्सन ठीक ही कहता है कि “उनका पारस्परिक विद्वेष जैसा कि सामान्यतः होता है, उसकी उत्पत्ति के मूल की अपेक्षा तीव्रता में अति ही असन्तुलित है।”³

जैनसंघ के इस दूसरे पंथभेद को यही समाप्त कर अब हम श्वेताम्बर जैनों के अमूर्ति पूजक भेद का भी विचार कर लें जिन्हें आज कल ढूँढ़िया अथवा स्थानकवासी कहा जाता है। जैनधर्म के इतिहास में यह पंथभेद बहुत ही पीछे से हुआ और यह कहने में भी कुछ आपत्ति नहीं है कि भारतवर्ष के धार्मिक मानस पर मुसलमानधर्म की सीधा प्रभाव ही वह कहा जा सकता है। श्रीमती स्टीवन्सन कहती हैं कि “मुसलमान विजय का एक और तो यह प्रभाव हुआ कि मूर्तिसंजकों के विरोध में अनेक जैन अपने मूर्तिपूजक जैन साथियों के अत्यन्त निकट आ गए तो दूसरी ओर यह भी हुआ कि उसने कुछ को मूर्तिपूजा से बिलकुल चलित भी कर दिया। कोई भी पोर्बल्य अपने पौर्वीय बन्धु द्वारा मूर्तिपूजा विरोधी प्रचार का चीत्कार इसको औचित्य का मन में संदेह जगाए बिना सुन ही नहीं सकता है।

“यह स्वाभाविक ही था कि गुजरात के प्रमुख नगर अहमदाबाद में जो कि उस समय मुसलमानी प्रभाव में अत्याधिक था, ही इस शंका के पहले पहल चिन्ह हमें दिखलाई दिए। लगभग ई. 1452 में अमूर्तिपूजक प्रथम जैन सम्प्रदाय याने लौका सम्प्रदाय का उद्भव हुआ और ई. 1653 में फिर ढूँढ़िया या स्थानकवासी सम्प्रदाय अस्तित्व में आया। यह एक आश्चर्य की ही बात है कि भारत की यह प्रवृत्ति योरप की ल्यूथर और पवित्रपंथी ईसाई सम्प्रदायों की ही समकालिक है।”⁴

जैनसंघ के इस सम्प्रदाय के विषय में अधिक कहने की यहां आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह हमारे निर्दिष्ट काल से बहुत ही बाद का है। परन्तु जैनसंघ में आज पाए जाने वाले भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दिगम्बर सम्प्रदाय चार उपसम्प्रदायों में⁵ आज विभक्त है और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक 84 गच्छों में एवम् स्थानकवासी 11 टोलों में।⁶ इसवी दसवीं सदी के पूर्व इनमें से किसी भी विभाग का जन्म

1. विवादसंबन्धीनि बहुनि स्थलानि तु अप्रयोजनायमानान्येव तयोः । —रायचन्द्रजी, भगवतीसूत्र, तिनागम प्रकाश सभा, प्रस्तावना, पृ. 6 ।
2. दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ. 170 । 3. विल्सन, वही, भाग 1, पृ. 340
4. श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 19 । 5. दिगम्बरः पुनर्याम्यलिगाः पाणिपात्राश्च । ते चतुर्धा, काष्ठासंघ-मूलसंघ-माथुरसंघ-गोप्यसंघमेदात-प्रेमी, वही, पृ. 44 ।
6. देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 13 ।

नहीं हुआ था और स्थानकवासी जैनों को छोड़कर अनेक भेद तो आज लोप भी हो गए हैं। यदि आज भी कुछ अस्तित्व में होंगे तो उनमें श्वेताम्बर-दिगम्बर विरोध जैसा परस्पर स्पष्ट तिरस्कार या कटुता कदाचित् होगी।

यहां यह कह देना भी आवश्यक है कि महावीर के समय से कही या उसके पहले से ही मतभेद का यह स्वर या पागलपन जैनधर्म की यह विशेषता ही प्रतीत होती है। भारतवर्ष के अन्य धर्मों में ऐसा पागलपन है या नहीं मैं कुछ भी नहीं कह सकता हूँ। परन्तु इतना तो स्पष्ट ही मालूम होता है कि उनमें मतभेद जैनों की जितनी सीमा तक कभी नहीं पहुंचा होगा। 2000 वर्ष से अधिक के इस अन्तर काल में जैनसंघ के जीवन में जो मत भेद उत्पन्न हुए वे अधिकांश निम्न कारणों से ही उद्भूत हुए लगते हैं। इनमें से कितने ही तो महावीर के कथन की गैरसमझ या चिसंवाद से हुए हैं। दूसरे इस कारण से कि जैनधर्म ग्रहण करनेवाले जिम देश और जाति में उत्पन्न हुए थे वे इनकी विशिष्ट परिस्थितियों और सयोगों को नहीं छोड़ पाए थे, और तीसरे इससे कि जैन साधुओं के मुखी या खास खास आचार्यों की मान्यता पृथक पृथक होती जा रही थी एवम् जैन माधुसंधों का पारस्परिक मन-भेद के कारण बढ़ गया था।¹

इन सब मतभेदों और सम्प्रदायों के होते हुए भी, 'जैनधर्म आज पर्यन्त जीवित धर्म रूप में खड़ा है यही एक विलक्षण बात है। जब कि बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि भारतवर्ष से अदृश्य ही हो गया है।'² सरसरी दृष्टि से देखने पर यह एक विचित्र सा ही भासता है। किन्तु श्री ईलियट कहता है कि 'इसकी शक्ति और जीवित रहना उसके गृहस्थ अनुयायियों की प्रीति सम्पादन करने और उन्हें एक रूप में संगठित करने की शक्ति के केन्द्रित है।'³ पश्चात्तर में बौद्धों में भिक्षुसंघ ही वस्तुतः बौद्धधर्म माना जाने लगा था और जन समुदाय (जैसा की चीन और जापान में वस्तुतः हुआ है वैसे ही) अन्य धार्मिक संसों के समान इस भिक्षुसंघ को अपने से बाहर की वस्तु मान भिक्षुओं को पूज्य पुरुषों की भांति पूजने लग गया था। फिर जब बौद्धधर्म मठों और विहारों में गन्दगी फैलने लगी या उनका नाश किया गया तो जीवित बौद्धधर्म जैसा कुछ भी शेष नहीं रहा। परन्तु जैनों के परि-भ्रमण करने वाले साधुओं ने धर्म की सारी सत्ता अपने में इतनी केन्द्रित नहीं की थी और उनके अनुशासन की कठोरता से उनकी सख्या भी सदा ही परिमित रही थी। गृहस्थ धनवान थे और एक संघ बना कर रहते थे और अत्याचार उन्हें सदा उत्साहवर्धक रहता था। परिणाम यह हुआ कि जैन जाति यहूदियों, पारसियों, क्वेकरों आदि

1. इन सब के उदाहरण स्वरूप हम पहला सात निन्हवों और दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद को स्थान देंगे जिनका कि विचार हम कर ही चुके हैं। दूसरा उदाहरण हम ओसवाल, श्रीमाल का भेद का देंगे जिसमें कि श्रीमाल, श्रीमाल या भिल्लमाल (आधुनिक भीमल, मारवाड़ के धुर दक्षिण का) गांव के नाम से पाते हैं। (एपी. इण्डि., पुस्त. 2, पृ. 41), और तीसरा उदाहरण हैं श्वेताम्बरों के 84 गच्छ भेद जिनमें से तपा खरतर और अंचल गच्छ ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से खरतरगच्छ जिन परिस्थितियों में उद्भव हुआ वे इस प्रकार कही जाती हैं—जिनदत्त एक अभिमानी व्यक्ति थे। उनका यह अभिमान उनके दिए टुटक उत्तरों में स्पष्ट दीखता है जिनका कि सुमतिगणि ने उल्लेख किया है। इसीलिए वह खरतर कहलाने लगे थे। परन्तु उनने इस व्यंग को सम्मानसूचक समझ खुशी से स्वीकार कर लिया। हीरालाल हंसराज, वही, भाग 2, पृ. 19-20।
2. ईलियट, वही, पृ. 122।
3. 'डा. हरनोली निःसंदेह यह ठीक हीं कहते हैं कि जैन श्रावकों यह उत्तम संगठन जैनसंघ के समस्त जीवन में बड़े महत्व का रहा होगा, यही नहीं अपितु भारतवर्ष में जैनधर्म के अपनी स्थिति बनाए रखने का प्रधान कारण भी रहा होगा जब कि इसको अत्यन्त प्रमुख प्रतिद्वन्दी बौद्धधर्म ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया द्वारा देश से बिलकुल भाड़पुछ ही गया था।' शार्पेटियर, केहिं, भा. 1, पृ. 168-169।

जातियों की ही भांति हो गई कि जिनमें गृहस्थों का श्रीमंतपन, थोड़ा या बहुत क्रियाकाण्डपन और अत्याचार-सहनशीलता आदि समान लक्षण हैं।¹

दूसरे विद्वानों की भी ऐसी ही मान्यता है।² परन्तु जब हम जैनधर्म को टिकाए रखने वाली सब परिस्थितियों का विचार करते हैं तो अनेक अन्य कारणों की अपेक्षा भी हम नहीं कर सकते हैं। यदि साधारण समुदाय के लिए जैनधर्म मुक्त करने से यह टिक मका हो तो साथ ही हमें यह भी कहना होगा कि बौद्धधर्म की अपेक्षा संकुचित प्रचार कार्य और पूजा के मुख्य केन्द्रों के लिए चुने गए एकांत स्थान भी इस स्थायित्व के कारण हैं।³ इससे मुसलमान अत्याचारों और ब्राह्मणों के पुनरुत्थान के दबाव में भी जैनधर्म सही सलामत टिका रह सका था जब कि बौद्ध धर्म हिन्दूधर्म के दबाव के नीचे भारतवर्ष में बिलकुल ही दब गया था।⁴ “जैनों को नास्तिक मानते हुए भी ब्राह्मणों ने उनके प्रति दिखाई सहिष्णुता से उस समय अनेक बौद्धों ने जैनसम्प्रदाय में आश्रय ले लिया।”⁵ इस प्रकार जहाँ तक मुसलमानों की सत्ता ने “राष्ट्र की धार्मिक, राजसिक, और सामाजिक सत्ता को तोड़ नहीं दिया और छोटी-छोटी जातियों, समाजों तथा धर्मों के लिए सर्वत्र अनुदारता दिखाई”⁶ वहाँ तक जैनों ने अपनी हस्ति टिकाए ही रखी थी।

डॉ. शार्पेटियर और डॉ. यकोबी के अनुसार भारत में बहुत से सम्प्रदाय नष्ट हो गए थे तब जैनधर्म के टिके रहने का कारण महावीर के समय से चले आने सिद्धान्तों से दृढ़ता के साथ चिपके रहने की उत्कट लगन या

1. ईलियट, वही, पृ. 122। बौद्धों में भी उपासकों और भिक्षुओं का संगठन ऐसा ही था, परन्तु जैसा कि स्मिथ कहता है, उपासकों के संघ की अपेक्षा उनसे अधिकशक्त उपासम्पदा प्राप्त भिक्षु-संघ पर भरोसा किया था। देखो स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 52। जैनों में दोनों पक्षों के सम्बन्धी अधिक संतुलित थे और इसलिए उनका सामाजिक संतुलन स्थिर था। देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 67; मैकडोन्गेल, इण्डियाज पास्ट, पृ. 70।
2. डॉ. हरनोली का इस विषय पर बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी में 1898 में दिए मभाषित-पद के भाषण में विवेचन अद्वितीय रूप से प्रकाशवान था क्योंकि उसमें जैनों के संगठन में श्रावकों को प्रारम्भ से ही उपादान मूलक भाग का स्थान प्राप्त, इस बात पर उनसे पूरा-पूरा बल दिया है। बौद्धसंघ में, पक्षान्तर में, उपासकवर्ग को कोई भी औपचारिक मान्यता नहीं थी। इस प्रकार “जैन साधारण के सांसारिक जीवन में विरत स्तर के साथ सम्बन्ध के अभाव में बौद्धधर्म बारहवीं और तेरहवीं सदी में हुए उनके भिक्षु-विहारों पर के मुसलमानों के घोर आक्रमणों के सामने टिके रहने में अशक्त ही नहीं रहा, अपितु देश की भूमि से लोप ही हो गया।” श्रीमती स्टीवन्सन, वही, प्रस्ता. पृ. 12। देखो शार्पेटियर, वही, भाग 1, पृ. 168-169; हरनोली, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, विवरण-पत्रिका, 1898, पृ. 53।
3. “...बौद्धों की अपेक्षा न्यून साहसी परन्तु अधिक परिचितशील होने और उसकी भी प्रारम्भिक अवस्था की सी मक्रिय प्रचारवृत्ति नहीं रख कर जैनधर्म ने अपेक्षाकृत तंग परिसीमत्रों में शांत जीवन बिताने में सन्तुष्ट रहा और इसलिए आज भी पश्चिमी और दक्षिणी भारत न केवल सम्पन्न मुनि सस्था ही उसकी दीख रही है अपितु श्रावक भी संख्या में कम होते हुए भी प्रभावशाली धनी हैं। श्रीमती स्टीवन्सन, वही, प्रस्तावना पृ.12। ‘अप्रतिरोधक शिखर पर नहीं पहुँच कर, परन्तु साथ ही प्रतिस्पर्धी बौद्धधर्म की भांति अपनी जन्मभूमि में से सम्पूर्णतया विलोप भी नहीं हुआ है। शार्पेटियर, वही, पृ. 169-170।
4. देखो कुक, एरिए, भाग 2, पृ. 496। 5. टीले, वही, पृ. 141। 6. बार्थ, वही, पृ. 152।

तत्परता ही मालूम होती है। “छोटी सी जैनजाति की अपने मूल सिद्धान्तों और संस्थाओं को चिपके रहने की अप्राप्तपूर्णा अनुदारता ही बहुत करके घोर अत्याचारों के सामने उसे टिकाए रखने का मुख्य कारण है क्योंकि बहुत समय पूर्व, जैसा कि डॉ. याकोबी कहता है, याने ई. पूर्व लगभग 300 में मद्रबाहु के समय में प्रथम पंथभेद हुआ तब से ही जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त बहुत कुछ अपवर्तित ही रहे हैं। इसके सिवा यद्यपि साधुओं और गृहस्थों के लिए कितने ही सामान्य अनुशासन नियम जो कि शास्त्र में देखने में आते हैं, अनुपयोगी और विस्मृत हो गए हों फिर भी ऐसा निशंक कहा जा सकता है कि दो हजार वर्ष पूर्व जो धार्मिक जीवन था लगभग वहीं आज भी वैसा ही दीख पड़ता है। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि फेरफारों का एकदम अस्वीकार ही जैनधर्म के सुदृढ़ अस्तित्व का कारण हो गया है।”¹

वह अनुदार स्वभाव जैन समाज के लिए जैसी कि आज भी उसकी स्थिति है, लाभदायक है या नहीं, यह मारी शंकास्पद बात है। आज के समकालिक धर्मों के अध्येता को वह विपरीत ही लगता होगा। स्थिति स्थापकता में असहिष्णुता, अस्थिरता और धार्मिक दंभ के चिन्ह ही उसे दीख पड़ेंगे। उत्सर्ग-लेखों और अन्य प्रमाणों से सर चार्ल्स ईलियट कहता है कि “इन उल्लेखों से हम जानते हैं कि जैन जाति बहुत से उपविभागों और सम्प्रदायों की बनी है, पर इससे हमें यह विचार कर लेना नहीं चाहिए कि भिन्न-भिन्न गुरु एक दूसरे के प्रति वैमस्य रखते थे। परन्तु उनका अस्तित्व यह प्रमाणित करता है कि उनकी प्रवृत्ति और व्याख्या की स्वतन्त्रता ही आज के अनेक उपसम्प्रदायों का कारण होगी।”²

परन्तु एक बात बिल्कुल स्पष्ट है और वह यह कि मारी जैन समाज के सामान्य हित का विचार किए बिना ये सब भिन्न भिन्न गुरु अपनी ही हांकते रहे थे।

कर्नल टाड कहता है कि ‘तपागच्छ और खरतरगच्छ ने प्राचीन कितनी ही पुस्तकों को नाश करके मुसलमानों से भी अधिक हानि पहुंचाई है।’³ यही बात जैनों के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के विषय में भी कही जा सकती है। भूत काल में ही नहीं अपितु आज भी इनकी एक दूसरे के प्रति प्रवृत्तियां महावीर के अनुयायी को शोभा दे ऐसी नहीं हैं। स्थिति यह है कि कोई भी जाति के प्रति गैरसमभ उत्पन्न किए बिना यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि इस प्रकार का विरोधी वातावरण और पारस्परिक विवाद जैन समाज में कुछ अधिक काल तक चलता रहेगा तो एक समय ऐसा आ जाएगा कि जब जैन जाति अपने बन्धु बौद्धधर्म की भांति इस देश से नाश हो जाएगी।

1. शार्पेटियर, वही, पृ. 169। देखो याकोबी, जेडडीएमजी, संख्या 38, पृ. 17 आदि।

2. ईलियट, वही, पृ. 113।

3. टाड, ट्रे वल्स इन व्यैस्टन इण्डिया, पृ. 284। कर्नल टाड की यह बात मानी जा सके ऐसी नहीं है क्योंकि इसके सिवा न तो उतने ही कोई प्रमाण दिया है और न ऐसा प्रमाण कहीं कोई उपलब्ध ही है।

तीसरा अध्याय
राजवंशों में जैनधर्म
ई. पूर्व 800--200

1

पिछले अध्याय में हमने जैनधर्म के विषय में विचार किया था। पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे और महावीर का अपने समय के कितने ही प्रमुख राज-कुटुम्बों के साथ रक्त-सम्बन्ध था, ये दोनों ही बातें अत्यन्त महत्व की हैं क्योंकि हमें अब यह देखना है कि कितने संयोगों में 'जैनधर्म' अमुक राज्यों का राज्यधर्म बना और कितने राजाओं ने उसे अपनाया या उसे उत्तेजन दिया एवम् अपनी प्रजा को भी अपने ही माध्व जैनधर्म बना दिया।¹

हमारा यह प्रयत्न सिवा इ वे और कुछ भी नहीं है कि हम उत्तर-भारत के जैनों का इतिहास को देश के उस विभाग का सब वैध ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सहित आरोप करें। या यों कहिए कि इस अध्याय का लक्ष्य उस काल के राजवंशों का उत्तर-भारत के जैनों के साथ क्या सम्बन्ध रहा था उसका तादृश चित्र खींचना है।

पहले पार्श्वनाथ के समय का विचार करते हुए हम देखते हैं कि ऐसा एक भी उपयोगी साधन उपलब्ध नहीं है कि जिस पर हम कुछ भरोसा कर सकते हैं। 'उनके नाम के साथ यद्यपि साहित्य का बहुत अधिक भाग संबद्ध है, फिर भी पार्श्वनाथ के जीवन और धर्मकथन सम्बन्धी हमारी जानकारी बहुत ही परिमित है।' जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उस सब साहित्य में ऐतिहासिक वस्तु यदि कुछ है तो वस इतनी ही कि वे इंद्राकु वंश के वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे² और बंगाल (आजकल बिहार) में स्थित समेत शिखर पहाड़ी पर निर्वासित हुए थे। उनका सांसारिक सम्बन्ध राजा प्रसेनजित के राजकुल के साथ हुआ था जिसका पिता पृथ्वीपति नरवर्मन था और जो कुशस्थल में राज्य करता था एवम् जीवन के अन्तिम दिनों में जैन साधू बन गया था। प्रभावती नामक उसकी पुत्री के साथ पार्श्वनाथ का विवाह हुआ था।³

1. स्मिथ, वही, पृ. 55 । 2. शापेंटियर, वही, पृ. 154 ।

3. ...अनुगंगं नगर्यस्ति वाराणस्यभिधानतः ॥

तस्यामिन्द्राकुवंशो भूदश्वसेनो महीपतिः ॥ हेमचन्द्र, त्रिपिट-श्लोका. पर्व 9, श्लो. 8, 14, पृ. 196 ।

4. पुरं कुशस्थलं नाम...। तित्रासीन्नरवर्मेति...।... पृथिवीपतिः ॥ जैनधर्मरतो नित्यं...। उपादत्त परिव्रज्यां सुसाधुगुरुसन्निधौ ॥...राज्ये भून्नरवर्मणः। सतुः प्रसेनजिन्नाम...॥ तस्य प्रभावती नाम।...कन्यका ॥... पार्श्वी...।...उदुवाह प्रभावतीम् ॥ हेमचन्द्र, वही, पर्व 9, श्लो. 58, 59, 61, 62, 68, 69, 210, पृ. 198, 203 ।

ये तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य-तत्व माने जा सकते हैं या नहीं, यह कहना कठिन है। दुर्भाग्य यह है कि इस सब के लिए हम उन साधनों का ही आधार ले सकते हैं कि जिन्हें जैन प्रस्तुत करते हैं। उनके ममथन के अन्य कोई ऐतिहासिक साधन या उल्लेख ऐसे मिलते ही नहीं हैं कि जिनका विचार किया जा सके। परन्तु यह कठिनाई तो महान् श्लेखजैण्डर के पूर्व के ही नहीं, अपितु उसके परवर्ती समय के भारत के मारे ही इतिहास के लिए भी है। भौभाग्य से, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ईसवीयुग पूर्व को जैनधर्म शास्त्रीय और अन्य जैन साहित्य को हमारे युग के प्रमुख पण्डितों और ऐतिहासज्ञों ने जो प्रतिष्ठा दी और उसका साहित्यक मूल्यांकन किया है, उससे यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिक नहीं है कि बौद्ध एवं हिन्दू इतिवृत्तों की भांति ही जैन इतिवृत्त भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और इसलिए उन्हें भी यथोचित विचार या आदर मिलना चाहिए।

डॉ. याकोबी के शब्दों में कहें तो "जैनधर्म की उत्पत्ति और विकास के विषय में आज भी कितने ही विद्वान सशंकित सावधानी रखना ही सुरक्षित देखते हैं, हालांकि समस्त प्रश्न की वर्तमान स्थिति की दृष्टि से इसका समुचित कारण नहीं है, क्योंकि प्रचुर और प्राचीन साहित्य हमें उपलब्ध हो गया जो जैनधर्म के प्राचीन इतिहास की प्रचुर सामग्री उन लोगों को प्रदान करता है कि जो उनसे लाभ उठाने के इच्छुक हैं। इतना ही नहीं अपितु यह सामग्री ऐसी भी नहीं है कि हम उसे अविश्वस्त कहें। हम जानते हैं कि जैनों के पवित्र धर्मग्रन्थ प्राचीन हैं, स्पष्टतः उस संस्कृत साहित्य से भी प्राचीन जिसे आर्ष कहने के अस्पष्ट हो गए हैं। प्राचीनता में ये धर्मग्रन्थ उत्तरीय-बौद्धों के प्राचीनतम धर्मग्रन्थों से भी तुलनीय हैं। जब कि ये बौद्धधर्म ग्रन्थ बुद्ध और बौद्धों के इतिहास की सामग्री के रूप में वारंवार प्रयुक्त किए जा चुके हैं, हम कोई भी कारण नहीं देखते कि फिर जैनों के ये पवित्र ग्रन्थ उनके इतिहास के संकलन की प्रमाणापूर्ण सामग्री के रूप में अविश्वस्त माने जाएं। यदि वे विरोधी वर्णनों से भरे हैं अथवा उनमें दी गई तिथियां परस्पर विरोधी परिणामों पर हमें पहुंचाती हैं, तो वैसी सामग्री पर आधारित सब सिद्धान्तों को शंका से देखना हमारे लिए उचित कहा जा सकता है। परन्तु जैन साहित्य इस विषय में बौद्ध साहित्य से, विशेषतया उत्तरीय बौद्धसाहित्य से कुछ भी भिन्न नहीं है।"¹

इस प्रकार हमारे पास जो साधन है उनसे काशी अथवा वाराणसी के राजा अश्वसेन² और कुशस्थल का राजा प्रसेनजित अथवा उसका पिता नरवर्मन को ऐतिहासिक व्यक्ति रूप मानना हमारे लिए यद्यपि कठिन है फिर भी अन्य अनेक ऐतिहासिक एवम् भौगोलिक घटनाएं ऐसी हैं कि जिनसे हम ऐसे अनेक अनुमान निकाल सकते हैं फिर जिनके पीछे कुछ ऐतिहासिक महत्व निहित हो सकता है।

1. याकोबी, सेवुई, पुस्त. 22, प्रस्ता. पृ. 9। "हम भावी शोधकों के लिए इसका विवरण खोजने का काम छोड़ दें। परन्तु मैंने उन सन्देह को अवश्य ही निर्मूल कर दिया होगा कि जो कुछ पण्डितों को है कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म नहीं है और उसके धर्मशास्त्र उसके प्राचीन इतिहास के प्रगटीकरण में विश्वस्त अभिलेख नहीं हैं।" -वही, प्रस्ता. पृ. 47। देखो शार्पेटियर, उत्तराध्ययनसूत्र, प्रस्ता. पृ. 25।
2. "अश्वसेन नाम के किसी भी व्यक्ति के होने का ब्राह्मण उल्लेखों नहीं जाना जाता है। इन नाम का एक मात्र व्यक्ति त्रिसका वीरनाथा में उल्लेख है, नाग राजा था और उसे हम किसी भी प्रकार से जैन तीर्थंकर पार्श्व के पिता में सम्बन्धित नहीं कर सकते हैं।" -शार्पेटियर, कैहिड, भाग 1, पृ. 154। प्रसंगवश, यहां यह भी कह दें कि पार्श्वनाथ का सम्बन्ध जीवन भर नागों से रहा था और आज भी इस सन्त का लांछन या चिन्ह नाग का फण-छत्र है। देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 48-49।

हेमचन्द्र के हेमकोश के आधार से नन्दोलान दे ने कुशस्थल और कन्नौज याने कान्यकुब्ज को एक ही बताया है।¹ इसका समर्थन अन्य विद्वान भी करते हैं।² फिर डॉ. राय चौधरी कहते हैं कि "प्रसिद्ध नगर कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज की स्थापना" के साथ पाँचाल भी सम्बन्धित हैं।³ फिर पाँचाल और कासी के राज्य पास-पास ही थे इसको जैन और बौद्ध साहित्य भी समर्थन करता है। बौद्ध अंगुत्तरनिकाय से और जैन भगवतीसूत्र से हमें मालूम होता है कि इस समय अर्थात् ई. पूर्व 8वीं सदी में सोलह महाजनपद कहे जाने वाले बहुत विस्तीर्ण और शक्ति सम्पन्न सोलह राज्य थे।⁴ और उनमें कासी का उल्लेख यद्यपि दोनों में ही समान रूप से हैं परन्तु पाँचाल का उल्लेख तो पिक पहले में ही है।⁵

पाँचाल के इतिहास का विचार करने पर हम देखते हैं कि वह स्थूल रूप से रोहिण्यखण्ड खण्ड और मध्य दोआब के कुछ अंश से मिलता जुलता है। "महाभारत, जातक, और दिव्यावदान में इस राज्य को उत्तरी और दक्षिणी ऐसे दो विभागों में विभक्त बताया है। भागीरथी (गंगा) इन्हें विभक्त करती ही गई है। महाकाव्यानुसार उत्तर-पाँचाल की राजधानी अहिच्छत्र या छत्रावती (बरेली प्रान्त के एमोनाला निकटस्थ हाल का रामनगर) थी जब कि दक्षिण-पाँचाल की कौपिन्य थी और गंगा से चम्बल तक उसका विस्तार माना जाता था।"⁶

पाँचाल के इस इतिहास की सूचना के लिए जब जैनसूत्रों को खोजते हैं तो हमें एक या दूसरी प्रकार से सम्बन्ध का पता लगता है। उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मदत्त नाम के पाँचाल के राजा का उल्लेख आता है। इसका कापिल्य में चुलगी की कोख से जन्म हुआ था। ब्रह्मदत्त सार्वभौम याने चक्रवर्ती राजा था। पूर्व जन्म के अपने भाई चित्त से वह मिलता है जो इस जन्म में जैन श्रमण हो गया था। ब्रह्मदत्त भोगविलास में इतना तल्लीन हो गया था कि उसके भाई श्रमण चित्त का उपदेश उसे कुछ भी प्रभावित नहीं कर सका और अन्त में वह नरक में गया।⁷

1. दे, वही, पृ. 88, 111 । 4. "कान्यकुब्ज को गाधिपुर, महोदय और कुशस्थल भी कहा जाता था।" कनिधम, एंजेंट ज्योग्राफी आफ इण्डिया (मजुमदार सम्पादित) पृ. 707 ।
2. राय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंजेंट इण्डिया पृ. 86 । "कन्नौज...पाँचाल राज्य की राजधानी मुख्यतः थी।" स्मिथ, अली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 391 ।
3. राय चौधरी, वही, पृ. 59, 60 । देखो ह्लिप डेविड्स कैम्ब्रिज, भाग 1, पृ. 172 ।
4. राय चौधरी, वही, पृ. 60 । 5. वही पृ. 85 । देखो स्मिथ, वही, पृ. 391, 392; दे, वही, पृ. 145 ।
6. रायचौधरी, वही, पृ. 85 । देखो स्मिथ, वही, पृ. 391-392; दे, वही, पृ. 145 भी ।
7. कापिल्य के पूर्व इतिहास के विषय में कुछ भी जानकारी नहीं है। कदाचित् यह कापिल्य फर्रुकाबाद जिले का आधुनिक कपिल ही हो। स्मिथ, वही, पृ. 392 ।
8. चुलगीए बम्भदत्तो...॥ कम्पिल्ले सम्मूओ चित्तो...।... वम्मं सोऊण पव्वइओ ॥ पंचालराया वि य बम्भदत्तो ...तस्य वदणं अकाउं ।...ओ नरेण पविट्ठो ॥ उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय, 13, गाथा 1, 2, 34 । देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 59-61 । त्रि (चित्त) और सम्मत (ब्रह्मदत्त) की कथा और उनके पूर्व जन्मों में जो जो उन पर बीती, उसका ब्राह्मण, जैन और बौद्धों में समान रूप से वर्णन है । रायचौधरी वही, पृ. 86; शार्पेटियर, उत्तराध्ययनसूत्र, भाग 2, पृ. 328-331 ।

उसी सूत्र में कापिल्य सम्बन्धा दूसरा उल्लेख भी हम प्राप्त होता है और वह कापिल्य के राजा संजय का है जिनमें 'राज्य त्याग कर पूज्य माधु गर्दभिल्ल में जैनदीक्षा स्वीकार कर ली थी ।'

इससे ऐसा सम्भव लगता है कि अति विस्तीर्ण और प्रभावशाली मोलह राज्यों में के दो^२ कामी और पांचाल विवाह सम्बन्ध से जुड़ गए थे । फिर जब हम पार्जोटर की तैयार की राजवंशावलियों में दक्षिण-पंचाल के राजा रूप में किसी मेनजित का नाम पाते हैं तो वह बात निःसंशय मत्त ही लगती है । और नाम में थोड़ा सा सूक्ष्म फेर होने से इस मेनजित को हम ऐतिहासिक दृष्टि में प्रमेनजित बिना किसी कठिनाई के स्वीकार कर सकते हैं ।^१

एक मात्र और अति उपयोगी अनुमान जो इस पर से निकाला जा सकता है वह यह है कि जैनधर्ममहावीर-काल की अपेक्षा पार्श्वनाथ-काल में कम राज्याश्रय प्राप्त नहीं था । उसके अनुगामी की अपेक्षा उनके प्रभाव का विस्तार-क्षेत्र किञ्चिन्मात्र न्यून नहीं था । पार्श्वनाथ काशी के राजवंश के पुरुष और पंचाल राजा के जमाता थे^३ और उनका निर्वाण बिहार की पारसनाथ पहाड़ी पर हुआ था ।^४ ऐसे राजवंशों का पृष्ठभूत प्राप्त होने के कारण यह स्वाभाविक है कि उनका समकालिक राज्यवंशों और अपने ही राज्य की प्रजा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा होगा । सूत्रकृतांग एवम् अन्य जैनांगमों से हम जान सकते हैं कि महावीर के समय में भी मगध के आस पास में पार्श्वानुयायी थे ।^५ जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, स्वयम् महावीर का अपना कुटुम्ब भी पार्श्वनाथ का धर्म पालना

1. कम्पिले नयरे राया...।
नामेणं संजये...।।
संजयो चइउं रज्जं निक्खन्तो जिगासासरो ।
गद्धभालिस्स भगवओ अणुगारस्स अन्ति ए ॥ उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय 18, गाथा 1, 19 । देखो याकोबी, वही, पृ. 80, 82; रायचौधरी, वही और वही स्थान ।
2. 'जैन भी कामी की महानता की साक्षी देते हैं और वाराणसी के राजा अश्वसेन को उन पार्श्वनाथ का पिता लिखते हैं कि जिनका निर्वाण महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुआ कहा जाता है अर्थात् ई. पूर्व 777 में ब्रह्मि, पृ. 61 । महावीर का निर्वाण ई. पूर्व 480-467 माने तो पार्श्व के निर्वाण की तिथि ई. पूर्व 730-717 आती है । 3. देखो पार्जोटीय, एंशेंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृ. 146; प्रधान, क्रोनोलोजी अफ एंशेंट इंडिया पृ. 103 । 4. 'दूसरे सम्बन्धों में पहला अंश छोड़ दिया गया है...भागवत में प्रमेनजित को अयोध्या का मेनजित कहा है ।' पार्जोटर, वही, पृ. 127 ।
5. मज्जुमदार यहाँ किसी भ्रम में पड़े हुए लगते हैं । उनके मत से पार्श्व उपलब्ध के राजा प्रमेन जित के जामना थे और इसप्रकार वे दो राजवंश याने कामी और कौशल को रक्तसम्बन्ध से जोड़ते हैं । परन्तु मेरी सम्मति में उनसे महावीर-कालीन प्रमेनजित के साथ इन प्रमेनजित को मिला दिया है जो कि जैनधर्म के महान् जेधु-नागवंशीय नृपति विवसार का श्वसुर था । हमने यह पहले ही देख लिया है कि महावीर 72 वर्ष जीवित रहे थे और पार्श्वनाथ 100 वर्ष तक । देखो मज्जुमदार, वही, पृ. 495, 551, 552; श्रीमती स्टीवन्सन भी ऐसे ही भ्रम में पड़ी हुई प्रतीत होती है क्योंकि वह कहती है पार्श्वनाथ का विवाह प्रभावती, अयोध्या के राजा प्रमेनजित की पुत्री से हुआ था । श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 48 ।
6. ...उनका निर्वाण बिहार के समेतशिखर पहाड़ पर हुआ था और तभी से वह पारसनाथ पहाड़ी भी कहलाने लगी -वही, पृ. 49 । 7. राजगृह के बाहर, उत्तर-पूर्व दिशा में, नालन्दा नाम का उपनगर था...और वहाँ किसी घर में पूज्य गोतम स्वामी ठहरे हुए थे । पूज्य संत जिस उद्यान में ठहरे थे, उसी में पेड़ाल का पुत्र उदक-निर्ग्रथ और पार्श्वपत्य ठहरा हुआ ।... 'याकोबी, वही, पृ. 419-420; जि । पासि...तस्...के।कुमार समने...सावत्थि पुरसाण...उत्तराध्ययनसूत्र, अध्या, 23, गाथा 1-3 । देखो याकोबी, वही, पृ. 118-120

था । यही नहीं अपितु उनके समय के ही पार्श्वानुयायियों के जैनागमों में उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि उत्तर भारत के बहुत बड़े भाग में तब जैनधर्म खूब ही प्रचार में था हालांकि इसकी निश्चित भौगोलिक सीमाएं आज नहीं गींची जा सकती हैं।¹ यह भी पहले कहा जा चुका है कि पार्श्वनाथ के 16000 साधू, 38000 साध्वियां, 164000 श्रावक और 327000 श्राविकाओं के अतिरिक्त कितने ही हजार व्रतधारी स्त्रीपुरुष भी अनुयायी थे।²

पार्श्वनाथ से महावीर के समय तक के ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान कोई भी तथ्य नहीं मिलते हैं । जैन इतिहास में 250 वर्ष का यह काल एकदम कोरा ही कहा जा सकता है क्योंकि उस काल के न तो कोई ऐतिहासिक अभिलेख और न म्मारक ही ऐसे प्राप्त होते हैं जिन पर इतिहास संकलन के लिए विश्वास किया जा सके । फिर भी इतना तो निश्चित है ही कि इन दोनों तीर्थंकरों के अन्तरिम काल का ऐतिहासिक अवच्छेद भरा जाना सम्भव नहीं होने पर भी बिना किसी जोखम के यह कहा जा सकता है कि इस ममस्त अन्तरिम काल में भी जैनधर्म एक जीवित धर्म रहा था।³ हम यह भी देख आए हैं कि पार्श्व के शिष्यों ने अपना धर्मप्रचार कार्य यथावत चालू रखा था और महावीर एवम् उनके शिष्यों ने ई. पूर्व छठी शती में संस्कारित जैनधर्म के प्रति आर्कापित करने और उस वर्ग के अनेक प्रतिनिधियों का अपने मत में लाने के लिए मिलते रहना पड़ा था ।

महावीर-काल का विचार करते समय ऐसा अनुमान होना स्वाभाविक है कि कुछ स्थिति अच्छी होगी । परन्तु यहां भी जैन और बुद्ध धर्मशास्त्रों को एवम् कुछ अन्य दन्तकथाओं को छोड़कर ऐसा कुछ भी नहीं मिलता है जिन पर हम विश्वास कर सकें।⁴ यह हमारा सांभार्य ही है कि जैनशास्त्रों में सत्य तथ्य और घटनाएं सुरक्षित मिलती हैं जो छुटीछुवाई और अशांश में होते हुए भी इस काल के जैन इतिहास का सजीव चित्र हमारे नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत करने को पर्याप्त हैं । पार्श्व की भांति ही महावीर भी उस काल के राजवंशों से रक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित थे । उनके पिता सिद्धार्थ स्वयम् बड़े उभराव थे और ज्ञातृ क्षत्रिय वंश के थे । उनका मुख्य निवास स्थान कुण्डपुर या कुण्डग्राम (कुण्डगाम)⁵ था और जैनशास्त्रों में जैसा वर्णन उनका किया हुआ मिलता है

1. हम नहीं कह सकते कि मजुमदार किन श्रावकों से पार्श्व के समय के जैनधर्म की सीमाओं की भौगोलिकता निश्चित की है । “उसका जैनधर्म” विद्वान लेखक कहता है कि “बंगाल से गुजरात तक फैला हुआ था । मालदह और वोगड़ा जिला उसके धर्म के मुख्य केन्द्र थे । उसके धर्म में आने वाले अधिकांशतया हिन्दुओं के निम्न वर्ग और अनार्य लोग थे... । राजपूताने में उसके अनुयायी बड़े शक्तिशाली थे...”—मजुमदार वही और वही स्थान ।
2. देखो याकोबी, संवृद्धि, पुस्त. 22, पृ. 274 । एवं विहरतो भर्तुः सहस्राः षोडशर्षयः । अष्टाविंशत्सहस्राणि साध्वानां तु. महात्मानाम् ॥...श्रावकाणां लक्ष्मेक चतुः षट्सहस्रयुक्त ॥ श्राविकाणां तुत्रिलक्षी सहस्र सप्तविंशतिः ।...—हेमचन्द्र, वही, श्लो. 312, 314, 315, पृ. 219 । देखो कल्पसूत्र, सुबोधिका—टीकासूत्र 161-164, पृ. 130-131 ।
3. देखो हरनोली, उवासगदसाध्या, भाग 2, पृ. 6 टिप्पण 8 ।
4. भारत का प्राचीन इतिहास आज भी हमारे पुराणों के उन नक्शों के समान ही है जिनमें ‘भगोलवेत्तानगरों के अभाव के कारण पथहीन वनों में हाथी चित्रित कर देते थे’...हालांकि जैनों ने अपना दृष्टि ही से ऐतिहासिक के ज्ञात का तथ्यों से मेल बैठाना बड़ा ही कठिन है । श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 7 ।
5. मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिले की वैशाली (आधुनिक वसाढ़) का ही यह दूसरा नाम है । वस्तुतः (कुण्डग्राम) जिसे आज कल वसुकुण्ड कहते हैं, प्राचीन वैशाली नगर का जो कि तीन भाग याने वैशाली(वसाढ़) कुण्डपुर (वसुकुण्ड) और बाणियगाम (बाणिया) का था, एक भाग था ! देखो, वही, पृ. 107 ।

उससे लगता है कि वह अपने कुल का नायक और किसी राज्य का चाहे वह छोटा हो या बड़ा, राजा था ।¹ जैसा कि हम आगे देखेंगे वह एक ऐसे प्रजासत्ताक राज्य का अधिकारी ही होगा कि जिसका मुख्य स्थान कुण्डपुर होगा । परन्तु तात्कालिक समाज में जो स्थान उसे प्राप्त था वह एक स्वतन्त्र राज्य के मामान्य अधिकारी की अपेक्षा विशिष्ट अर्थात् स्वतन्त्र राज्यकर्ता के रूप में ही वह जीवन बिताता होगा ।²

सोलह महाजनपदों का विचार करते हुए हमें ज्ञात होता है कि वज्रियों का राज्य जन और वीर दोनों ही धर्मों को मानता था । डा. रायचौधरी कहता है कि 'प्रो. हिंस डेविड्स और कनिंघम के आधार पर वज्रियों का राज्य आठ सहकारी जातियों या कुलों का बना था जिसमें विदेही, लिच्छवी, जातुक और वज्र विशेष महत्व के थे । अन्य कुलों को ठीक से पहचाना नहीं जा सका है, और भी इतना तो उल्लेखनीय है ही कि सूक्तगाँव के एक वाक्य में उग्र, भोग, एश्वक्रु और क्रौरव जातियों का जातुक और लिच्छवी जातियों के साथ ही राज्य की प्रजा और एक ही सभा के राज्यों के रूप में उल्लेख किया गया है ।'³

पश्चान्तर में वीरों के विशिष्ट प्रमाणों के आधार पर डा. प्रधान इस सहायकारी मण्डल में एक और जाति का भी समावेश करते हुए कहता है कि 'वह नौ जातियों का बना हुआ संघ था । उनमें को कितनी ही जातियाँ हैं लिच्छवी, वृजि याने वज्जी, जातुक और विदेह । ये महायकारी मण्डल लिच्छवी अथवा वृजिक मण्डल के रूप में ही पहचाने जाते थे क्योंकि उन नौ जातियों में लिच्छवी और वृजि ही महत्व की थी । नौ लिच्छवी जातियाँ नव मल्लिक जाति और कासी कोसल के अठारह गण राजों के साथ सम्बन्धित हो गई थी ।'⁴ विद्वान पण्डित के इस कथन का समर्थन जैनसूत्र भी करते हैं ।⁴

डा. याकोबी कहता है कि 'राजा चेटक ने कि जिस पर चम्पा के राजा कुणिक ने भारी मेना के साथ धावा

1. कल्पसूत्र में महावीर की माता त्रिशला के स्वप्नों का अर्थ बतानेवाले का 'सिद्धार्थ के रत्न समान अत्यन्त सुन्दर महल के मुख्य द्वार' तक आना कहा गया है । याकोबी, वही, पृ. 245 । उसी सूत्र में एक अन्य स्थान पर सिद्धार्थ का महावीर जन्मोत्सव मनाने का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनसे अपने दण्डनायकों को कुण्डपुर नगर के सब बन्धियों को मुक्त कर देने, माप और तोल को बढ़ा कर देने आदि आदि की आज्ञाएँ दीं । देखो वही, पृ. 252; हेमचन्द्र, वही, पर्व 10, श्लो. 128, 132, पृ. 16 ।
2. बारन्पेट, भन्तगडदसाओ और अनुत्तरोववाइयोदसाओ, प्रस्ता, पृ. 6 । डा. याकोबी जैनों की इस मुख्य मान्यता का कि 'कुण्डग्राम एक बड़ा नगर था और सिद्धार्थ एक शक्तिशाली राजा' मण्डाफोड़ करने के लिए एक दूसरी प्रन्त्य कल्पना कर डाली है कि 'इस सबसे यह स्पष्ट होता है कि सिद्धार्थ कोई राजा नहीं था वह अपने करीले का नायक भी नहीं था, परन्तु बहुत सम्भव है कि वह ऐसे ग्रन्थकारों का प्रयोक्ता मात्र हो, कि जोकी पूर्व के देशों में भूस्वामियों और विशेषकर देश के मान्य अश्विंशों के भूस्वामियों को सामान्यतः प्राप्त हो जाते हैं ।'—याकोबी, वही, प्रस्तावना पृ. 12 ।
3. रायचौधरी, वही पृ 73-74 । 'उग्र और भोग अत्रिय थे । जैनों की मान्यतानुसार उग्र उनके वंशज थे जिन्हें ऋषभदेव, प्रथम तीर्थंकर ने नगर-कोतवाल रूप में नियुक्त किया था और भोग उनके वंशज थे कि जिन्हें उनसे सम्मान के अधिकारी रूप से माना था ।'—याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ 71 टि. 2 । देखो हरनोली, वही, परिशिष्ट 3, पृ. 58 । 3. प्रधान, वही, पृ. 215 ।
4. नव मल्लि नव लच्छइ कासीकोसलगा अटठारसवि गणरायाणो... -भगवती, सूत्र 300, पृ. 316 । देखो हेमचन्द्र, वही, पृ. 165 ।

बोला था, कासी, कोमल लिच्छवी और मल्लिक आदि अठारह सहायकारी राजों को बुलाकर पूछा था कि कुणिक की मांगों को वे स्वीकार करना चाहते हैं अथवा उसके विरुद्ध युद्ध करेंगे। इसके सिवा महावीर के निर्वाण प्रसंग में उपयुक्त अठारह राजों ने प्रसंगोचित उत्सव किया था।¹

इन सब बातों से स्पष्ट है कि उन सब सहायकारी मण्डलों का एक लक्षण यह था कि वे इनमें से अधिकांश महावीर और उनके उपदेश के प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव में आ गए थे। वे सब धर्म से जैन थे या नहीं यह कहना तो कठिन है, परन्तु इतना तो निश्चय है कि ये सब शाब्दिक सहानुभूति की अपेक्षा उनको कुछ अधिक गहरी सहायता करते थे।

पहले मण्डल विदेह का विचार करने पर जाना जाता है कि 'उसकी राजधानी मिथिला थी जिसको कितने ही नेपाल की सीमा में आया 'जनकपुर' नामक छोटे से गांव के स्थान पर होना कहते हैं। परन्तु इन विदेहों का एक विभाग वेमाली में आकर बस गया होना चाहिए महावीर की माता राजकुमारी त्रिशला जो विदेहदत्ता भी कही जाती है, प्रायः इसी विभाग की थी।² जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जैनसूत्रों में महावीर के विदेहों से सम्बन्ध के विषय में यहाँ वहाँ छुटपुट उल्लेख मिलते हैं। आचारांगसूत्र में नीचे का उल्लेख है: 'महावीर की माता के तीन नाम थे— त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियाकारिणी।'³

“उस समय में, उस काल में, श्रमण भगवान् महावीर, ज्ञातृ क्षत्रिय, ज्ञातृपुत्र, विदेहवासी, विदेह का राजकुमार, विदेहे नाम से तीस वर्ष तक रहे थे।”⁴

“कल्पसूत्र में लिखा है कि” श्रमण भगवान् महावीर..., ज्ञातृ क्षत्रिय, ज्ञातृ क्षत्रि के पुत्र, ज्ञातृवंश के चन्द्रमणि, विदेह, विदेहदत्ता का पुत्र, विदेह निवासी, विदेह का राजकुमार—विदेह में जब कि उनके माता पिता का देहान्त हुआ तब तक तीस वर्ष रहे चुके थे।”⁵

फिर जैनसूत्रों में नीचे लिखे तथ्य भी समर्थित होते हैं—1. विदेहों का एक कुल विदेह की राजधानी वैशाली में आ कर बस गया था।⁶ 2. त्रिशला देवी इसी विदेह कुल की थी और महावीर विदेहों के साथ गाढ़ सम्बन्ध से जुड़े हुए थे। इतना होने पर भी पहले तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। जैसे महावीर विदेही थे, वैसे ही वे, याकोवी के अनुसार, वैशालिक भी थे याने वैशाली-निवासी भी। इस प्रकार राजा सिद्धार्थ

-
1. याकोवी, मन्वुई, पुस्त. 22, प्रस्ता. पृ. 12। देखो वही, पृ. 266; लाहा, वि. च. समक्षत्रिया ट्राइव्स आफ एंजेंट एण्डिया. पृ. 1; रायचौधरी, वही, पृ. 128; भगवती, सूत्र 300, पृ. 316; हेमचन्द्र, वही, वही स्थान: कल्पसूत्र. सुबोधिका टीका. सूत्र 128. पृ. 121; प्रधान. वही, पृ. 128-129; हरनोली, वही, भाग 2. परि. 2, पृ. 59-60।
 2. रायचौधरी वही. पृ. 74; समणस्स सां भगवओ महावीरस्स माया... तिसला इवा विदेहदिन्ना इवा पीइकारिणी इ वा...। कल्पसूत्र. सुबोधिका-टीका. सूत्र 109 पृ. 89।
 3. याकोवी, वही, पृ. 193। 4. वही, पृ. 194।
 5. वही. पृ. 256। 6. वही. प्रस्तावना पृ. 11।

का कुण्डपुर या कुण्डग्राम विदेह के राजवंश की राजधानी वैशाली के मुख्य भाग के सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता है ।¹

महावीर और विदेहों के बीच उपस्थित प्रगाढ़ सम्बन्ध के इन सब उल्लेखों के अतिरिक्त भी जैन शास्त्रों की अन्य अनेक बातें इसका समर्थन करती हैं कि विदेही जैनधर्म में अच्छा रस लेते थे राज ज्योतिषी नाम के विषय में उत्तराध्ययनसूत्र कहता है कि—

नमी नमेइ अण्णाणं सक्खं सक्केण चोह्यो ।

चइऊगा गेहं च वेदेहि सामण्णे पज्जुवट्ठियो ॥

अर्थात् नमि ने अपने को नम्र बना लिया, शक द्वारा प्रत्यक्ष में प्रार्थना किए जाने पर विदेह के इस राजा ने गृह का त्याग कर दिया और श्रमणत्व स्वीकार कर लिया ।²

फिर कल्पसूत्र से भी हम जानते हैं कि विदेह की राजधानी मिथिला में महावीर ने छह चतुर्मास किए थे । यह बात प्रकट करती है कि महावीर का विदेहों के साथ गाढ़ सम्बन्ध था । संक्षेप में उनके विषय में जो कुछ भी हम जान पाए हैं इससे यह स्पष्ट है कि मारे ही नहीं तो विदेहियों का अमुक अंश तो जैनधर्म अवश्य ही पालता होगा ।

लिच्छवियों का विचार करने पर हम देखते हैं कि ई. पूर्व छठी सदी में पूर्व भारत में वह एक महान् और शक्ति सम्पन्न जाति थी । फिर यह भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि ज्ञातुको के साथ वे भी महावीर के उपदेश के प्रभाव में अवश्य ही आना चाहिए थे । उनकी माता त्रिशला शत्रियों की लिच्छवी जाति के वैशाली के राजा चेटक की बहन थी³ और पिता की ओर से महावीर स्वयम् ज्ञातुक थे ।

यहां एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि त्रिशला लिच्छवी जाति की राजकुमारी थी तो उसको विदेहदत्ता नाम दिया जाना कुछ समझ में नहीं आता है ।⁴ इसका समाधान कदाचित् यह हो सकता है कि विदेह के नाम से पहले से सुप्रसिद्ध प्रदेश की होने के कारण ही वह विदेह दिव्या कही जाती होगी और जैसा कि हमने अभी देखा कि विदेह की राजधानी वैशाली थी । डॉ. रायचौधरी के शब्दों में कहें तो 'विदेह राजवंश के अधःपतन के

"इसलिए कुण्डग्रामविदेह की राजधानी वैशाली का एक उपनगर ही कदाचित् था । यह कल्पना महावीर को वैमालिण्य या वैमालिक नाम जो कि सूत्रकृतांग 1, 3 में उन्हें दिया गया है का समर्थन करता है । टीकाकार ने इस पाठ को दो प्रकार से समझाया है और एक अन्य स्थल पर इसकी तीसरी भी व्याख्या या अर्थ किया है ।...वैमालिक का सामान्यतः अर्थ वैशाली का निवासी ही होता है, और महावीर सच्च अर्थ में वैसा कहा जा सकता था जब कि कुण्डग्राम वैशाली का ही एक उपनगर था । जैसा कि टर्नहम ग्रीन का निवासी नंदनी कहा जा सकती है ।" —याकोबी, वही और वही स्थान ।

- उत्तराध्ययन सूत्र, अध्या. 9, गाथा 61 । देखो वही, गाथा 62; अध्या. 18, गाथा 45 (याकोबी का अनुवाद, सेवुई, पुस्तः 45, पृ. 41, 87) । नमि की दन्तकथा के पूर्ण विवरण के लिए देवो मेयर, जे.जे., हिन्दू टेल्स, पृ. 147-169 । 3. याकोबी, कल्पसूत्र पृ. 113 ।
- अनेक पण्डितों के अनुसार चेटक लिच्छवी था । परन्तु उसकी मांगनी के अन्य नाम (विदेहदत्ता) और पुत्री (वेदेही) संभवतः संकेत करते हैं कि वह वैशाली का निवासी हो जाने के कारण विदेहिया था । —रायचौधरी, वही, पृ. 78 टि. 2 ।

यहस्पष्ट पश्चात् वज्रियों का संगठन हुआ होगा। इस प्रकार भारत की उत्क्रांति ग्रीस के प्राचीन नगरों की उत्क्रांति के अनुरूप ही हुई दीखती है जहाँ कि वीर युग की राजसत्ताएं प्रजासत्ताक के रूप में परिवर्तित हो गई थीं।¹

एक दूसरी दन्तकथा पर से भी यह कल्पना हो सकती है कि विदेह के अथः पतन के पश्चात् उसमें एक विभाग लिच्छवी कहलाता हो।²

इस प्रकार त्रिणला राजकुमारी होते हुए भी विदेहदत्ता कही जाती हो तो इसमें कुछ भी अस्वामाविकता नहीं है। इस त्रिणला का लगन सम्बन्ध सिद्धार्थ के साथ हुआ था जो कि जैन मान्यतानुसार महावीर के पुरोगामी परश्व-नाथ का अनुयायी था। इसमें स्वाभाविक ही यह अनुमान हो सकता है कि या तो लिच्छवी का राजवंश जैनधर्म पालना था अथवा सामाजिक परिस्थिति ऐसी थी की वह अपनी कन्या दूसरे जैनवंश में दे सकता था। इन विषय प्रसंग से यही कल्पित होता है कि लिच्छवियों को जैनों के लिए विधेय मान था। परन्तु जैनों की साहित्यिक और ऐतिहासिक दन्तकथाएं ऐमे एक ही प्रसंग में समाप्त नहीं हो जाती हैं क्योंकि हम प्राये चलकर देखेंगे ही की राजा चेटक³ की सात कन्याओं में से सबसे छोटी पुत्री चेल्लगा जो वैदेही भी कहलाती थी। मगध के महान जैनुनाग विबसार को व्याही थी और वे दोनों ही जैन थे।⁴

चेल्लगा के अतिरिक्त चेटक के छह पुत्रियां और थीं जिनमें से एक साध्वी बन गई थी और शेष पांच पूर्व भारत के एक या दूसरे राजवंश में व्याही गई थीं। यह तथ्य कितने अंश में ऐतिहासिक माना जा सकता है वह हम कुछ भी नहीं कह सकते हैं। परन्तु आधुनिक खोजों के परिणाम स्वरूप लिच्छवियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सब राजवंश सम्पूर्ण रूप से पहचाने जा सकें, ऐसे हैं। इन लिच्छवी राजकन्याओं के नाम इस प्रकार हैं:—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, मुज्येष्ठा और चेल्लगा।⁵

इनमें सब से बड़ी प्रभावती वीतभय नगर के राजा उदयन को व्याही थी जिसका उल्लेख जैन साहित्य में सिन्धु सोवीर देश की राजधानी रूप से किया गया है।⁶ देश के किस भाग के लिए ये साहित्यिक उल्लेख हुए हैं

1. वही, पृ. 76।

2. बौद्ध के समय में ही नहीं परन्तु उसके बाद भी कई सदियों तक वैशाली निवासी लिच्छवी कहलाते रहे थे: श्रीर त्रिकांडकोश में लिच्छवी. विदेही और तिरमुक्ति पर्यायवाची ही कहे गए हैं। कनिष्क, वही, पृ. 509।

3. वेसालिओ चेटग्रो...सत्त ध्याओ...आवश्यकसूत्र, पृ. 676।

4. विबसार के एक पुत्र का नाम पाली धर्मग्रन्थों में वैदेहीपुत्र अजातशत्रु और जैनागमों में कुरिणक कहा गया है। बाद की दन्तकथाओं में बौद्ध उसे कोसल देवी का पुत्र बताया गया है; जबकि जैन दन्तकथा उसे चेल्लगा का पुत्र कहती है जिसका प्राचीन बौद्ध धर्मग्रन्थ विदेह राजकुमारी का पुत्र वैदेहीपुत्र कहते समर्थन करते हैं। हिंस डेविड्स, कैहिड, भाग 1, पृ. 183।

देव्या चेल्लगाया सार्धमपराहलेन्यदा नृपः।

वीरं समवसरणस्थितं वन्दितु मन्यागात्॥

वन्दित्वा श्रीमदहन्तं वलितो तो च दंपति। हेमचन्द्र, वही, श्लो. 11-12, पृ. 86।

5. आवश्यकसूत्र, पृ. 676; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 187 पृ. 77।

6. सिधुसोवीरेसु...वीतीमए नगरे...उदायणे नामं राया...तस्स...प्रभावती नामं देवी। भगवतो, सूत्र 491, पृ. 618। देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 676; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 190, पृ. 77; सिन्धुसोवीरदेशे म्तिं परं वीतभयाह्वयम्। वही, श्लो. 327, पृ. 147; मेयेर, जे. जे., वही, पृ. 97।

निर्देश नहीं किया जा सकता है क्योंकि भिन्न भिन्न प्रमाणों के आधार पर भारत के उत्तर पश्चिम अथवा पश्चिमी प्रदेशों में इसका होना माना गया है। कनिष्कम उसे 'खंभात की खाड़ी के ऊपर का ईडर या बदरी प्रान्त' होना कहता है।¹ डा. ह्लिस डेविड्स कनिष्कम का कुछ कुछ समर्थन करता है और सोवीर को अपने नक्शे में काठियावाड़ के उत्तर में कच्छ की खाड़ी की ओर बताता है।² अलबरूनी उसे मुलतान और भालावाड़ कहता है और श्री दे इप मत को स्वीकार करता है।³ पश्चान्तर में जैन दन्तकथाएँ इसके विषय में ऐसा कहती हैं:—श्री अभयदेवसूरि भगवती-सूत्र की अपनी टीका में इसकी व्याख्या यों करते हैं—सिधुनद्या आसन्नाः सोवीराः जनपदविशेषाः सिधुसोवीर-स्तेपु...विगता ईतयोमयानि च यतस्तद्वीतिमयं विदधीति केचित्।⁴

उत्तराध्ययनसूत्र में से श्री मेयर की अनूदित उदायन की कथा में वीतमय के लिए इस प्रकार लिखा है—
“सिधु और सोवीर के प्रदेशों में को वीतमय नगर में उदायन नाम का राजा था...।”⁵

“जत्रुंजय माहात्म्य उसको सिधु या सिध में बताता है।”⁶

इन सब अनुमानों से ऐसा लगता है कि वह प्रदेश मालवा की उत्तर-पश्चिम के राजपूताना और सिधु नदी के पूर्व-तट पर आए सिध के विभाग से बहुत कुछ मिलता हुआ होगा। यह इससे भी सबूत होता है कि अवंती के राजा के विरुद्ध किए युद्ध में उदायन मारवाड़ और राजपूताना के रणों में हँकर ही गया था जहाँ कि उसकी सेना घास से मरने लगी थी।⁷

इन सब अनुमानों के अतिरिक्त भी हमें वराहमिहिर के दिए भारतवर्ष के विभागों में सिधु-सोवीर-देश के विषय में यह बात मिलती है कि जिन नौ विभागों में देश तब बंटा हुआ था उनमें से ही यह एक था।⁸ इससे प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक और भौगोलिक विशेषता कितने ही अंश में जैन आधारों की प्रामाणिक ठहराती है कि जो यह कहती है कि वीतमय सहित उदायन अन्य 363 गाँवों का राजा था।⁹ फिर ई. 12 वीं सदी में होने

1. कनिष्कम, वही, पृ. 569।

2. ह्लिस डेविड्स, बुद्धीस्ट इण्डिया, पृ. 320 के सामने का नक्शा।

3. सचाउ, अलबरूनीज इण्डिया, भाग 1, पृ. 302; देखो दे, वही, पृ. 183।

4. भगवती, सूत्र 492, पृ. 320-321।

5. मेयर, जे.जे., वही, पृ. 97। उत्तराध्ययन के कथानक के लिए देखो लक्ष्मीवर्णन की दीपिका (धनपर्नासह संस्करण), पृ. 552-561। 6. देखो दे, वही, पृ. 183।

7. उत्तरतां च महं स्कन्धावारस्तूपा मर्तुमारब्धः।—ग्रावश्यकसूत्र पृ. 299। देखो मेयर, जे.जे., वही, पृ. 109। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि बौद्ध दन्तकथाओं के अनुसार, सोवीर की राजधानी रोहक थी। देखो कैहिंडं, भाग 1, पृ. 173; दे, वही, पृ. 170। कनिष्कम के अनुसार, रोहक सिध का प्राचीन नगर आलोर ही भवतया था।—कनिष्कम, वही, पृ. 700।

8. वराहमिहिर प्रत्येक खण्ड को वर्ग कहता है। उसका कथन है कि उनमें (वर्गों से) भारतवर्ष याने आधा संसार, नौ खण्डों में विभाजित हो गया है। केन्द्रवर्ग, पूर्वी-वर्ग, आदि आदि—सवाउ, वही, पृ. 297। देखो, वही, पृ. 298-302; कनिष्कम, वही, पृ. 6। “इस योजनानुसार...सिधु सोवीर को पश्चिम का प्रमुख जिला था... परन्तु वराहमिहिर के इस वर्णन और उसकी विगत में कुछ अन्तर है क्योंकि विगत में सिधु-सोवीर को दक्षिण पश्चिम में आनर्त के साथ रखा गया है।”—वही, पृ. 7।

9. वीतमयादिनगरितुपष्टित्रिंशतीप्रभुः—हेमचन्द्र, वही, श्लो. 328, पृ. 147। “यह राजा उदायन सिधु-सोवीर को लेकर 16 देशों और वीतमयनगर को लेकर 363 नगरों का अधिपति था।”—मेयर, वही, पृ. 97

वाले कुमारपाल राजा के चरित्र पर से हमें पता लगता है कि उनके कार्यकाल में वह एक जैन प्रतिमा¹ वहाँ ने पाटण² में लाया था कि जो हेमचन्द्राचार्य के कथनानुसार उदायन के समय से वीतमय के खण्डहरों में पड़ी हुई थी।³

सिंधु-सीन्धी देश और उसके वीतमय-नगर के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है। अब उसके शासक उदायन के विषय में ऐतिहासिक अनुमानों का विचार करें हालांकि वे बहुत ही कम हैं। डॉ. रायचौधरी कहते हैं कि "लौकिक दन्तकथनों के जाल में से ऐतिहासिक तत्व का निकाल पाना कठिन है।"⁴ फिर भी यह स्वीकार करना ही उचित है कि बहुत थोड़े तथ्य ही ऐसे हैं कि जो जैन साहित्य में से मिल जाते हैं और जिनका इतिहासवेत्ताओं को ध्यान में लाना कुछ अंश में उचित है। जैन साहित्य के अनुसार सीन्धी देश के उदायन ने अपने आश्रित अवंती के चण्डप्रद्योत राजा को लड़ाई में हराया था।⁵ यह चण्डप्रद्योत एक ऐतिहासिक पुरुष है और इसके विषय में हम चेटक की चौथी पुत्री शिवा के पति कि हैसियत से विस्तार के साथ आगे विचार करेंगे। फिर हम यह भी जानते हैं कि उदायन के पश्चात् उसका भान्जा केमी राजा हुआ था जिसके राज्यकाल में वीतमय का सर्वथा नाश हो गया था।⁶ यह कहना कठिन है कि यह सब कपोलकल्पित ही है अथवा इसका यहाँ कारण है कि हमें देश के इस महा भू-भाग के इतिहास का पता कोई भी नहीं लग रहा है हालांकि हम विश्वस्त प्रमाणों से यह जानते ही हैं कि एक समय यह भारतवर्ष के नव-वर्गों में का एक था।

उदायन और उसकी रानी प्रभावती के जैनधर्म के प्रति भूकाव के विषय में हमारे सामने विश्वस्त जैन सिद्धांत शास्त्रों के प्रत्यक्ष और परोक्ष, सभी प्रकार के प्रमाण हैं जिन पर हम अपनी धारणा बांध सकते हैं। एक

1. अनहिलपट्टण, वीरावलपट्टण जिसे गुजरात में उत्तर का बड़ोदा कहा जाता है, वल्लभी के विनाश के बाद सन् 802-ई. 746 में वनराज या वंशराज द्वारा बसाया गया था। नगर के अनहिल पाटण इसलिए कहा गया कि इसका स्थान एक गोवाल याने अहीर द्वारा बनाया गया था...—हेमचन्द्र, सुप्रसिद्ध वैयाकरण और कोशकार, अनहिलवाड़ के राजा कुमारपाल (ई. 1142-1173) के दरबार में चमका था और उसका धर्मगुरु था। 84 वर्ष की आयु पाकर इसका देहान्त ई. 1172 में हुआ था कि जिस वर्ष कुमारपाल ने जैनधर्म स्वीकार किया था। परन्तु अन्य प्रमाणों से यह धर्म परिवर्तन ई. 1159 में हुआ था। 8वीं सदी में वल्लभी के पतन पश्चात् अनहिलवाड़पाटण गुजरात का मुख्यनगर हुआ और वह 15वीं सदी के अन्त तक यह स्थान भोगता रहा था...—दे, वही, पृ. 6। 2. जयसिंहमूरि, कुमारपाल-भूपाल-चरित-महाकाव्य, सर्ग 9, श्लो. 261, 265, 266।
3. उद्दामने-शिवगते...। तदेव प्रतिमा...। मविष्यति... भूगता ॥ राज्ञः कुमारपालस्य... पुष्येन...। खन्यमानस्थने संक्षु, प्रतिमाविर्मविष्यति ॥—हेमचन्द्र, वही, श्लो. 20, 22, 83, पृ. 158, 160। रायचौधरी, वही, पृ. 123। दन्तकथानुसार दोनों में यह युद्ध इसलिए हुआ था कि चण्डप्रद्योत उसकी एक दाम्नी और एक जिनप्रतिमा अपहरण कर लाया था। "इसलिए उसने पञ्जोय के पास दूत भेज कर कहलाया कि "मुझे दासी की परवाह नहीं है, परन्तु वह मूर्ति उने लौटा दे।" परन्तु प्रद्योत ने ऐसा नहीं किया...। उदायन ने सुरत, इस राजाओं को साथ लेकर उस पर धावा बोल दिया। ...जब पञ्जोय सामने आया तो उद्दामने ने उसे बंदी बना लिया।"—मेयेर, जे. जे., वही, पृ. 109, 110 देखो आचर्यकसूत्र, पृ. 299 भी।
5. उदायनो राजा... गत उज्जयिनो... प्रद्योतो... बद्धो।—वही, पृ. 298-299। देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो. 508, पृ. 156। पत्तिसय्यां से केसीकुमारो रामात्राए... नभगवतीसूत्र, सूत्र 49, पृ. 619। "जब वह उदायन सरा तो एक देव ने नगर पर घृषि की वर्षा गिराई... मानसी वह नगर दबा पड़ा है।—मेयेर जे. जे., वही, पृ. 115-116।

स्थान पर तो लिच्छवी राजकुमारी प्रभावती, जिनप्रतमा का पूजन करने के पश्चात् कहती है कि, 'राग, द्वेष और भ्रम रहित, सर्वज्ञ, अष्टमिद्धियुक्त, देवाधिदेव अर्हन् भगवान् मुझे अपने दिव्य दर्शन देने की कृपा करें।'।¹ इसमें प्रकट है कि सौवीर की राजगृहिणी जैनधर्म के प्रति कितना अधिक सम्मान रखती थी।² फिर उत्तराध्ययन एवं अन्य सूत्रग्रन्थों में हमें पता लगता है कि राजा भी जैनधर्म का कुछ कम भक्त नहीं था।³ हालांकि मूलतः वह ब्राह्मण तापनों का भक्त था।⁴ इनका ही नहीं परन्तु वह संसार त्याग करने की सीमा तक पहुँच गया था।⁵ और जब उसके पुत्र आभी के राज्याभिषेक का प्रश्न उसके समक्ष उपस्थित हुआ तो उसने विचार किया कि 'यदि मैं राजकुमार आभी को राज्यासन दे कर संसार त्याग करूँगा तो आभी राजसत्ता और राज्यमोह से काम-भोगादि में लुब्ध रहेगा और अनादि अनंत संसारचक्र में वह परिभ्रमण करेगा। इसी तो मैं अपनी बहन के पुत्र केनी को राजपाट दे कर संसार त्याग करूँ तो अधिक अच्छा रहेगा।'⁶

उपरोक्त दृष्टान्त से उदायन के अंतःकरण का पलटा देना जा सकता है। इसमें उसका संसारत्याग जैनों के लिए लोकोक्ति हो गया है। अंततः उदायन प्रसंग में उदायन के विषय में इस प्रकार का उल्लेख है कि 'फिर राजा अलक्ष्मे ने...उसी प्रकार संसार का त्याग किया जैसा कि उदायन ने किया था। अपवाद इतना मात्र था कि उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य कारवार मीपा था।'⁷ यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस पर टिप्पण करते हुए डा. वारन्येट ने भूल से यह देखा है कि वैशाली के राजा चंडन की पुत्री मृगावती से उत्पन्न हुए जननीक के पुत्र, कौमाभ्वी के राजा उदायन का उक्त संदर्भ में निर्देश है।⁸

इसके सिवा, युद्धवन्दी चण्डप्रदयोत के प्रति उदायन का किया व्रतांत्र भी उसकी जैनधर्म में अनन्य श्रद्धा प्रमाणित करता है क्योंकि उसने 'पूर्वषणापर्व में त्रोरतिघोर वैरभाव त्याग कर क्षमा करने की जैनधर्म की शिक्षा' का तत्परता से पालन किया था।⁹ यह घटना इस प्रकार है। पूर्वषणापर्व में उदायन को एक दिन उपवास था। परन्तु चण्डप्रदयोत को उसकी इच्छानुसार भोजन देने की उसने उचित व्यवस्था कर ली थी। जब भोजन चण्डप्रदयोत को दिया गया तो उसने विष के भय से उसके ही लिए बनाया गया भोजन करने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि उसे भी जैन होने के कारण उदायन की ही भांति उपवास है। जब उदायन को सूचना

1. वही, पृ. 105 । 2. प्रभावत्या...अन्तःपुरे चैत्यग्रहं कारितं...भक्तप्रत्याश्रयानं मृता देवलोकंगता । आवश्यक-सूत्र, पृ. 298 । देखो मेयर जे. जे., वही, वही स्थान; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 404, पृ. 150 ।
3. मेयर, वही, पृ. 103 । स च तापसभक्तः आवश्यकसूत्र, पृ. 298; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 388, पृ. 149 ।
4. तएणं से उदायणो राया...समणस्स भगवओ जाव पव्वइए । भगवती, सूत्र 492, पृ. 620; मेयर वही, पृ. 114 । 5. सौवीर के राजों में वृषभ समान राजा उदायन ने संसार त्याग कर भगवती दीक्षा ले ली और यह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया। याकोबी, सेवुई. पुस्त. 45, पृ. 87 । इसी स्थान पर के एक टिप्पण में डा. याकोबी लिखता है कि 'वह महावीर का समकालिक था।' वही ।
6. वही, पृ. 113-114 । एवं खलु अभीयोकुमारे...काममोगेषु मुच्छिए...भाइणोज्जं केमि कुमारं रज्जे ठावेना... भगवती, सूत्र 491, पृ. 619 । 7. वारन्येट, वही, पृ. 96 । 8. वही, पृ. 96, टिप्पण 2 ।
9. भण्डारकर, ई. 1883-1884 की प्रतिवेदन, पृ. 142; पञ्जसण या पूर्वषणा, जैनवर्षान्त पर मनाया जाने वाला धार्मिक समारोह। देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 76; पञ्जासवियाणं...खमियव्वंखमावियव्वं... कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र 59, पृ. 191-192 ।

दी गई तो उसने कहा कि 'मैं जानता हूँ कि वह धूर्त है। परन्तु जहाँ तक वह मेरा बन्दी है, वहाँ तक मेरी पर्युषणा भी पवित्र और मंगलकारी नहीं कही जा सकती है।'¹

अब पद्मावती के विषय में विचार करें। इसका विवाह जैनधर्म के एक समय के केन्द्र स्थान² रूप से प्रसिद्ध चम्पानगरी के राजा दधिवाहन से हुआ था।³ आवश्यकसूत्र की टीका में हरिभद्रसूरि स्पष्ट ही कहते हैं कि राजा दधिवाहन और रानी पद्मावती दोनों ही जैनधर्म के महान् उपासक थे। जैन इतिवृत्तों में चम्पा को जितना ऐतिहासिक महत्व दिया गया है उसको देखते हुए यह मानना अनुचित नहीं है कि दधिवाहन का सारा ही कुटुम्ब जैनधर्म के सिद्धान्तों में सक्रिय रस लेता था।⁴

“जैन दन्तकथानुसार इसका समय ई. पूर्व छठी सदी है। उसकी पुत्री चन्दना अथवा चन्दनवाला ने महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति के बाद ही स्त्रियों में सबसे पहले जैन दीक्षा उनसे स्वीकार की थी।”⁵ जैन वर्णनात्मक और अन्य साहित्य महावीर की इस सर्व प्रथम साध्वी की कथा से भरा हुआ है। वर्धमान के समय की स्त्री साध्वियों और श्राविकाओं की अग्रणी यही थी।⁶ उसकी जीवनी से जुड़ी हुई राजनीति बात इस प्रकार है। जब कोसाम्बी के राजा शतानीक ने दधिवाहन की रानधानी चम्पा पर थावा बोला, चन्दना एक लुटेरे के हाथ पड़ गई। परन्तु वह निरन्तर अपने व्रत का पालन करती ही रही थी।⁷ रायचौधरी का यह वक्तव्य जैन कथानकों पर ही अवलम्बित है और चन्दना की पूरी कथा सशेष में इस प्रकार है उसके पिता और राजा शतानीक में हुए युद्ध के समय में वह दुश्मन के किसी सैनिक के हाथ पहले पड़ गई। इसने उसे कोसाम्बी के सेठ धनावाह को बेच दिया और सेठ ने उसका नाम चन्दना रख दिया हालांकि पिता का रखा हुआ उसका नाम वसुमति था। कुछ ही दिनों बाद इस धनावाह सेठ की पत्नि मूला उससे डाह करने लगी और इसलिए उसने उसके केश काट

1. देखो भण्डारकर, वही और वही स्थान: मेयर, जे. जे., वही, पृ. 110-111; कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, सूत्र. 59, पृ. 192। अर्द्य पर्युषणा, राजापोषितः, स भणति-अहमणुपोषितः, मभाषि माता-पितरौ संयतो, आदि। आवश्यकसूत्र, पृ. 300।
2. दत्ता पद्मावती चम्पायां दधिवाहनाय। —वही पृ. 676, 677। देखो मेयर, जे. जे., वही, पृ. 122।
3. देखो दे, वही, पृ. 44; दे, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका, नई माला, सं. 10, 1914, पृ. 334।
4. हरिभद्र कहते हैं कि राज्य का भार अपने पुत्र करकण्ड को सौंप. राजा और रानी दोनों ही ने जैनधर्म दीक्षा ले ली थी। पद्मावतीदेवी...दन्तपुरे आर्याणा मूलैः प्रव्रजिता, ...दे अपि राज्यं दधिवाहनस्तस्मैदत्त्वा प्रव्रजितः, करकण्डमहाशासनो जातः ... —आवश्यकसूत्र पृ. 716, 717, 718। यही भी कहा जाता है कि कारकण्ड ने भी अपने पिता की तरह ही, अन्न में दीक्षा ले ली थी। देखो वही, पृ. 719। करकण्ड और उसके माता पिताओं के सम्बन्ध की अधिक जानकारी के लिए देखो मेयर, जे. जे., वही, पृ. 122-136: शांत्याचार्य, उत्तराध्ययनसूत्र-शिष्यहिता, पृ. 300-303; लक्ष्मीविलास, उत्तराध्ययनदीपिका, पृ. 254-58।
5. रायचौधरी, वही, पृ. 69। देखो दे, वही, पृ. 321।
6. समणस्स भगवसो महावीरस्स अज्जचंदणाया मुखवायां छत्तीसं अज्जियासाहस्सीओ...हुत्था। —कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र 133, पृ. 123। देखो दे, वही, पृ. वही।
7. रायचौधरी वही, पृ. 69। देखो वही, पृ. 84। “द्विबसार के राज्य में मिला लेने के कुछ वर्ष पूर्व ही चम्पा को कोसाम्बी के राजा शतनीक राय ने अधिकार में लेकर लूट किया था।” —प्रधान वही प. 214।

कर एक कोटड़ी में बन्दी कर दिया। इसी बन्दी अवस्था में एक बार उसने महावीर को अपने आहार में ने ही आहार दिया था और अन्त में वह उनकी साध्वी बन गई थी।¹

चेटक की तीसरी पुत्री मृगावती थी। परन्तु इसका विचार करने के पूर्व जैन इतिहास की दृष्टि से चम्पा के विषय में कुछ कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। अभी यह नगर भागलपुर के निकट थोड़ी ही दूर पर है और इसका उल्लेख चणपुरी, चंपानगर, मालिनी और चंपामालिनी आदि नामों से मिलता है।² जैन इतिहास में इसकी उपयोगिता स्वयम् सिद्ध है क्योंकि हमें पता है कि महावीर ने अंग की राजधानी चंपा और उसके उपनगर पृष्ठ चंपा में चतुर्मास बिताए थे फिर जैनों के बारहवें तीर्थंकर श्रीवासु पूज्य की जन्म और निर्वाण भूमि भी यहीं कही जाती है। चंदना और उसके पिता के मुख्य नगर और जैनधर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में भी यह जैनों में प्रख्यात है। यहां दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के वासुपूज्य एवम् अन्य तीर्थंकरों की मूल मूर्ति सहित प्राचीन और अर्वाचीन मंदिर वहां देखे जाते हैं।³ उवामगदमाओ और अंतगडदसाओ में उल्लेख है कि महावीर के निर्वाण पश्चात् उनके ग्यारह गणधरों में से एक मुधर्म के समय में चम्पा में पूर्णभद्र नाम का एक चैत्य था।⁴ 'जैन सम्प्रदाय के युगप्रधानाचार्य श्री मुधर्मास्वामी, कुणिक-अज्ञातशत्रु के समय में चम्पा में आए थे तब नगर के बाहर उनके निवास स्थान पर दर्शन करने के लिए कुणिक नगे पांव पहुंचा था। मुधर्मा के अनुगामी जम्बू और उनके अनुगामी प्रभा, उनके अनुगामी शयंभव भी इस नगर में रहे थे और उमी में शयंभव ने पवित्र जैनमिठ्ठानों का सार रूप दस-अध्ययनवाला दशवैकालिकसूत्र रचा था।'⁵

'विवस्वार के मृत्योपरान्त, कुणिक-अज्ञातशत्रु ने चम्पा को ही अपनी राजधानी बना लिया था। परन्तु उसकी मृत्योपरान्त उसके पुत्र उदायी ने अपनी राजधानी पाटलीपुत्र में बदल ली थी।'⁶ चंपक-श्रेष्ठि-कथा नाम के जैनग्रन्थ से मालूम होता है कि यह नगर बहुत ही समृद्ध था। इसकी प्रारम्भ की पंक्तियों में यहां की जानियों और धन्धों के नाम आते हैं। यहां सुगन्धी द्रव्य विक्रक, मसाले-विक्रक, शक्कर विक्रक जाहरी, चर्मकार (कमानेवाले), हार बनानेवाले, सुतार, बुनकर और घोषी थे।'⁷

1. देखो कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र 118, पृ. 106-107। देखो आवश्यकसूत्र, 223-225; हेमचन्द्र, वही, पृ. 59-62; चन्दना के विशेष विवरण के लिए देखो वारन्यैट, वही, पृ. 98-100, 102, 106।
2. देखो दे, दी ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एण्ट एण्ड मैडीवल इण्डिया, पृ. 44; कनिधम, वही, पृ. 546-54, 722-723। आज भागलपुर के पास, गंगा नदी पर का चंपापुर का गांव ही यह है। प्राचीन काल में आधुनिक भागलपुर जिला जिसे कहते हैं उसी को अंग देश कहा जाता था और यह चंपा उस देश की राजधानी थी।
3. दे वही, पृ. 44-45। 'अजमेर के किसी प्राचीन जैन मन्दिर के पड़ोस से उत्खनित कुछ जैन मूर्तियों के लेखों ने यह पता लगता है कि ये मूर्तियां वासुपूज्य, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान की 13 वीं सदी ईशवी ने प्रतिष्ठित हुई थी याने वि सं, 1239 से 1247 तक में।' वही, पृ. 45; देखो बंगाल एणियाटिक सोसाइटी पत्रिका, भाग 7, पृ. 52।
4. हरनोली, वही, भाग 2, पृ. 2 टिप्पण। 'निःभेदे, जम्बू उन दिनों में...चम्पा नामक एक नगर था...पूर्णभद्र-चैत्य...वारन्यैट, वही, पृ. 97-98, 100। देखो वही और वही स्थान।
5. दे, वही और वही स्थान। ग्रन्थदाश्रीगणधरः सुधर्मा...। जगाम चंपा...। तदा...कणिकः...। त्यक्तपादुको...। सुधर्मस्वामिनं दृष्ट्वा दूरादपि नमो करोत् ॥ हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वत, सर्ग 4, श्लो. 1, 9, 33, 35।
6. वही सर्ग 6, श्लो. 21 आदि।
7. दे, वही और वही स्थान।

अब मृगावती की बात कहें। चेटक की तीसरी 'इस पुत्री का विवाह कोसाम्बी' के राजा शतानीक से हुआ था और वह विदेह की राजकुमारी के नाम से प्रख्यात थी।⁹ विनयविजयगण कल्पसूत्र की सुबोधिका टीका में कहते हैं कि 'जब महावीर कोसाम्बी आए तो उस देश में शतानीक राजा मृगावती और रानी थी।' राजा और रानी दोनों ही महावीर के अनन्य भक्त थे यह भी जैन साहित्य से प्रमाणित होता है। जिस कुटुम्ब के वातावरण में उसका पोषण व वर्धन हुआ था उसको देखते हुए मृगावती से स्वाभाविक ही ऐसी आशा रखी जा सकती थी।¹⁰ इतना ही नहीं अपितु जैन दन्तकथा स्पष्ट ही कहती है कि राजा का आत्मात्य और उसकी पत्नि भी जैनधर्मो थे।¹¹

दधिवाहन और शतानीक में हुए युद्ध का वर्णन किया ही जा चुका है। ऐतिहासिक महत्व की दूसरी बात जैन साहित्य से यह मिलती है कि "उसका पुत्र और अनुगामी विवसार का समकालिक उदायन था।"¹² डॉ. प्रधान कहता है कि "उदायन के पितामह का सहस्राणीक नाम मास ने सहस्रानीक और पुराणों में वसुदामन दिया है। यह सहस्रानीक विवसार का समसमयी था और महावीर का धर्मोपदेश उसने सुना था। जैन उसे सानीक कहते हैं जो सहस्रानीक का ही संक्षेप रूप है और संस्कृत सहस्राणीक का प्राकृत रूप। ससानीक ही पुराणों का वसुदामन है और उसे शतानीक 2 य का नाम का एक पुत्र था। उदायन इसी शतानीक 2 य पुत्र था।"¹³

जैनों के पांचवें अंगसूत्र भगवती का पूरा-पूरा समर्थन इस बात में विद्वान डॉक्टर को मिलता है।¹⁴ हम यह भी उसमें जानते हैं कि शतानीक की बहन जयन्ति भी महावीर की इह अनुयायिनी थी।¹⁵ उदायन, उसके श्वसुर

शतानीक ही परंतप भी कहा जाता था। देखो हिंस डेविड्स, वही, पृ. 3।

2. 'कोसाम्बी, कोसाम्बीनगर अथवा कोसम, जमना के वाम तटस्थित प्राचीन गाव जो कि इलाहाबाद से पश्चिम में लगभग 30 मील दूर पर स्थित है।' दे, वही, पृ. 96।
3. 'शतानीक...ने विदेह की राजकुमारी से विवाह किया था क्योंकि उसका पुत्र विदेहीपुत्र कहा जाता था।' रायचौधरी, वही, पृ. 84। देखो लाहा. वि. च., वही, पृ. 136।
4. प्रधान, वही, पृ. 250। ततः क्रमेण कौशम्ब्यां गतस्तत्र शतानीको राजा मृगावती देवी। कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, सूत्र 118, पृ. 106।
5. महावीर, केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व भ्रमण करते हुए एक बार कोसाम्बी पहुँचे थे। उस समय ऐसी घटना घटी कि किमी अभिग्रह के कारण भगवान् महावीर को कई दिनों तक वहाँ आहार नहीं मिला और इसलिए मृगावतीपि...महता दुःखेनामितता...तेन (राज्ञा) आशवासिता तथा करिष्यामि यथा कल्पे लभते...आश्रयकसूत्र, पृ. 223। देखो स्टीवन्सन, श्रीमती, वही, पृ. 40।
6. सुगुप्तो, मात्यो. नन्दा तस्य भार्या, सा च श्रमणोपासिका. सा च श्राद्धीति मृगवत्या वयस्या...आमात्योपि सपत्निक आगतः स्वामिनं वदन्ते,....आवश्यकसूत्र, पृ. 222, 225। देखो कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, सूत्र 118, पृ. 106। 7. रायचौधरी, वही और वही स्थान। देखो वारन्यूट वही, पृ. 96, टिप्पण 2।
8. प्रधान, वही और वही स्थान। "कथासरित्सागर" कहता है कि शतानीक का पुत्र सहस्रानीक उदायन का पिता था। इस प्रकार कथासरित्सागर ने भूल से क्रम को उलटा दिया है।" देखो टानी (पेंजर संस्करण), कथासरित्सागर. भाग 1, पृ. 95-96। रायचौधरी, वही, वही स्थान।
9. सहस्राणीयस्स रत्तो सश्राणीयस्स रत्तो पुत्ते च्चे उगस्स रत्तो नत्तुण मिगावीतण देवीए अत्तए जयंतिए समणोवासियाए मत्तिज्जेए उदायणे नाम राया होत्था. आदि। -भगवती सूत्र 441, पृ. 556।
10. तएणं सा जयंती समणोवासिया...पव्वइया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा।...-वही, सूत्र 443, पृ. 558।

चण्डप्रद्योत एवम् उसके अनुयायी आदि के विषय में आगे हम विस्तार से कहेंगे । यहां इसलिए इतना ही कह देना उचित होगा कि जैन उस के जैन होने का ही दावा नहीं करते हैं अपितु यह भी मानते हैं कि “वह एक महान् राजा था जिसने कितने ही युद्ध विजय किए थे और अवंती, अंग तथा मगध के राज-कुटुम्बों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों से भी वह जुड़ा हुआ था ।”¹

चेटक की चौथी पुत्री शिवा अवंती या प्राचीन मालवा की राजधानी उज्जयिनी² के राजा चण्डप्रद्योत को व्याही थी ।³ यह चण्डप्रद्योत महासेन-भयंकर प्रद्योत, महान् सेना का अधिपति⁴ और वंस अथवा वत्स देश की राजधानी कोसाम्बी के राजा उदायन के श्वसुर रूप से प्रसिद्ध है ।⁵ डॉ. ह्लिस डेविड्स कहता है कि “बुद्ध के समय में अवंती का राजा भयंकर प्रद्योत था जो कि उज्जैन में राज्य करता था । उसके सम्बन्धी दन्तकथा कहती है कि वह और उसका पड़ोसी कोसाम्बी का राजा उदेन समकालिक थे । वे वैवाहिक सम्बन्ध से भी जुड़े हुए थे और युद्ध भी दोनों ही ने किया था ।”⁶ यह दंतकथा जैन साहित्य से सम्पूर्णा मिलती है । इन्हीं आधारों से हम जानते हैं कि वत्स राजा उदायन का विवाह वासवदत्त⁷, अवंती के प्रद्योत की पुत्री से हुआ था ।⁸ आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि चण्डप्रद्योत ने शतानीक से मृगावती को उसके पास भेज देने का कहलाया था और उसके इन्कार करने पर उसने उसके ऊपर धावा बोल दिया था, इसी अरसे में शतानीक की मृत्यु हो गई और जब महावीर कोसाम्बी में आए थे तब चण्डप्रद्योत ने उनकी प्रतिभा चौंधिया कर वैरवृत्ति छोड़, उदायन को कोसाम्बी का राजा बना देने का वचनबद्ध होकर, मृगावती को जैन साध्वी हो जाने की आज्ञा दे दी थी ।⁹

“वत्स का राजा यह उदायन प्रेम और साहसिक अनेक संस्कृत कथाओं का महान् चक्र का केन्द्र व्यक्ति है । उनमें अनुपम सुन्दरी वासवदत्ता के पिता उज्जैन के राजा प्रद्योत का भी कुछ कम भाग नहीं है ।”¹⁰ जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है उसने अवंती, अंग और मगध के राज-कुटुम्बों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बांध लिया था । सम्पूर्णांतः विश्वस्त यदि नहीं भी हों तो भी भिन्न-भिन्न प्रमाणों से हमें पता लगता है कि अवंती के राजा प्रद्योत की कन्या वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता और मगध के राजा दर्शक की बहन पद्मावती एवम् अंग देश के राजा रुद्र वर्मा की पुत्री उसकी रानियाँ थी ।¹¹ इनमें से वासवदत्ता उदायन की पटनी थी । बौद्ध एवं जैन दोनों ही

1. प्रधान, वही, पृ. 123 । 2. देखो आवश्यकसूत्र पृ. 677 ।

3. देखो दे, वही, पृ. 209 । 4. देखो प्रधान, वही, पृ. 230 ।

5. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 83 । कौशाम्बी नगर या कोसम...उदायन के राज्य वंशदेश या वत्स देश की राजधानी थी । —दे, वही, पृ. 96 । देखो वही, पृ. 28 । 6. ह्लिस डेविड्स, कैहिड, भाग 1, पृ. 185 ।

7. देखो आवश्यकसूत्र पृ. 674; हेमचन्द्र, त्रिषष्टि-शलाका, पर्व 10, पृ. 142-145 ।

8. “अवंती मोटे तौर पर आधुनिक मालवा, नीमाड़ और मध्यप्रदेश के आस-पास के स्थानों तक फैला देश था । प्रा. भण्डारकर कहते हैं कि वह जनपद दो भागों में विभक्त था । उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी थी और दक्षिणी भाग को अवंती दक्षिणी पथ भी कहा जाता था, की राजधानी महासती या महिष्यती थी जो कि नर्बदा नदी पर का आधुनिक माधवाता है ।” —रायचौधरी, वही, पृ. 92 ।

9. हेमचन्द्र, वही, श्लो 332, पृ. 107 ।

10. रेप्सन, कैहिड, भाग 1, पृ. 311 । देखो रायचौधरी, वही, पृ. 122; फर्जीटर, एंशेंट हिस्टोरिकल ट्रेडी गन, पृ. 285 । 11. देखो रायचौधरी, वही और वही स्थान; प्रधान, वही, पृ. 211, 246 । “दन्तकथाओं में उदेन और उसकी तीनों रानियों के साहसों की लम्बी कहानी सुरक्षित है ।” —ह्लिस डेविड्स, वही पृ. 187 ।

साहित्यों में अश्वती के प्रद्योत की कन्या वासुदत्ता कौसाम्बी के राजा उदेन की रानी अथवा उसकी तीन रानियों में से एक कैसे बनी इसकी अद्भूत और लम्बी कथा दी गई है।¹ धर्म के प्रति उनकी मनोवृत्ति के विषय में तो उसकी माता, बिंबमार, चेल्लणा एवं उसके अन्य सम्बन्धी जो उस समय जैनधर्म में अग्रणी थे, उनके आदर्श थे। स्वभावतः ही इसलिए उसके मन में जैनधर्म के प्रति सम्मान और महानुभूति उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकती थी।²

अश्वती के प्रद्योत और उसकी पति शिवा के जैनधर्म के प्रति आदर के सम्बन्ध में आ. हेमचन्द्र कहते हैं कि प्रद्योत को जैनधर्म के प्रति बहुत मान था और उसकी आज्ञा मिलने पर ही अंगारवती आदि उसकी आठ रानियाँ कौसाम्बी की मृगावती के साथ जैन साधवियाँ हो गई थी।³ सौवीर के उदायन के वर्णन में जैसा कि हम देख आए हैं, प्रद्योत ने स्वयम् ही जाहिर किया था कि वह जैन है। यद्यपि बौद्ध और जैन दोनों ही इस अश्वतीपति के अत्याचारों और धूर्तता से परिचित हैं,⁴ फिर भी इस विशेष प्रसंग में उसने अपने आपको किसी कारण विशेष से जैन अस्त्य ही कहा हो। ऐसा कुछ समझ में नहीं आता है। यदि उसे भोजन के विषय में शंका थी तो किसी दूसरे बहाने से भी वह भोजन नहीं करने का कह सकता था। तथ्य जो भी हो फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि इस विशेष प्रसंग का लक्ष्य इस या उस राजा के बुरे स्वभाव की छाप पटकने की अपेक्षा दूसरा ही है। मुख्य लक्ष्य यह मालूम देता है कि प्रद्योत का घोर शत्रु होने पर भी उदायन पर्युषणा जैसे धार्मिक पवित्र दिनों में किसी को भी चाहे कोई जैन हो या अजैन, बन्दी रूप में देखना नहीं चाहता था।⁵

इस प्रकार चेटक की सात पुत्रियों में से प्रमावती, पद्यावती, मृगावती, शिवा और चेल्लणा अनुक्रम से सौवीर, अंग, वत्स (वंस), अश्वती और मगध के राजों के साथ ब्याही थीं। इनमें के अन्तिम चार देशों के नाम सोलह महाजनपदों की बौद्ध और जैन सूचियों में आए हैं।⁶ परन्तु सौवीर देश के विषय में अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। चेटक की शेष दो पुत्रियों में से ज्येष्ठा तो महावीर के बड़े भाई नन्दीवर्धन के साथ ब्याही थी।⁷ परन्तु सुज्येष्ठा महावीर की शिष्या जैन माध्वी हो गई थी।⁸ यह सब स्पष्ट ही बताता है कि वर्धमान का प्रभाव उसकी माता लिच्छवी राजकन्या त्रिशला के कारण ही फैला। इससे यह भी स्पष्ट है कि महावीर-काल में लिच्छवी क्षत्रिय ही माने जाते थे और उन्हें अपने उच्च कुल का अभिमान था और उनमें पूर्वी भारत के उच्च कालीन राजा लोग वैवाहिक संबंध जोड़ना अपने लिए गौरवान्वित मानते थे।

1. देखो ह्लिस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 4; आवश्यकसूत्र पृ. 674; हेमचन्द्र, वही, पृ. 142-145।

2. मामी समोसद्धे...। तएणं से उदायणं राया...पञ्जुवासए। आदि-भगवती, सू. 442, पृ. 556।

3. महागृहलन्मृगावत्या प्रवज्यां स्वामिसन्निधौ।

अष्टावंगारवत्याद्याः प्रद्योतनूपतेः प्रियाः ॥ -हेमचन्द्र, वही, श्लो. 233, पृ. 107।

4. देखो ह्लिस डेविड्स, वही और वही स्थान;...सो घुत्तो... आवश्यकसूत्र, पृ. 300; भण्डारकर, वही और वही स्थान;...-कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र 59, पृ. 192।

5. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 300; मेयेयर जे. जे., वही, पृ. 110-111, कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र 59, पृ. 192। 6. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 59-60।

7. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 677; हेमचन्द्र वही, श्लो. 192, पृ. 77।

8. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 685; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 266, पृ. 80।

इस सब का सार यह है कि महावीर के संस्कारित जैनधर्म को लिच्छवियों एवं वैशाली के राज्यकर्ता-वंश द्वारा प्रारम्भिक दिनों में सभी ओर से अच्छा और सुदृढ़ आश्रय प्राप्त हुआ था। इनके द्वारा ही महावीर का धर्म भी वीर, अंग, वत्स, अवंती, विदेह और मगध में प्रचार पाया था और ये सभी उस काल के अत्यन्त शक्तिशाली राज्य थे। यही कारण है कि बौद्धग्रन्थों में वैशाली के राजा चेटक का कुछ भी वर्णन नहीं मिलता है हालांकि उनमें वैशाली के संवैधानिक शासन का अच्छा वर्णन दिया हुआ है।¹ डा. याकोबी के शब्दों में कहें तो 'बुद्धों ने उसका कुछ भी उल्लेख इसलिए नहीं किया कि उसका प्रभाव...प्रतिद्वन्द्वी धर्म के लाभ में प्रयोग हो रहा था। परन्तु जैनों ने अपने तीर्थंकर के मामा और आश्रयदाता की स्मृति सजीव रखी कि जिसके प्रभाव के कारण ही वैशाली जैनधर्म का गढ़ बन गई थी जब कि बौद्धों द्वारा वही पालण्डियों और नास्तिकों के अड्डे के रूप में चित्रित की गई है।'²

इनके सिवा भी जो जैनसूत्रों में लिच्छवियों के सम्बन्ध में यत्रतत्र उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि वे जैनी ही थे। सूत्रकृतांग को ही पहले लें जहाँ कि जैनों द्वारा उन्हें बहुत सम्मान प्राप्त बताया गया है। उसका कथन है कि 'जन्म से ब्राह्मण या क्षत्रिय उग्र कुल का वंशधर अथवा लिच्छवी जो कि साधू होकर दूसरों से प्राप्त भिक्षा से निर्वाह करता है, अपने प्रख्यात गोत्र को भी गर्व नहीं करता है।'³

वत्ससूत्र का लेख भी देखिए 'जिस रात्रि में भगवान् महावीर सब कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त हुए थे उस रात्रि में कासी, कोमल के अठारह राजों, नव मल्लिकों, नव लिच्छवी राजों ने अभावस्था के दिन, दीप जलाए⁴ पोषण पर जो कि उपवास का दिन था। उनमें ऐसा कहा कि ज्ञान का दीपक क्योंकि आज अस्त हो गया है, हम द्रव्य दीपक का प्रकाश करें।'⁵

जैनसूत्रों के इन दो उल्लेखों के सिवा उवासगदसाग्रों में जितशत्रु राजा का उल्लेख है जो कि हरनोली के अनुसार जैन और लिच्छवी राजा चेटक के सम्बन्ध में परीक्षण में अत्यन्त महत्व का है। जैनों के इस सातवें अंग के दस अध्यायनों में से पहले अध्यायन में सुधर्मा⁶ जम्बू से कहते हैं कि 'निश्चय ही हे जम्बू! उस समय में उस काल में वाणियागाम नाम का नगर था...वाणियागाम के बाहर ईशान कोण में एक द्विपलाम नाम का चैत्य था। उस समय में वाणियागाम का राजा जितशत्रु था।...उस समय में उस गाँव में आनन्द⁷ नाम का गृहस्थ रहता था जो परम समृद्ध और सर्वश्रेष्ठ था।

'उस समय में उस काल में श्रमण भगवान् महावीर वहाँ पधारे। लोक समूह उपदेश सुनने को वहाँ आया था राजा कुरिण्य ने जैसा एक प्रसंग में किया था वैसे ही राजा जितशत्रु भी उनका उपदेश सुनने बाहर आया था और इस प्रकार...वह उनकी सेवा में रहा था।'⁸

1. देखो दे, नोट्स आन एंशेंट अंग, पृ. 322; वूलर, इण्डियन स्पेक्ट्रम आफ दी जैनाज, पृ. 27।

2. देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त. 22, प्रस्ता. पृ. 12। देखो टरनर, बंएसो, पत्रिका, सं. 7, पृ. 992।

3. याकोबी, वही. प्रस्ता. पृ. 13। 4. याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 321।

5. 'कानिक महीने की अभावस्था की रात्रि को दिये जलाकर जैन महावीर निर्वाण का उत्सव मनाते हैं। वही, पुस्त. 22, पृ. 266। 6. याकोबी, सेबुई, पुस्त. 22, पृ. 266।

7. '...महावीर के 11 गणधरों में से एक, जो उनके बाद युगप्रधान हुआ था। उसका उत्तराधिकारी अन्तिम केवली जम्बू था।' हरनोली, वही, पृ. 2, टिप्पण 5।

8. आनन्द अनुव्रती श्रावक का जैनों में उत्कृष्ट उदाहरण है। देखो हेमचन्द्र. योगशास्त्र, प्रकाश 3 श्लो. 151, हरनोली. वही. प. 7 आदि। 9. वही प. 3-7. 9।

जिस जितशत्रु का यहां उल्लेख है, उसे डा. हरनोली और डा. वान्येटा¹ ने उचित ही महावीर का मामा चेडग या चेटक बताया है क्योंकि जितशत्रु का वाणिगगाम, जैसा कि आगे देखेंगे, वैशाली का ही दूसरा नाम था अथवा इस नाम में प्रसिद्ध उमका कोई भाग था, डा. हरनोली के शब्दों में कहें तो 'सूर्यप्रज्ञप्ति में जितशत्रु को विदेह की राजधानी मिथिला का राजा कहा है...यहां उसको वाणिगगाम अथवा वैशाली का राजा कहा है। फिर महावीर के मामा चेडग को वैशाली और विदेह का राजा होना भी कहा गया है।...इससे लगता है कि जियसत्तु और चेडग एक ही व्यक्ति हैं।'² फिर राजा कुण्णिय जिसके साथ जितशत्रु की तुलना की गई है, अन्य कोई नहीं अपितु मगध के राजा बिम्बसार का पुत्र और अनुगामी अजातशत्रु ही है। जब हम यह जानते हैं कि कुण्णिय उसके पिता जैसा महान् जैन था तो यह तुलना बिलकुल ही उचित लगती है। यह परिस्थिति उसके जीवन्त पर्यन्त टिकी रही थी या नहीं यह तो पीछे विचार करेंगे, परन्तु इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि उसको जैनधर्म के प्रति विशेष सहानुभूति थी³ और वह महावीर के संसर्ग में एक से अधिक बार आया था।

हमने पहले ही देख लिया है कि इस कुण्णिय या कुण्णिक का उसके नाना चेटक के साथ उस हाथी को ले कर युद्ध हुआ था जिसको ले कर उमका छोटा भाई वैसम्बली पलायन कर गया था। इससे ऐसा लगता है कि अजातशत्रु की प्रतिद्वन्द्वता में चेटक जितशत्रु कहलाया होगा। एक बार फिर डा. हरनोली का प्रमाण देते हैं कि मगध का राजा अजातशत्रु एक समय महावीर का अनुयायी था और बाद में वह बुद्ध का अनुयायी बन गया होगा। जैसा कि सूचित किया गया है जियसत्तु (जितशत्रु) नाम अजातशत्रु के प्रतिद्वन्द्वी की दृष्टि से उसे दे दिया गया होगा। जैनों में अजातशत्रु कुण्णिय नाम से ही परिचित है और इसी नाम में यहां और अन्यत्र भी जितशत्रु में उसकी तुलना की गई है।'⁴

इन सब दन्तकथाओं पर में लिच्छवी शत्रियों के विषय में ऐसा लगता है कि वे भी विदेह की जैसे ही जैन थे।⁵ यदि यह स्वीकार कर लिया जाए तो महान् और शक्तिशाली लिच्छवी वंश महावीर के संस्कारित धर्म के लिए वास्तव में ही शक्ति का मूल्यवान् श्रोत सिद्ध हो जाता है। उनकी राजधानी ही महावीर काल में जैन समाज की प्रमुख नगरी थी। जैन साहित्य से भी हम जानते हैं कि महावीर लिच्छवियों की राजनगरी में अत्यन्त निकट संपर्क में थे। जैनों के इस अन्तिम तीर्थंकर को वैशाली अपना ही नागरिक घोषित करती है। सूत्रकृतांग में महावीर के विषय में कहा है कि "पूज्य अर्हत्, ज्ञातृपुत्र, वैशाली के प्रसिद्ध निवासी, सर्वज्ञ, सम्यग्ज्ञान और दर्शन-युक्त इस प्रकार बोले।"⁶ जैनसूत्र उत्तराध्ययन में भी यही बात कुछ हेरफेर के साथ मिल जाती है।⁷ महावीर वैशाली अथवा वैशालिक या वैशाली निवासी कहलाते हैं। फिर अभयदेवसूरि भगवती-टीका में (2, 1-12, 2) वैशालिक को महावीर ही बताते हैं और वैशाली को महावीर की जननी या माता कहते हैं।⁸

1. वान्येट, वही, प्रस्ता. पृ. 6। जियसत्तु सम्बन्धी जैनों के 8 वें और 9 वें अंग के संदर्भों के लिए देखो, वही, पृ. 62, 113।
2. हरनोली, वही, पृ. 6 टि. 9। 3. तएणं से कुण्णिय राया...समणं भगवं महावीरं...वंदतिणमंनति... औपपातिकसूत्र 32, पृ. 7। 4. हरनोली, वही और वही स्थान।
5. जैनधर्म की वैशाली में प्रधानता के अधिक तथ्यों के लिए देखो लाहा, वि. च., वही पृ. 72-75। याकोबी वही, पृ. 194। 6. याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 261।
7. देखो उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन 6, गाथा 17; याकोबी, वही, पृ. 27।
8. साहा, वि. च., वही. प. 31-32।

इसके बिना कल्पसूत्र से भी मालूम होता है कि महावीर अपने साधू-जीवन में अपनी मातृभूमि को भूल नहीं गए थे और इसीलिए 42 चौमासों में से लगभग 12 उनसे वैशाली में किए ।

फिर भी जैनों के अन्तिम तीर्थंकर और लिच्छवियों के इस निकट सम्बन्ध का महत्व इस बात से और भी बढ़ जाता है जब कि हम विभिन्न आचारों में यह जानते हैं कि वैशाली, लिच्छवी राजनगर, शक्तिशाली, राजवंश के अधिकार में थी कि जो अपने काल के राजनैतिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में बहुत ही प्रभावशाली था । "वैशाली", डॉ. लाहा कहते हैं, "महानगरी, सर्व श्रेष्ठ, भारतीय इतिहास में लिच्छवी राजों की राजधानी रूप में और महान् एवं शक्तिशाली वज्जि जाति के केन्द्र रूप में प्रख्यात है । यह महानगरी जैन और बौद्ध धर्म दोनों ही के प्राचीन इतिहास के साथ निकट का सम्बन्ध रखती है इतना ही नहीं अपितु इसी युगारम्भ के 500 वर्ष पूर्व में भारत के ईशान कोण में उत्पन्न और विकसित दो महान् धर्मों के संस्थापकों की पवित्र स्मृतियों भी उसके साथ लगी हुई हैं ।"¹

एक बात और विचार करने की रह जाती है और वह यह कि वैशाली और कुण्डग्राम² में क्या सम्बन्ध था । इसी युगारम्भ के 500 वर्ष पूर्व में भारतवर्ष के नगरों में वैशाली अनन्यतम समृद्ध नगर था इसको दृष्टि में रखते हुए एक बात निश्चित लगती है कि कुण्डग्राम, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वैशाली का ही विभाग होना चाहिए । जैन और बुद्ध दोनों ही की दन्तकथाओं के आधार पर, डॉ. हरनोली³, राकहिल⁴, आदि विद्वान् इनसे सहमत हैं कि वैशाली तीन विभागों में विभाजित था । "एक तो वैशाली था, दूसरा कुण्डग्राम और तीसरा वारिण्यगाम जो सारे नगर के क्षेत्रफल में अनुक्रम से नैऋत्य, ईशान और पश्चिम में अवस्थित थे ।" फिर वे तीनों ही खण्ड वैशाली से निकट सम्बन्धित थे क्योंकि महावीर कुण्डग्राम में जन्मे होने पर भी वैशाली-निवासी

1. वही, पृ. 31 । "यह लिच्छवीकुल की राजधानी थी, कि जो मगध के राजों के सा विवाह सम्बन्ध से पहले से ही घनिष्ठतम जुड़ी हुई थी... वह वज्जि शक्तिशाली जनपद का प्रमुख स्थान थी...। उन स्वतन्त्र वंशों के सप्तस्त राज्यों में कि जो ई. पूर्व छठी सदी के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में प्रमुख स्थान रखते थे, एक यही महानगरी थी । वह अति सम्पन्न नगरी होना चाहिए ।" ह्लिस डेविड्स, वही, पृ. 40-41; शपेटियर, कैह्लिंड, भाग 1, पृ. 157 । 2. कुण्डग्राम नाम से वैशाली नगर जैन तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि कही गई है जो कि वेसालिए भी कहलाते थे । बौद्धों का कोटिगाम भी यही है । —दे दी ज्योग्राफिकल डिक्शनेरी ऑफ एण्ट एंड मैडिवाल इण्डिया, पृ. 107 । 3. हरनोली, वही, पृ. 3-7 । 4. राकहिल, दी लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ. 62-63 । 5. हरनोली, वही, पृ. 4 । देखा लाहा वि. च., वही, पृ. 38; दे, वही, पृ. 17 । यहाँ यह कह देना उचित है कि उवासगदसाओं में वारिण्यगाम के सम्बन्ध में निम्न आशय का उल्लेख मिलता है : वारिण्यगामे नयरे उच्चनीयमज्जिभमाड कुलाई (वारिण्यगाम नगर में उच्च, नीच और मध्यम कुलों में) ! हरनोली, वही, भाग 1, पृ. 36 । आश्चर्य की ही यह बात है कि मदत्व में दिए वैशाली के वर्णन से यह मिलता हुआ है । —राकहिल, वही, पृ. 62 । वैशाली के तीन भाग हैं : एक भाग में मुख्य शिखर वाले 7000 भवन थे, मध्य भाग में रौप्य शिखर के 14000 भवन थे और अन्तिम भाग में 21000 ताम्र शिखर के घर थे । इनमें उच्च, मध्य और निम्न वर्ग के लोग अपनी-अपनी स्थित्यानुसार रहते थे ।" देखो हरनोली, वही, भाग 2, पृ. 6 टि. 8 । श्री दे ने इन तीनों विभागों को इस प्रकार माना है : 'वैशाली खास (वसाढ), कुण्डपुर (बसुकुण्ड), और वारिण्यगाम (बानिया) जिनमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य रहते थे । —दे, वही, पृ. 170 ।

कहलाते थे और जो बारह चौमासे उनमें वैशाली में बिताए उनके विषय में कल्पसूत्र में उल्लेख “वैशाली और वाणियग्राम में बारह”¹ कह कर किया गया है। डॉ. हरनोली और नन्दलाल दे इससे एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि ये तो वैशाली ही थे क्योंकि वैशाली का प्राचीन नगर कुण्डपुर या वाणियग्राम भी कहलाता था और अन्त में वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि लिच्छवियों की रियासत वैशाली के ये पृथक विभाग थे।²

इस प्रकार इतना तो स्पष्ट है ही कि कुण्डग्राम वैशाली के तीन प्रमुख विभागों में से एक था और इस वैशाली का शासन ग्रीक नगर-राज्यों के शासन से मिलता जुलता सा मालूम होता है। इस काल की विचित्र राज्य व्यवस्था, स्वतन्त्र निगमादि संस्थाएं, रीति-रिवाज और धार्मिक मान्यताएं एवम् व्यवहार सब भारत के उस संक्रमण काल की भांकी हमें कराते हैं जब कि प्राचीन वैदिक संस्कृति नव-विकास साध रही थी और उस कल्पनाशील प्रवृत्ति में प्रभावित होकर अद्भुत परिवर्तन पा रही थी कि जिसमें नई सामाजिक-धार्मिक स्थिति का परिस्फुटन हुआ।

डा. हरनोली कहता है कि 'वह एक अल्पजनमत्ताक (ओलीगागिक रिपब्लिक) राज्य था; उसकी सत्ता उसके निवासी अश्रियवंशों के नायकों के बने हुए मण्डल में वेष्टित रहती थी। राजा का नाम धारण करनेवाला अश्रिकारी उस मण्डल का समापतित्व करता था और उसको एक प्रधान और एक सेनाध्यक्ष सहायता करते थे।³ ऐसे प्रजासत्ताक राज्यों में वैशाली के वज्जि और कुशीनारा (कुसीनगर) एवम् पावा के मल्ल राज्य महत्व के थे। रोम के जैसे ही विदेह में राजसत्ता के नष्ट हो जाने पर वज्जियों का प्रजासत्ताक स्थापित हुई थी।'⁴ इस प्रकार पुरानी राजसत्ता के स्थान में कुण्डग्राम और अन्य स्थलों की अश्रिय जातियों की प्रमुखता में वैशाली जैसे प्रजासत्ताक महाराज्य स्थापित हुए थे। यद्यपि देश के राजकीय वातावरण में पसरी हुई शंशुनाग की महान सत्ता का विचार करते हुए ऐसे प्रजासत्ताक राज्य अल्पसमयी ही थे, फिर भी उस काल में इनका अस्तित्व और प्रभाव तो स्वीकार किए बिना चल ही नहीं सकता है।

डा. लाहा कहता है कि 'मौर्यों की सार्वभौम राजनीति की वृद्धि और विकास के पूर्व उत्तर भारत में बसती भिन्न भिन्न आर्य-प्रजा में प्रचलित राजकीय संस्थाओं की प्राचीन प्रजासत्ताक राजनीति का खयाल पाली भाषा के

1. याकोबी, वही, पृ. 264 ।

2. “वाणियग्राम (संस्कृत. वाणियग्राम): लिच्छवी देश की राजधानी वेसाली (संस्कृत. वैशाली) के मुख्यात नगर का दूसरा नाम...। कल्पसूत्र में...इसको अलग बताया गया है, परन्तु वैशाली के बहुत निकट में। बात यह है कि, जिसे वेसाली साधारणतः कहा जाता है वह नगर बहुत व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ था जिसकी परिधि में वेसालीखास (आज का वसाढ़) के सिवा.. अनेक और भी स्थान थे। इन अन्य स्थानों में ही वाणियग्राम और कुण्डग्राम या कुण्डपुर थे आज भी वाणिया और बसुकुण्ड नाम के ग्राम रूप में ये विद्यमान हैं। इसलिए संयुक्त नगर को जैसा अवसर हो, उसके किसी भी अवयवों के नाम से परिचय कराया जाता है।” —हरनोली, वही, भाग 2, पृ. 3-4 ।” वाणियाग्राम-वैशाली या (वसाढ़), मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिले में; वस्तुतः वाणियाग्रामा वैशाली के प्राचीन नगर का एक अंश ही था...; कुण्डग्राम-मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिले के वैशाली । आधुनिक वसाढ़) का यह दूसरा नाम है; वस्तुतः कुण्डग्राम (कुण्डग्राम) जिसे अब बसुकुण्ड कहते हैं, वैशाली के प्राचीन नगर के उपनगर का ही एक भाग था।” —दे, वही, पृ. 23, 107 ।

3. देखो श्रीमती स्टीवसन, वही, पृ. 22; रायचौधरी, वही, पृ. 75-76 ।

4. वही, पृ. 52, 116 । देखो टामस, एफ. डब्ल्यू., कैहिड, भाग 1, पृ. 491 ।

बौद्धशास्त्रों में किए वर्णनों से ठीक ठीक होता है और उसका समर्थन मोर्य साम्राज्य की स्थापना के लिए उत्तर-दायी राजनीतिज्ञ महान् बाह्यर¹ कौटिल्य भी करता है। हमारे अभिप्राय के लिए इसलिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि नाय या नात जाति के मुख्य पुरुष सिद्धार्थ ने राज्य और राज्यमण्डल में उच्चपद प्राप्त किया ही होगा कि जिसके फलस्वरूप वह एक प्रजासत्ताक राजा की बहन त्रिशला से विवाह कर सका था।²

अब जात्रिकों³ का विचार करने पर हम देखते हैं कि उनसे भारतवर्ष को एक सर्वोत्तम धार्मिक सुधारक दिया था। और जैसा कि हम ऊपर देख ही चुके हैं, जब वज्जि या लिच्छवी राजमण्डलों की मुख्य जातियों में भी इनका स्थान था, तब क्षत्रिय जाति के रूप में उनका महत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है क्योंकि वह 'वृज्जि या लिच्छवी मंत्रीसंघ' के प्रमुख कुलों में से एक थी। सिद्धार्थ और उनके पुत्र तीर्थंकर महावीर की 'यही जात्रिक कुल था। इनका प्रमुख नगर कुण्डपुर या कुण्डग्राम और कोल्लाग,⁴ वैशाली के उपनगर थे। फिर भी ये वेमालिण अथवा वैशाली निवासी कहे जाते थे।'⁵

राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला का पुत्र महावीर निःसंदेह जात्रिक कुल का एक नर-रत्न था। इस अद्वितीय ध्यक्ति का महान् प्रभाव अपने जाति भाइयों पर कितना था, इस विषय में इनके घोर विरोधी बौद्धों के धर्मशास्त्रीय साहित्य में ही इस प्रकार उल्लेख मिलता है 'वह संघ का मुख्य पुरुष, महान् गुरु, महान् नव्यज, लोकमान्य, महान् अनुभवी, दीर्घ तपस्वी, वयोवृद्ध और परिपक्व आयु का है।'⁶

हम देख ही पाए हैं कि महावीर और उनके मातापिता श्री पार्श्वनाथ के धर्म के अनुयायी थे और इसलिए नाय क्षत्रियों की सारी जाति ही उसी धर्म की अनुयायिनी ही यह बहुत सम्भव है। ऐसा मालूम होता है कि यह नाय जाति महावीर के पुरोगामी पार्श्व के अनुयायी साधू-समुदाय का पोषण करती थी और जब महावीर ने धर्म-प्रवर्तन किया, तब उनकी जाति के सदस्य उन्हीं धर्म के श्रद्धाशील अनुयायी हो गए।⁷ सूत्रकृतांग में कथन है कि जिनने महावीर प्ररूपित धर्म का अनुसरण किया वे 'सदाचारी और प्रामाणिक' हैं और वे 'परस्पर एक दूसरे को धर्म में बढ़ करते हैं।'⁸

इस प्रकार महावीर की ही जाति के होने के कारण, जात्रिकों पर, नात के सिद्धांत का स्वभावतया अत्यधिक प्रभाव पड़ा। जैनसूत्र जात्रिकों का आदर्श चित्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वे पाप और पापमय

1. लाहा, वि. च., वही, पृ. 1-2।

2. देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 22; याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 12।

3. कुल का नाम नाय या नाथ ही दिया गया है। देखो लाहा, वि. च., वही, पृ. 121; हरनोली, वही, पृ. 4 टिप्पण। 4. उवासगदसाग्रो में कोल्लाग के विषय में इस प्रकार कहा गया है 'वाणियागाम नगर के बाहर, उत्तर-पूर्वी दिशा में कोल्लाग नाम का एक उपनगर था जो विस्तृत, सुदृढ़...महलोवाला आदि-आदि था। 'हरनोली, वही, पृ. 8। देखो वही, पृ. 4 टिप्पण। मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिले के वैशाली (वसाह) का उपनगर, जिसमें नायकुल क्षत्रिय रहते थे। जैन तीर्थंकर महावीर इसी क्षत्रिय जाति के थे।' दे, वही, पृ. 102।

5. रायचौधरी, वही, पृ. 74। देखो वारन्यूट, वही, प्रस्ता. पृ. 6; हरनोली, वही और वही स्थान।

6. लाहा, वि. च., वही, पृ. 124-125।

7. देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 31; लाहा, वि. च., वही, पृ. 123।

8. देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 256।

व्यापार से दूर रहते थे ।¹ उदाहरणार्थ सूत्रकृतांग कहता है कि 'प्राणि नात्र की अनुकंपा करने के लिए दृष्टा, ज्ञातृपुत्रगण, सब पापमय प्रवृत्तियों से दूर रहते हैं । इसी भय से वे खास उसके लिए बनाया हुआ भोजन भी स्वीकार नहीं करते हैं । जीवित प्राणियों को पीड़ा पहुंचने के डर से वे दुष्ट कामों से दूर रहते हैं, किसी जीव को दुःख या पीड़ा नहीं करते हैं, इसीलिए वे ऐसा आहार भी नहीं करते हैं । हमारे धर्म के साधुओं यही का आचार है ।'²

उवासगदसाओं से हम यह जानते हैं कि ज्ञात्रिकों का अपनी राजधानी कोल्लाग की बाहर द्विपलास नाम का चैत्य था ।³ डा. हरनोली चैत्य शब्द का अर्थ 'जैन मन्दिर अथवा पवित्र स्थान' करते हैं, परन्तु सामान्यतया इससे वह समस्त बड़ा ही समझा जाता है कि जिसमें उद्यान, वनसंड या वनखण्ड, मन्दिर और उसके पुजारी की कुटि आदि सब होते हैं ।⁴ जब हम यह जानते हैं कि शिष्यों सहित महावीर के कुण्डपुर या वैशाली में समय समय पर आगमन के समय ठहरने को स्थान रखना पार्श्वनाथ के अनुयायी होने से ज्ञातृकों को आवश्यक था तो चैत्य का उपर्युक्त व्यापक अर्थ एकदम समीचीन ही लगता है । और इस अर्थ के समीचीन होने का इससे भी समर्थन हो जाता है कि दीक्षित होने के पश्चात् महावीर अपनी जन्मभूमि में जब भी आए, उनसे इसी चैत्य में निवास किया था ।⁵

ज्ञातृकों और उनके कुलकिरीट महावीर प्ररूपित धर्म के प्रति उनके बहुमान के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा । 'फिर भी हम यह बता देना चाहते हैं।' डा. लाहा कहता है कि, 'वे महावीर ही थे जिनसे ज्ञातृकों का पूर्वी-भारत की पड़ोसी जातियों से निकटतम संसर्ग कराया था और ऐसे धर्म का विकास किया था कि जो आज भी लाखों भारतीय मानते पालते हैं । इसी ज्ञातृक जाति का दूसरा नर-रत्न आनन्द था जो कि महावीर का एक निष्ठ अनुयायी था । जैन कल्पसूत्र उवासगदसाओं में कहा गया है कि उसके पास चार करोड़ मानवों की निधी थी । फिर यह भी कहा गया है कि वह ऐसा महान् था कि अनेक राजा, महाराजा और उनके अधिकारी से लेकर व्यापारी तक भी उससे अनेक बातों की सलाह किया और लिया करते थे । उसके शिवनन्दा नाम की पतिव्रता भार्या थी ।'⁶

अब वज्जियों का हम विचार करें । हम देखते हैं कि लिच्छवियों और वज्जियों के बीच में भेद करना अत्यन्त ही कठिन है । वे भी 'वैशाली के साथ जो कि लिच्छवियों की राजधानी में ही नहीं थी, अपितु ममस्त घनपद की महानगरी भी थी, बहुत सम्पर्क में थे ।'⁷ डा. लाहा के अनुसार लिच्छवी और अधिक व्यापक अर्थ में कहें तो वज्जि वृद्ध धार्मिक भावना और गहरी भक्ति से प्रेरित मालूम होते हैं । मगध देश और वज्जि भूमि में

1. लाहा, वि. च., वही, पृ. 122 ।

2. याकोबी, वही, पृ. 416 । डा. याकोबी ने यहां टिप्पण दिया है कि ज्ञातृपुत्र शब्द यहां जैनों के लिए पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त हुआ है । देखो वही ।

3. देखो हरनोली, वही, भाग 1, पृ. 2 । 4. हरनोली, वही, भाग 2, पृ. 2 टिप्पण 4 ।

5. देखो वही, भाग 1, पृ. 6; भाग 2, पृ. 9 । कल्पसूत्र में हमें दुइपलास चेइय का नाम नहीं मिलता है यद्यपि नायकुल के साण्डवन उद्यान का नाम वहां मिलता है । कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका सूत्र 115, पृ. 95 । देखो याकोबी, सेवुई, पुस्त. 22, पृ. 257; हरनोली, वही, पृ. 4-5; श्रीमती स्टीवन्सन वही, पृ. 31 ।

6. लाहा, वि. च., वही, पृ. 125 । देखो हरनोली, वही, पृ. 7-9 ।

7. रायचौधरी, वही, पृ. 74-75 ।

महावीर के अपने धर्म-सिद्धान्त का विकास साध कर सर्व जीवों के प्रति असीम दयाधर्म का प्रचार करने के पश्चात् उनके अनुयायियों में लिच्छवी ही बहुत बड़ी संख्या में थे और बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार वैशाली के उच्चपदस्थ व्यक्तियों में से भी कुछ उन अनुयायियों में थे।¹

इस प्रकार विदेही, लिच्छवी, वज्जि, और जातुक जैनधर्म के साथ कैसे सम्बन्ध थे यह हमने संक्षेप में देखा। ऐसा मालूम होता है कि वज्जि अथवा लिच्छवी का राज-मण्डल महावीर के संस्कारित धर्म को शक्तिप्रद था। मल्लिकों का विचार करने पर मालूम होता है कि उनकी भी महान् तीर्थंकर महावीर और उनके सिद्धान्त के प्रति अपूर्व लग्न थी और बहुत मान था।

मल्लों का देश सोलह महाजनपदों-महान् देशों में का एक कहा जाता है। और यह बौद्ध एवम् जैन दोनों ही स्वीकार करते हैं।² महावीर के समय में मल्ल दो भागों में विभक्त दीखते हैं। एक की राजधानी पावा और दूसरे की कुसीनारा थी।³ दोनों राजधानियाँ एक दूसरे से थोड़ी सी दूरी पर ही थीं और वे जैनों एवम् बौद्धों के तीर्थरूप में आज तक प्रसिद्ध हैं क्योंकि दोनों के धर्म संस्थापकों का निर्वाण वहाँ हुआ था। हम देख ही आए हैं कि महावीर का पावा में निर्वाण जब हुआ वे “हस्तिपाल राजा की लेखनशाला (रज्जुगशाला) में ठहरे हुए थे। और पादरी स्टीवन्सन के कल्पसूत्रानुसार जब कि वे पावा के राजा हस्तिपाल के महल में पर्युषणा बिता रहे थे। आज वहाँ उनके निर्वाण-स्मारक रूप में चार सुन्दर मन्दिर बने हुए हैं।”⁴

मल्लों का जैनों के साथ सम्बन्ध यद्यपि लिच्छवियों जितना निकट का नहीं कहा जा सकता है फिर भी वह इतना तो गहरा मालूम होता ही है कि जिससे उन्हें अपने धर्म-प्रचार में उनसे सहाय्यता प्राप्त होती रही थी। डॉ. लाहा के अनुसार इस बात के प्रचुर प्रमाण हमें बौद्ध साहित्य से प्राप्त हैं। वह कहता है कि “पूर्व-भारत की अन्य जातियाँ जैसे कि मल्ल जाति में भी जैनधर्म के अनेक अनुयायी मिलते हैं। महावीर के निर्वाण पश्चात् जैनसंघ में पड़ी फूट के विषय में बौद्ध साहित्य में वर्णित बातें इसको प्रमाणित करती हैं। महान् तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् पावा में निगंठ नातपुत्र के अनुयायी पृथक हो गए थे।⁵ इन अनुयायियों में साधू व नातपुत्र अनुयायी श्रावक दोनों ही थे क्योंकि हमें लिखा मिलता है कि” साधुओं की इस फूट के कारण, श्वेतवस्त्रधारियों के गृहस्थ अनुयायियों को भी निगठों के प्रति तिरस्कार, क्रोध और विराग हुआ था। ये गृहस्थ-उपासक, उक्त अवतरण से पता लगता है कि, उसी प्रकार के श्वेत-वस्त्रधारी थे जैसे कि आज के श्वेताम्बर साधू हैं। बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्य सारिपुत्र ने महावीर के निर्वाण पश्चात् उनके अनुयायियों में हुई इस फूट का अपने धर्म प्रचार

1. लाहा, वि. च., वही, पृ. 67, 73 । 2. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 59-60 ।
3. देखो लाहा, वि. च., वही, पृ. 147; रायचौधरी, वही, पृ. 79; हिंस डेविड्स कैहिंद, भा. 1, पृ. 175 “कनिधम ने मनसे आधुनिक थडराना को पावा या पापा कह दिया है जहाँ कि बुद्ध ने चुण्ड के घर भोजन किया था। प्राचीन पापा या अपापापुरी का आधुनिक नाम पावापुरी है और यह बिहार नगर के पूर्व में सात मील पर है। यहाँ महावीर का निर्वाण हुआ था।” —दे, वही, पृ. 148, 155 । कुसीनारा या कुसीनगर वह स्थान है जहाँ बुद्ध का निर्वाण ई. पूर्व 477 में हुआ था। प्रो. विल्सन और अन्य विद्वानों ने आधुनिक गांव कासिया को ही जो कि गोरखपुर जिले के पूर्व में है, कुसीनारा बताया है। इसको प्राचीन काल में कुशवती भी कहते थे। देखो रायचौधरी वही और वही स्थान लाहा, वि. च., वही, पृ. 147-148; दे, वही, पृ. 111 ।
4. वही, पृ. 148 । देखो व्हूलर, वही, पृ. 27, पादरी स्टीवन्सन, कल्पसूत्र, पृ. 91 ।
5. देखो व्हूलर, वही और वही स्थान ।

के लिए लाभ उठाया दीखता है पासादिक सूतान्त में कहा गया है कि पावा आने वाले चुण्ड ने ही मल्ल देश के सामगम के आनन्द को तीर्थंकर महावीर के निर्वाण होने का समाचार दिया था और इस आनन्द को इस समाचार का महत्व तुरन्त ही समझ में आ गया और इसलिए उसने कहा, "हे मित्र चुण्ड । इस महत्वपूर्ण संवाद को भगवान् बुद्ध के पास ले जाने की आवश्यकता है । इसलिए चलो हम ही यह समाचार उन्हें जा सुनाएं । वे जीघ्र ही बुद्ध के पास पहुंच गए जिनने उन्हें तब एक लम्बा प्रवचन दिया ।"¹

फिर जैन साहित्य से भी हम जानते हैं कि जैनों के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के प्रति मल्ल लोगों की परम श्रद्धा-भक्ति थी । जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है । कल्पसूत्र के अनुसार महान् तीर्थंकर के निर्वाण दिवस का उत्सव मनाने के लिए नौ लिच्छवियों के साथ नौ मल्लिक सरदार भी थे । इन सब ने उस दिन उपवास व्रत किया था और जब 'ज्ञान का दीपक बुझ गया है तब द्रव्य दीपकों का प्रकाश करें' ऐसा कहते सब ने दीपोत्सव किया था ।² फिर जैनों के आठवें अंगग्रन्थ 'अंतगडदसाग्रो' में उग्र, भोग, क्षत्रिय, और लिच्छवियों के साथ मल्लिकों का भी उल्लेख किया गया है । जैनों के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अथवा अरिष्टनेमि बारवाई (द्वारका) नहर में गए तब मल्ल भी उपर्युक्त सब लोगों के साथ उनका स्वागत और दर्शन करने गए थे ।³

अब कासी-कोसल के अठारह गण राज्यों का विचार करें । यहां हम देखते हैं कि वे भी लिच्छवियों और मल्लिकों की भांति ही महावीर के भक्त थे । इनने भी महावीर के निर्वाण दिवस पर उपवास किया हुआ था और दीपोत्सव भी किया था ।⁴ फिर यह भी हम देख चुके हैं कि जैन साहित्य में ऐसा भी उल्लेख है कि राजा कृष्णिक ने जब उनके विरुद्ध युद्ध घोषित किया तब राजा चेटक ने मल्ल सरदारों के साथ अठारह कासी-कोसल के गण-राजों को भी अपनी सहायता के लिए निमंत्रित किया था ।

कासी-कोसल जनपद का विचार करने पर हम देखते हैं कि कासी की प्रजा विदेह और कोसल की प्रजा के साथ शत्रु और मित्र दोनों ही प्रकार के सम्पर्क में आयी थी ।⁵ 'सोलह महाजनपदों में से कासी प्रथमतया सम्भवतः अत्यन्त समृद्ध था,' और यह बात बौद्ध एवम् जैन दोनों ही स्वीकार करते हैं ।⁶ पार्श्वनाथ के काल में जैन इतिहास में इसकी महत्ता का विचार पहले ही किया जा चुका है । फिर महावीर भी साधू जीवन में कासी गए थे ।⁷ यहां यह भी सूचन कर देना उचित है कि अंतगडदसाग्रों में वाराणसी के एक राजा अलक्खे का उल्लेख किया गया है कि जिसने भगवती दीक्षा ली थी ।⁸

अन्त में हम कोसल का विचार करें । कासी की भांति ही यह भी सोलह व्यापक एवं समृद्ध जनपदों में का एक था और जैन एवं बौद्ध दोनों ही साहित्य में इसका वर्णन है ।⁹ भौगोलिक दृष्टि से कोसल आज के अवध प्रांत से मिलता है और उसमें अयोध्या, साकेत और सावस्थी या श्रावस्ती नाम के तीन बड़े नगर होने को कहा गया है ।¹⁰ इसमें के 'कोसल की राजधानी'¹¹ श्रावस्ती में महावीर एक से अधिक बार गए थे और वहां उनका

1. लाहा, वि. च. वही, पृ. 153-154 । देखो डायलोम्स आफ दी बुद्धा, भाग 3, पृ. 203 आदि, 203, 212 ।

2. याकोधी, वही, पृ. 206 । 3. वारन्यैट, वही, पृ. 36 ।

4. देखो कल्पसूत्र, सुबोध टीका, सूत्र 128, पृ. 121 । 5. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 44 ।

6. वही, पृ. 59-60 । 7. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 221; कल्पसूत्र, सुबोध टीका सू. 106 ।

8. वारन्यैट, वही, पृ. 96 । 9. रायचौधरी, वही और वही स्थान । 10. वही, पृ. 62-63 ।

11. प्रभान, वही, पृ. 214 । 'सावस्थी राष्ट्री नदी के दक्षिणी तट पर एक बड़ा विध्वंस नगर है जो आजकल सहेथ-महेथ कहलाता है और उत्तर-प्रदेश के बेहराइव और गोंडा जिले की सीमाओं पर स्थित है ।' देखो राय-चौधरी, वही, पृ. 63 । देखो दे, वही, पृ. 189-190 ।

भारी सम्मान हुआ था ।¹ दन्तकथा के अनुसार श्रावस्ती अथवा चन्द्रपुरी या चन्द्रिकापुरी जैनों के तीमरे तीर्थ-कर श्री सम्भवनाथ और आठवें श्री चन्द्रप्रभु की जन्मभूमि कही जाती है । आज भी वहाँ शोभानाथ का एक मन्दिर है जो सम्भवनाथ का अपभ्रंश नाम ही मालूम देता है ।²

भिन्न भिन्न प्रमाणों से हमें मालूम होता है कि कोसल और शिशुनाग वैवाहिक सम्बन्ध से जुड़े हुए थे । महाकोमल की पुत्री कोमलदेवी महावीर के मुख्य श्राविका चेल्लणा की साथ श्रेणिक की पत्नियों में से एक थी ।³ फिर कितनी ही बुद्ध दन्तकथाओं से हमें यह सूचना मिलती है कि महाकोसल का पुत्र गिगर या मृगधर सावत्थी के प्रसेनजित का मुख्य अमात्य था और वह नास्तिक और निग्रन्थि साधुओं का एक निष्ठा भक्त था ।⁴

2

उपरोक्त सारा विवेचन यह सिद्ध कर देता है कि प्रायः सभी प्रमुख सोलह महाजन पद एक या दूसरी रीति से जैनधर्म के प्रभाव में आ गए थे ।⁵ सोलह महाशक्तियों में से मगध के त्रिपय में अभी तक हमने कुछ भी नहीं विचार किया है । इसका कारण यह नहीं था कि मगध का विचार अन्य महाशक्तियों के साथ ही साथ नहीं किया जा सकता था, परन्तु यह कि प्राचीन भारत का यह प्राक्नार्मन वैस्यैक्स परवर्ती जैन ऐतिहासिक चर्चा का केन्द्र होने का था ।

डॉ० रायचौधरी कहता है कि "सोलह महाजनपदों में से प्रत्येक का समृद्धि समय ई. पूर्व छठी सदी में या उसके लगभग समाप्त हो जाता है । उसके परवर्ती काल का इतिहास इन छोटे जनपदों के अनेक शक्तिशाली साम्राज्यों द्वारा निगल जाने एवम् अन्त में उन साम्राज्यों के भी मगध के महासाम्राज्य में समा जाने का ही है ।⁶ हमें इस विवरण में सीधे उतरने की आवश्यकता नहीं है कि "प्राचीन भारत के इस एक महासाम्राज्य" ने आधुनिक जरमनी के इतिहास में प्रशिया जैसा भाग कैसे अदा किया था । हमारा इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इस साम्राज्य पर जिन भिन्न-भिन्न राज्यवंशों ने राज्य किया वे सब जैनधर्म के साथ कैसा सम्बन्ध रखते थे । शैशुनाग, नंद और मौर्यों से प्रारम्भ कर हम खारवेल के समय तक पहुंचेंगे और देखेंगे कि उत्तरीय जैनों के इतिहास की विशिष्ट मर्यादा बांधने का अद्वितीय मान अशोक की भांति ही महामेघवाहन खारवेल के हिस्से में आता है ।

1. भगवं...सावत्थी...लोगो...वदे ॥ आवश्यकसूत्र, पृ. 221 । देखो वही, पृ. 204, 214 । कल्पसूत्र, मुबोधिका-टीका, पृ. 103, 105, 106; वारन्यट, वही, पृ. 93; याकोबी, वही, पृ. 264 ।
2. दे. वही, पृ. 109 । 'श्रावस्ती ही बौद्धों का सावत्थी या सावत्थीपुर और जैनों चन्द्रपुर या चन्द्रिकापुर है ।' वही, पृ. 189 । 3. देखो प्रधान, वही, पृ. 213; रायचौधरी, वही, पृ. 99 ।
4. देखो हरनोली, वही, परिशिष्ट 3, पृ. 56-57; राकहिल, वही, पृ. 70-71; रात्मटन, शीफनसंतिवेटन-टेलम, सं. 7, पृ. 110; प्रधान, वही, पृ. 215 ।
5. सोलह महाजनपदों के नाम बौद्ध परम्परा के अनुसार इस प्रकार हैं—कासी, कोसल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेतिय (चेटि), वंश (वत्स), कुह, पांचाल, मच्छ (मत्स्य), सूरसेन, आस्तक, अवंती, गंधार, और कंबोज । जैनों के भगवतीसूत्र में इनकी सूची इस प्रकार दी है—अंग, बंग, मगह (मगध), मलय, मालव, अच्छ, वच्छ (वत्स), कोच्छ (कच्छ ?), पाठ (पाण्ड्य), लाड (राड), बज्जि (वज्जि), मोली, कासी, कोसल, अरवह, सम्भुत्तर (सम्भोत्तर ?) । डॉ० रायचौधरी ने इस सूचियों पर इस प्रकार टिप्पण किया है—"यह देख पड़ता है कि अंग, मगध, वत्स, वज्जि, कासी और कोसल दोनों सूचियों में समान रूप में हैं । भगवती का मानव कदाचित् अंगुत्तर का अवन्ती ही है । मौली संभवतया मल्लों का अपभ्रंश है । —"रायचौधरी, वही, 59-60 । वही, पृ. 97-98; देखो लाहा, बि. च., वही, पृ. 161 ।

मगध के सत्तावाही विशेष राज्यवंशों का विचार करने के पूर्व जैन इतिहास की दृष्टि से मगध की ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्ता के सम्बन्ध में कुछ कहना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा। आज के बिहार प्रान्त के पटना और गया जिलों के ही लगभग समान वह मगध था। उसकी प्राचीन राजधानी गया के पास की राजगिर टेकरियों में आई गिरिव्रज अथवा प्राचीन राजगृह थी।¹ यह राजधानी पांच टेकरियों से सुरक्षित होने के कारण अजेय गिनी जाती थी। “उसकी उत्तर में वैमारगिरी और विपुलगिरी (पहली पश्चिम, और दूसरी पूर्व ओर), पूर्व में विपुलगिरी और रत्नगिरि या रत्नकूट; पश्चिम में वैमारगिरि का चक्र नामक विभाग और रत्नाचल; और दक्षिण में उदयगिरि सोनगिरि और गिरिव्रजगिरि आए हुए हैं।”² ये सब टेकरियां आज भी जैन इतिहास में महत्व की हैं। वैमार, विपुल, उदय और सोनगिरी पर महावीर, पार्श्व और अन्य तीर्थंकरों के मन्दिर हैं।³

आगे हम देखेंगे कि महावीर केवल स्वतन्त्र उपदेशक ही नहीं थे, परन्तु अपने महान् धर्मप्रचार के लिए राज्य का प्रत्यक्ष आश्रय और सहानुभूति पा कर राजगृह और उसके मोहल्ले नालन्दा⁵ में उनसे चौदह चतुर्मास बिताए थे।⁴ कल्पसूत्र का यह उल्लेख मगध के साथ महावीर के वैयक्तिक सम्बन्ध का प्रत्यक्ष प्रमाण है। फिर उसमें दी गई स्थविरावली से हम जानते हैं कि उनके ग्यारह गणधर भी अनशनरूप की लम्बी और महान् तपश्चर्या के पश्चात् यहां ही निर्वाण प्राप्त हुए थे।⁶

अब मगध पर राज्य करनेवाले भिन्न भिन्न राज्यवंशों का हम विचार करें। इसका प्रारम्भ हम शैशुनाग वंशीय बिबसार से ही करेंगे। परन्तु ऐसा करने के पूर्व उस कड़ी की खोज करना भी आवश्यक है कि महावीर के पुरोगामी के युग के जैनधर्म और मगध में भी कोई सम्बन्ध था या नहीं। ‘जैन लेखकों ने समुद्रविजय और उसके पुत्र जय का राजगृह के राजों के रूप में वर्णन किया है।’⁷ इन में से जय जो कि ग्यारहवां चक्रवर्ती कहा गया है, ने उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार हजारों अन्य राजों के साथ सत्ता त्याग कर संयम आराधना की थी और अन्त में वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया था।⁸

जैन इतिवृत्तों की ऐसी अद्विष्ट बातों को एक ओर रखकर हम ज्ञात ऐतिहासिक एवं अन्य तथ्यों की ही यहां जैन उल्लेखों के साथ परीक्षा करेंगे। शैशुनाग वंशी बिबसार के विषय में हम देखते हैं कि जैन ग्रन्थों में इस

1. यह किन्हीं अन्य नामों से भी प्रख्यात है। जैसे कि “दी लाइफ ऑफ हुएनत्सांग” में लिखा है कि “राजगृह का प्राचीन नगर वह है जो कि उ-शे-की-ला-पो-लो (कुशाग्रपुर) कहलाता है। यह नगर मगध के केन्द्र में है और प्राचीन काल में अनेक राजा और महाराजा उसमें निवास करते थे।” —बील, लाइफ ऑफ हुएनत्सांग, पृ. 113। देखो कनिंघम, वही, पृ. 529। भारतीय बौद्ध-लेखकों ने इसका एक और भी नाम ‘बिबसारपुरी’ भी दिया है। देखो लाहा, वि. च., बुद्धघोष, पृ. 87, टि. 1; रायचौधरी वही, पृ. 70।
2. दे, वही, पृ. 66। देखो कनिंघम, वही, पृ. 530। 3. वही, पृ. 530-532।
4. नालन्दा आज का बारगांव ही था जो कि पटना जिले में राजगिर के उत्तर-पश्चिम में सात मील पर है। इसमें महावीर का एक रमणीय मन्दिर भी है और इसी मन्दिर के स्थान पर ही सम्भवतया महावीर नालन्दा में आकर रहे थे। पश्चात्तर में बुद्ध पावरिका आम्रकुंज में ठहरे थे। —दे, वही, पृ. 137।
5. देखो याकोबी, वही और वही स्थान।
6. वही, पृ. 287। 7. रायचौधरी, वही, पृ. 72; देखो याकोबी सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 86।
8. अग्निओ रायसहस्सेहि सुपरिनचई दमं चरे। जयनामो जिणकवायं पत्तो गइमणुत्तर ॥ —उत्तराध्ययन, अध्ययन 18, गाथा 43। देखो याकोबी, वही, पृ. 85-87; रायचौधरी, वही और वही स्थान।

‘रायसिंह’¹ के इतने अधिक उल्लेख हैं कि उनको देखते हुए इसमें इन्कार किया ही नहीं जा सकता है कि वह नातपुत्र और उनके धर्म का अनन्य और नैष्ठिक अनुयायी था। फिर भी उसमें की अनेक बातों की सूक्ष्म परीक्षा करने के पूर्व अन्य आधारों से यह पता लगाना आवश्यक और उपयोगी होगा कि शैशुनाग-काल में मगध साम्राज्य का बल कितना था क्योंकि धर्म की उत्पत्ति, अन्ततः तो, जनता और राज्याश्रय पर ही बहुत कुछ आधार रखती है।

इसके लिए हमें मगध साम्राज्य के विस्तार के लिए शैशुनाग राजों के किए युद्धों और राजनैतिक दावपेचों के विवरण में जाना जरा भी आवश्यक नहीं है; हमें तो कौन महाजनपद स्पष्ट रूप से हार गए थे अथवा किनन परोक्षतः मगध का अधिपत्य स्वीकार कर लिया था, इतना ही जानना उपयोगी है।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में बिंबसार के समय की भारतवर्ष की राजकीय परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। डॉ. हिस डेविड्स लिखता है कि छोटे-छोटे अनेक वच रहे आभिजातिक गणतन्त्रों के अतिरिक्त चार अधिक व्यापक और सत्ता सम्पन्न गणतन्त्र थे।² इनके मित्ता भी छोटे-छोटे अनेक गणतन्त्र और कुछ अनार्य राज्य भी थे। हम यह तो पहले ही देख आए हैं कि स्वतन्त्र गणतन्त्रों में वैशाली के वज्जि और कुसीनारा एवम् पावा के मूल अति महत्व के थे। फिर भी उस समय के राजकीय इतिहास में न तो ये गणतन्त्र और न अन्य राज्य इतने अधिक महत्व के थे जितने कि प्रसेनजित, उदायन, प्रद्योत और बिंबमार शासित क्रमशः कोसल, वत्स, अवन्ती और मगध के चार बड़े राज्य थे।³

इतने के मगध साम्राज्य के वास्तविक संस्थापक बिंबसार अथवा श्रेणिक ने प्रभावशाली पड़ोसी राज्यों में लगन सम्बन्ध जोड़कर अपनी सत्ता खूब ही दृढ़ कर ली थी। उसमें का एक सम्बन्ध तो उसने वैशाली के प्रभाविक लिच्छवियों के साथ और दूसरा कोसल राजवंश के साथ जोड़ा था। कोसल की रानी के दहेज में उसे कासी जिले का एक लाख की आर्य का एक गांव स्नान-सिंघार व्यय के लिए ही दिया गया था।⁴ इन दोनों लगन सम्बन्धों का उल्लेख पहले किया ही जा चुका है, फिर भी यहां इतना और कहना आवश्यक है कि ये दोनों ही राजकीय दृष्टि से महत्व के थे क्योंकि उनके द्वारा मगध के उत्तर और पश्चिम में विस्तार का मार्ग उन्मुक्त हो गया था। इस दीर्घदर्शी राजनीति से उत्तर पश्चिम के राज्यों का वैर दूर कर बिंबसार को अंग देश की राजधानी चंपा को जीतने का अपना लक्ष अबाधित रूप से बनाने का अवसर मिल गया कि जिसे जैसा कि हम देख आए हैं, कुछ वर्ष पूर्व ही कोसाम्बी के राजा शतानीक ने जीत कर ध्वंस कर दिया था। अंग को विजय कर बिंबसार ने खालसा कर दिया याने अपने राज्य में ही उसे मिला लिया। अंग के मगध में मिला लिये जाने के दिन से ही मगध की महत्ता और भव्यता प्रारम्भ होती है।⁵ जैन साहित्य भी इसका समर्थन करता है क्योंकि वह सूचित करता है कि अंग का शासन पृथक प्रदेश रूप से किया जाता था और उसका शासक था मगध का राजकुमार कुणिक और उसकी राजधानी थी चम्पा।⁶

डॉ. रायचौधरी कहता है कि “इस प्रकार बिंबसार ने अंग और कासी का एक भाग अपने साम्राज्य में जोड़

1. ...रायसिंहो...-उत्तराध्ययन, अध्यायन 20 गाथा 58 ।
2. हिस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 1 । 3. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 116, 120 ।
4. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 124, प्रधान, वही, पृ. 214 ।
5. देखो स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 33 ।
6. चम्पायी कृणिका राजा वभूव...भगवती, सूत्र 300, पृ. 16 । देखो दे, बंगो, पत्रिका 1914, पृ. 322; हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 4, श्लो. 7, 9; रायचौधरी, वही, पृ. 125; औपपातिकसूत्र, सूत्र 6 ।

कर विजय और उत्कर्ष द्वारा उभका याने मगध का विस्तार इतना बढ़ाया कि वह अशोक के कलिग विजय कर अपनी तलवार म्यान में रखने पर ही रुका था। महावग्ग में कहा गया है कि विवसार का साम्राज्य 80 000 नगरों का था जहाँ के गामिका याने रक्षक लोग एक महासभा में मिला करते थे।¹

श्रेणिक के अनुगामी अजातशत्रु याने कृणिके के काल में मगध साम्राज्य की सत्ता उन्नति के शिखर पर पहुँच गई थी। उमने कोसल को भी नमा लिया था और कासी को अपने सामाज्य में मिला लिया था, इतना ही नहीं अपितु, जैनों के अनुसार, उसने वैशाली के राज्य को भी मगध के साम्राज्य में जोड़ लिया था।² कोसल के साथ हुए युद्ध के फल स्वरूप, अपने पिता की ही भांति अजातशत्रु को भी कोसल की राजकन्या, प्रसेनजित की पुत्री वजिरा से विवाह हो गया था और उसके दहेज में कासी जिले का शेष भाग भी मिल गया था। इस प्रकार उसने अपने पड़ोसी कोसल राज्य में सम्भवतया वास्तविक प्रभावकता प्राप्त कर ली थी। चूँकि स्वतन्त्र सत्ता से रूप में इस कोसल का परवर्ती काल में वर्णन नहीं मिलता है इससे यह निश्चय सा ही है कि वह मगध साम्राज्य का ही एक संपूरक अंग बन गया होगा।³ कुछ भी हो, वैशाली और मल्लकी आदि उसके मित्र राज्यों पर की कृणिक की विजयों कि जिसमें कासी कोसल भी आ गए थे, मगध साम्राज्य के विस्तार की दृष्टि से पूर्ण निर्णयात्मक और अत्यन्त फलप्रद रही थी।⁴

डॉ. स्मिथ कहता है कि “यह माना जा सकता है कि विजेता ने पर्वत की तलेटी रूप स्वाभाविक सीमा तक अपना हाथ लम्बा फैला दिया होगा। और फलस्वरूप गंगा और हिमालय के बीच का समग्र देश कमोवेश अंग में मगध की सीधी सत्ता के नीचे आ गया होगा।”⁵ पहले से ही उनको मगध साम्राज्य के विस्तार में रुकावट डालने वाले लिच्छवी प्रतीत हुए होंगे और इसी लिए हम उसे यह इङ्ग निश्चय करता हुआ देखते हैं कि “मैं इन वज्जियों को चाहे जितने ही बली ये क्यों न हों फिर भी जड़मूल से उखाड़ दूँगा। मैं इन वज्जियों को नष्ट करूँगा। मैं इन वज्जियों का सर्वनाश करूँगा।”⁶ इस प्रकार कोसल, लिच्छवी और वज्जियों के साथ के

1. रायचौधरी, वही, पृ. वही। देखो प्रधान, वही, पृ. 213-214।
2. वज्जी विदेहपुत्रो बहस्था, नवमल्लई नवलेच्छई कामीकोसलगा अट्टारसवि गणरायाणो पराजहत्था ॥ भगवती, सूत्र 300, पृ. 315। देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 684; हेमचन्द्र, त्रिपिट-शलाका, पर्व 10, श्लो 29 पृ. 168; रायचौधरी, वही, पृ. 126-127।
3. देखो स्मिथ, वही, पृ. 37; रायचौधरी, वही, पृ. 67; प्रधान, वही, पृ. 215।
4. भगवती में उल्लेख है कि वैशाली के युद्ध में अजातशत्रु ने महाशिलास्कंदक और रथमूशल का प्रयोग किया था। पहला यन्त्रचालित प्रक्षेपणास्त्र था और वह बड़ी-बड़ी पाषाण खण्ड शत्रुओं पर फेंकता था। दूसरा रक्षास्त्र था जिसमें मूशल लगा रहता था और जब रथ इधर से उधर दौड़ता तो वह मूशल यौद्धा सैनिकों को घराशायी कर देता था। इनके विस्तृत विवरण के लिए देखो भगवती, सूत्र 300, 301, पृ. 316, 319। देखो हरनोली, वही, परिशिष्ट 2, पृ. 59-60; रायचौधरी, वही, पृ. 129; टानी, कथाकोश, पृ. 179।
5. स्मिथ, वही और वही पृष्ठ। कृणिक-अजातशत्रु ने लिच्छवियों, मल्लकियों और कामी-कोसल के अट्टारह महाजनपदों से सोलह पर्वतक चलते रहनेवालों से युद्ध करता रहा था और अंत में वह इनका नाश करने में सफल हो गया था जैसा कि उसने निश्चय किया था हालांकि उसका युद्धोद्देश अवरूद्ध था। प्रधान, वही, पृ. 215-216। देखो हरनोली, वही परिशिष्ट 1, पृ. 7।
6. सेबुई, पुस्त. 11, पृ. 1, 2। देखो लाहा, बि. च., सम क्षत्रिय ट्राइब्स ऑफ एशेंट इण्डिया, पृ. 111 मगध और वैशाली के वैमनस्य के विस्तृत विवरण के लिए देखो, वही, पृ. 11-16।

उसके युद्ध आक्रमिक नहीं अपितु वे मगध साम्राज्य के विस्तार की सामान्य योजना के ही परिणाम थे ।

इन युद्धों के फलस्वरूप वैशाली, विदेह, कासी और अन्य राज्यों को मिला कर मगध के महत्वाकांक्षी राजा को उतने ही महत्वाकांक्षी अवंती के राजा प्रद्योत के विरुद्ध होना पड़ा था । हम जानते ही हैं कि अवंती का मिहासन इस समय चण्ड प्रद्योत महासेन सुशोभित कर रहा था । पड़ोसी राज्य उससे भयाक्रान्त थे, इसका समर्थन मज्जमनिकाय के एक वक्तव्य से भी होता है, जो कहता है कि अजातशत्रु ने राजगृह में मोर्चाबन्दी इसलिए कराई थी कि उसे प्रद्योत द्वारा अपने साम्राज्य पर आक्रमण का भय था ।¹ यह अशक्य भी नहीं था क्योंकि अंग एवम् वैशाली के पतन और कोसल के पराभव के पश्चात् अवंती ही मगध का प्रमुख प्रतिद्वन्दी रह गया था ।

इस प्रकार कृष्णिक के समय में पूर्व-भारत के प्रायः सब गणतन्त्र और राज्य मगध में मिला लिये गए थे । उसके पुत्र और अनुगामी उदायिन के काल में, जैन कथानकों के अनुसार मगध और अवंति परस्पर विरोध में आमने सामने आ गए थे ।² स्थविरावली चरित और अन्य जैन ग्रन्थों से हमें मालूम होता है कि उदायिन भी एक अचञ्छा शक्तिशाली राजा था । उसने एक राज्य के राजा को युद्ध में मार और हरा दिया था और इस राजा का पुत्र उज्जयिनी चला गया था और वहाँ उसने अपनी दुःखद गाथा कह सुनाई एवं राजा की सेवा भी स्वीकार करनी । अन्त में इन प्रदध्रष्ट कुमार ने अवंतीपति की कृपा प्राप्त कर ही ली यही नहीं पर उनकी सहायता प्राप्त कर, जैन माधु के वेश में, उसने उदायिन की जब कि वह सोया हुआ था एक दिन हत्या कर ही दी । यह दन्त-कथा, अधिक नहीं तो इतना तो प्रकाश डालती ही है कि अवंती और मगध के बीच में प्रतिद्वन्द्वता के भाव सजग थे और दोनों ही उत्तर-भारत में सार्वभौम सत्ता प्राप्त करने के पूर्ण अभिलाषी थे ।³

फिर अवंतीपति की समान आक्रामक नीति से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कलह का कारण उत्तर-भारत की सार्वभौमता ही था । कथासरित्सागर और अन्य जैन दन्तकथाओं से मालूम होता है कि इस समय कोसाम्बी राज्य भी प्रद्योत के पुत्र⁴ अवंतीपति पालक⁵ के राज्य में मिला लिया गया था । इस प्रकार अजातशत्रु के समय में प्रारंभ हुआ अवंती-मगध का यह कलह उदायिन के राज्य में भी चल रहा था । इस कलह का अन्त शैशुनाग के नेतृत्व में मगध के लाभ में हुआ कि जिसने, पुराणों के अनुसार, प्रद्योत के उत्तराधिकारी वंशजों के प्रभाव और प्रतिष्ठा को नष्ट कर दिया था,⁶ हालांकि जैन कथानकों के अनुसार उदायिन के हाथों अवंती का बराबर पराजय ही होता रहा था ।⁷

यहां एक समस्या यह खड़ी हो जाती है कि मगध में उदायिन का उत्तराधिकारी कौन हुआ था । परन्तु हमें भारतीय इतिहास के इन विवादास्पद और अब तक भी अनिर्णीत तथ्यों को विवेचना में जाने की जरा भी आवश्यकता नहीं है । हमारे लिए तो इतना ही पुनरावर्तन कर देना पर्याप्त है कि मगध और अवंती का यह

1. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 123; प्रधान, वही, पृ. 216 ।

2. अभूदसहनो नित्यभवन्तीशोपुदायिनः - हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 6, श्लो. 191 । देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 609 । देखो प्रधान, वही, पृ. 217 ।

3. देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो. 189-190, 208; आवश्यकसूत्र, वही और वही स्थान ।

4. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 131 ।

5. उज्जयिन्यां प्रद्योतसुतौ द्वौ भ्रातरो-पालको, आदि-आवश्यकसूत्र, पृ. 699 ।

6. प्रधान, वही, पृ. 217 । देखो रायचौधरी, वही, पृ. 132 ।

7. उज्जयिनी... राजा... बहुशः प्ररिभूयते उदायिना । आवश्यकसूत्र, पृ. 690 ।

कलह अन्ततः मगध के लाभ में किसी शैशुनाग के नेतृत्व में समाप्त हो गया था कि जो शिशुनाग या नन्दिवर्धन नाम से प्रख्यात था अथवा उसका पूरा नाम, जैसा कि प्रधान कहता है. नन्दिवर्धन-शिशुनाग था।²

शैशुनागों के काल में मगध साम्राज्य के विस्तार व उत्कर्ष का परिचय प्राप्त कर लेने पर हम संक्षेप में उसका जैनधर्म के साथ सम्बन्ध अब देखें। यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि जो भी अब तक कहा गया है और आगे जो कुछ भी कहा जाने वाला है उन राजों और राजवंशों को जहां जैनी जैन और जैनधर्म के आश्रयदाता एवं सहायक कहते हैं. उन्हें बौद्ध भी अपने और अपने धर्म के लिए वैसे ही मानते हैं। भारतीय इतिहास की इस परिस्थिति के अनेक कारण हैं जिनमें विस्तार से जाना हमारे लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि ऐसा कर हम किसी ऐसे मानदण्ड का निर्णय नहीं कर सकते हैं कि हम निश्चित रूप से कह सकें कि अमुक-अमुक राजा बौद्ध धर्म मानता था और अमुक-अमुक जैनधर्म। शिलालेख और अन्य प्रामाणिक ऐतिहासिक अभिलेखों की माधी के बिना कोई भी वस्तु ऐतिहासिक तथ्य रूप से प्रस्तुत नहीं की जा सकती है और जहां धर्मशास्त्र और साहित्यिक एवम् लौकिक दन्तकथाएं ही आधार रूप हैं वहां तो शुद्ध सत्य का पता लगाना थोड़ा भी सहज नहीं है।

पहले बिबसार अथवा जैनों के श्रेणिक को ही लीजिए। उसके विषय में बौद्धों का चाहे जो भी कहना हो, फिर भी जैनों द्वारा प्रस्तुत प्रमाण उसे महावीर का भक्त सिद्ध करने को पर्याप्त हैं। उनके और उसके उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में जैनों ने इतना अधिक लिखा है कि जैनधर्म के साथ उनका सम्बन्ध बताने के लिए उनके कार्यकाल की बातों के विषय में बहुत कुछ कहना आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र कहता है कि एक समय श्रेणिक ने महावीर को यह पूछा कि “यद्यपि आप युवान है, फिर भी आपने दीक्षा ले ली है; जो अवस्था भोग विलास की है उसमें आप श्रमण हो कर कठोर जीवन बिता रहे हैं। हे महान् तपस्वी! मैं इस विषय में आपका स्पष्टीकरण सुनने को उत्सुक हूं।”³

यह सुनकर नातपुन ने एक लम्बा स्पष्टीकरण किया और राजा को उसे सुनकर इतना सन्तोष हुआ कि उसने अपने हादिक भाव इन शब्दों में व्यक्त किए “आपने मनुष्य जन्म का उत्तमोत्तम उपयोग किया है। आप एक सच्चे जैन बन गए हैं। हे महासंयमी आप मनुष्य मात्र के और अपने स्वजनों के संरक्षक हैं क्योंकि आपने जिनों का सर्वोत्तम मार्ग ग्रहण कर लिया है। आप सब अनाथों के नाथ हैं. हे महा तपस्विन्। मैं आपकी क्षमा का प्रार्थी हूं; मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे सत्य मार्ग पर झुकाएं। आपसे यह सब प्रश्न कर मैंने आपके ध्यान में खलल पहुंचाया है और मैंने आपको भोग भोगने का आमंत्रण दिया है, इस सब की मैं आपसे क्षमा मांगता हूं. आप मुझे क्षमा करें।”⁴

अन्त में उत्तराध्ययन ठीक ही संवरण करता है कि “जब रायसिंह ने इस प्रकार परम परम भक्ति से उस श्रमणसिंह की स्तुति की और तब से ही वह विशुद्ध चित्त होकर अपने अन्तः पुर की सब रानियों, दासियों, स्वजनों एवम् सकल कुटुम्बी जनों सहित जैनधर्मानुयायी बन गया था।”⁵

1. देखो प्रधान, वही, पृ. 217, 220; रायचौधरी, वही, पृ. 133-134।

2. देखो प्रधान, वही, पृ. 220; रायचौधरी, वही, पृ. 132-133।

3. याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 101। 4. वही, पृ. 107।

5. एवं युगिताण स रायसीहो अणभारसीहं परमाइ भाति। उत्तराध्ययनसूत्र अध्या. 20, गाथा 58 देखो याकोबी, वही और वही स्थान।

हम देख ही माए हैं कि बिबसार का विवाह वर्धमान के मामा चेटक की पुत्री चेल्लणा से हुआ था। अपनी साध्वी हुई कुछ भगिनियों और अपनी मुआ, तीर्थंकर की माता, त्रिशला के सम्बन्ध के कारण चेल्लणा बिबसार के परिवार में सर्वाधिक महावीर से प्रभावित हुई थी।¹ उसका यह भुक्ताव तब और भी दृष्टव्य हो जाता है जब हम जानते हैं कि बिबसार के उत्तराधिकारी अजातशत्रु के माता के रूप में, वह मगधपति की पटरानी या अग्रमहिषी भी होना चाहिए। यही कारण है कि दिव्यावदान में एक स्थान पर अजातशत्रु को वेदेहीपुत्र और दूसरे स्थान पर 'राजगृह में राजा बिबसार राज्य करता है' लिखा पाते हैं। वेदेही उसकी महादेवी याने पटरानी है और अजातशत्रु उसका पुत्र और राजकुमार।²

फिर चेल्लणा को सामान्यतः बौद्धग्रन्थों में 'वेदेही' कहा गया है और उसके कारण ही अजातशत्रु बहुधा वेदेहीपुत्रो अथवा विदेही राजकुमारी का पुत्र कहा गया है। इतने पर भी 'कुछ टीकाग्रन्थ-उदाहरणार्थ थूस और तच्छशुकर जातकों में कहा गया है कि अजातशत्रु की माता कोसल के राजा की भगिनी थी। परन्तु यहां टीकाकार बिबसार की दो रानियों के बीच कुछ भ्रम में पड़ गए दीखते हैं।³ जैनों की इस मान्यता में सन्देह करने का कोई भी कारण नहीं है कि कृष्णिक चेल्लणा के अनेक पुत्रों में से एक और ज्येष्ठ पुत्र था और वह भी, महावीर की भांति ही, वेदेहीपुत्रो उचित ही कहा जाता था।⁴

चेल्लणा और कोसलदेवी के सिवा भी बिबसार के अनेक और रानियां थीं इसका जैन एवं बौद्ध दोनों ही आचार्यों से समर्थन होता है।⁵ तदनुसार कृष्णिक, हल्ल. विहल्ल इन तीन चेल्लणा के पुत्रों के प्रतिरिक्त भी उसके अनेक पुत्र थे जिन सबके नाम दोनों ही इतिवृत्तों में मिलते हैं चाहे वे नाम आपस में मिलते हुए हों या नहीं यह बात दूसरी है।⁶ श्रेणिके के इन पुत्रों और रानियों के विषय में जैनों का कहना है कि अघिकांश ने महावीर भगवान् से दीक्षा ले ली थी और सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए थे।⁷ जैनों का यह दावा, कुछ अपवादों को छोड़,

1. एकदा च प्रवृत्ते शिशिरतुर्भयंकरः ।...तदा...॥ देव्या चेल्लणाया सार्धन्...नृपः । वीर'...। वन्दितमान्यणात् ॥ हेमचन्द्र, त्रिपिट-शलाका, पर्व 10, श्लो. 6, 10, 11, पृ. 86 । एकदा जब कि 'देश में भयंकर शीत पड़ रहा था राजा चेल्लणा सहित महावीर को वंदन करने गया। टानीपवाही पृ. 175 । इस विषय से अघिक संदर्भों के लिए देखो वही, पृ. 239 ।
2. राजगृहे राजा बिबसारो...तस्य वेदेही महादेवी अजातशत्रुः पुत्रः, कोव्येल और नील, दिव्यावदानपृ. 545 । देखो वही, पृ. 55; लाहा, बि. च., वही, पृ. 107 ।
3. लाहा, बि.च., वही, पृ. 106 । संयुत्तनिकाय, भाग 2, पृ. 268; रायचौधरी, वही, पृ. 124; हिस डेविड्स, कैहिड, भाग 1, पृ. 183 ।
4. लाहा, बि. च., वही, पृ. वही । देखो फामबूल, जातक, भाग 3, पृ. 121, और भा. 4, पृ. 342; रायचौधरी, वही और वही स्थानः हिस डेविड्स, वही, पृ. 183; श्रीमती हिस डेविड्स. दी बुक आफ दी किण्डूयड सेइंग्ज भाग 1, पृ. 109, टिप्पण । !
5. कोणिकः...चेल्लणाया उदरे उत्पन्नः आवश्यकसूत्र, पृ. 678...विदेहपुत्रे जइत्था । भगवती, सूत्र 300, पृ. 315; विदेहपुत्रेति कोणिक, वही, सूत्र 301, पृ. 317 । देखो हिस डेविड्स, बुद्धीस्ट इण्डिया, पृ. 3; प्रधान वही, पृ. 212 ।
6. देखो भगवतीसूत्र. सूत्र 6, पृ. 11 । अनत्तगडसाआ, सूत्र 16, 17, पृ. 25; वारन्यैट, वही, पृ. 97 ।
7. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 679; रायचौधरी, वही, पृ. 126 । 'बिबिसार ने अनेक राज्यों के राजों से विवाह सम्बन्ध जोड़ कर सधिया कर ली थीं । ऐसा करना प्राचीन भारतवर्ष में एक सामान्य बात थी, यह निश्चय ही कहा जा सकता है ।' बेणीप्रसाद, दी स्टेट इन एशेंट इण्डिया, पृ. 163 ।

एकदम असत्य आघार पर नहीं है।¹ इसमें अविश्वास अथवा आश्चर्य की कोई भी बात नहीं है कि महावीर के ही सगे सम्बन्धियों ने त्रस्त मानवों के समक्ष प्रस्तुत किए हुए उनके महान् सन्देह में सजीव रूचि दिखाई हो। महावीर और उनके राजा अनुयायियों के इस निकट सम्बन्ध की बात को छोड़ दे तो भी श्रेणिक² सम्बन्धी जैनों की साहित्यिक और काल्पनिक दन्तकथाएं इतनी विभिन्न और इतनी अभिलिखित हैं कि वे महान् आश्रयदाता राजों³ के असीम सम्मान की पूरी पूरी साक्षी देती हैं कि जिन की ऐतिहासिकता, यह सौभाग्य की ही बात है कि, जंका से दूर है।

अब हम कृणिक का विचार करें। यहां हम देखते हैं कि उसके पिता श्रेणिक जितने वे इसके विषय में वाग्मी नहीं है हालांकि उसके जीवन से सम्बन्धित प्रायःसभी घटनाओं पर प्रकाश डालने वाला प्रचुर साहित्य हमें उपलब्ध है।⁴ इस बात को बाजू रख देने पर भी उसकी जीवनी की जो बात अत्यधिक स्पष्ट है वह है इस महान् सम्राट का बौद्धों और जैनों दोनों के प्रति ही रूख। यह प्रसंग मगध के सिंहासन से संबंधित है। बौद्ध यह निश्चित रूप से कहते हैं कि जब बिबिसार को उसका पुत्र अजातशत्रु खंजरद्वारा मारनेवाला ही था, उसने शासन का भार उसे सौंप दिया यद्यपि राज्याधिकारियों ने उसे याने श्रेणिक को बचा लिया था फिर भी अजातशत्रु ने उसे भूखा रख कर मार ही दिया और उसकी मृत्यु को पश्चात् अपनी इस पाप का प्रायश्चित्त उसने बुद्ध के सामने पश्चात्ताप कर किया।⁵ पक्षान्तर में जैन इसी घटना का वर्णन एकदम दूसरी ही प्रकार करते हैं। उनके अनुसार बौद्धों के पितृघाती अजातशत्रु ने अपने पिता को यद्यपि वन्दी अवश्य ही कर लिया था और उसे कारावास में दुःख भी दिया था, फिर भी श्रेणिक का निधन ऐसी परिस्थितियों में हुआ कहा गया है कि जो पिता और पुत्र दोनों के ही प्रति घृणा की अपेक्षा हमारी समवेदना व सहानुभूति ही जगाती है, पिता के प्रति उसकी असामयिक मृत्यु के कारण और पुत्र के प्रति उसके शुभसंकल्प को पिता द्वारा गलत समझ लिए जाने के कारण।

1. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 679; अनुत्तरोववाइयदसाओ, सूत्र 1, 2, पृ. 1-2; वारन्येट, वही, पृ. 110-112; रायचौधरी, वही, पृ. वही; प्रधान, वही, पृ. 213।
2. सेणियमज्जाण...सिद्धा। अंतगडदसाओ, सूत्र 16-26, पृ. 25-32। देखो वारन्येट, वही, पृ. 97-107; आवश्यकसूत्र, पृ. 687; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 406, पृ. 171। श्रेणिक के पुत्रों में से हल्ल, विहल्ल, अभय, नंदिपेण, मेघकुमार आदि ने महावीर के साधूसंघ के साधू हो गए थे, देखो अनुत्तरो ववाइयदसाओ, सूत्र 1, पृ. 1। वही, सूत्र 2, पृ. 2; वारन्येट, वही, पृ. 110-112; आवश्यकसूत्र, पृ. 682, 685।
3. श्रेणिक के महावीर प्रति भक्ति के लिए देखो सेणिय राया, चेल्लणा देवी ॥...परिसा निग्गया, धम्मो कहिपो। भगवती, सूत्र 4, 6, पृ. 6, 10; मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो...समणं भगवं महावीरं...वंदंति नमंसति एवं वदासी...अम्हे णं देवाणुप्पियाणं सिस्सभिक्षं दलयामो। जातसूत्र, सूत्र 25, पृ. 60। देखो कल्पसूत्र, मुबो-धिका-टीका, पृ. 20। (श्रेणिकः) राजा भणति अहं युष्मासु नाथेषु कथं नरकं गमिष्यामि? आवश्यकसूत्र, पृ. 681। इस प्रकार के और भी अनेक संदर्भ श्रेणिक सम्बन्धी जैन आगमों में से संकलित किए जा सकते हैं, परन्तु हमारे लिए इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जैन श्रेणिक का अनागत चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर के रूप में बहुत पूजते हैं। श्रेणिकराइजीव पद्यनामो जिनेश्वरः। हेमचन्द्र, वही, श्लोक 189। देखो टानी, वही, पृ. 178।
4. जैनों का पहला उपांग, औपपानिक सूत्र सारा का सारा अजातशत्रु सम्बन्धी ही है। इसके सिवा इसके संदर्भ भगवती, उवामगदाओ, अंतगडदसाओ और अन्य अनेक स्थानों में मिलते हैं। कृणिक पर जैनों ने पूरे विस्तार के साथ लिखा है।
5. प्रधान, वही, पृ. 214। देखो राकहिन, वही, पृ. 95 आदि; हिस डेविड्स डायलोग्स आफ दी बुद्धा, भाग 1, पृ. 94; रायचौधरी, वही, पृ. 126-127; श्रीमती हिस डेविड्स, वही, पृ. 109-110।

आपने सत्य ही कहा है; सत्यधर्म का मार्ग आपने दिखाया है; मोक्ष और शांति का आपका मार्ग अद्वितीय है।...'¹

कृष्णिक के उत्तराधिकारी उदय अथवा उदायिन के विषय में जैन एवं बौद्ध अनेक दन्तकथाएं प्रस्तुत करते हैं। इन दन्तकथाओं को निर्देश करते हुए डा. रायचौधरी कहते हैं कि 'पुराणों के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी दर्शक था।'² प्रो. गीगर अजातशत्रु के पश्चात् दर्शक के नाम का प्रवेश मूल मानता है क्योंकि पाली शास्त्रों में असंदिग्ध रूप से उल्लेख है कि उदायीभद्र अजातशत्रु का पुत्र था और सम्भवतया उसका उत्तराधिकारी भी।³ यद्यपि मगधराज के रूप में दर्शक के अस्तित्व की वास्तविकता मास के स्वप्न-वासवदत्ता के अविष्कार से प्रामाण्य हो जाती है फिर भी बौद्ध एवम् जैन साक्षियों के समक्ष यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता है कि अजातशत्रु का निकटस्थ उत्तराधिकारी था।'⁴

जिस जैन साक्षी का विद्वान डॉक्टर ने निर्देश किया है वह हरिभद्रसूरि की आवश्यकटीका⁵ और हेमचन्द्र के त्रिपष्टि-शलाका एवम् परिशिष्ट पर्वन्,⁶ और टानी का कथाकोश⁷ है। इन ग्रन्थों में अभिलिखित दन्तकथाएं पाली धर्मशास्त्रों की दन्तकथाओं से मेल नहीं खाती हैं। डॉ. प्रधान के शब्दों में "महावंश के अनुसार अजातशत्रु की उसके पुत्र उदायीभद्र ने हत्या कर दी थी।"⁸ पर स्थविरावली-चरित्र में कहा गया है कि उदायिन को पिता अजातशत्रु की मृत्यु पर इतना अधिक शोक और दुःख हुआ कि वह चंपा से उठकर राजधानी ही पाटलीपुत्र ले गया था।⁹

इस जैन दन्तकथा को वायुपुराण भी समर्थन करता है क्योंकि उसके अनुसार उदायी ने अपने राज्यकाल के चौथे वर्ष में¹⁰ कुसुमपुर (पाटलीपुत्र¹¹) का नगर बसाया था और इसलिए यह निश्चित सा ही है कि उदायिन

1. तए णं कृष्ण ए राया...महावीर...वंदति...एवं वयासी --सुप्रकखारते मंते, आदि—श्रौपपातिक, सूत 36. पृ. 83 ।
2. देखो पार्जोटर, डाइनेस्टीज आफ दी कलि एज, पृ. 21, 69; प्रधान, वही, पृ. 210 ।
3. देखो गीगर, महावंश, परिच्छेदो 4, गाथा 1-2 ।
4. रायचौधरी, वही, पृ. 130 । "विष्णुपुराण का राजवंशक्रम कि जिसमें अजातशत्रु और उदायिन के बीच में दर्शक का नाम आता है, की हमें उपेक्षा कर देना होगी... ।" प्रधान वही और वही स्थान । बिबिसार के उनके पुत्रों में से ही दर्शक हो जिसने अपने पिता के जीवन काल में ही राजकाज में भाग लिया हो । देखो वही, पृ. 212 । 5. कृष्णिक...मृतः...तदा राजान उदायिनं स्थापयन्ति...प्रायश्चित्तसूत्र, पृ. 687 ।
6. हेमचन्द्र, वही, श्लो. 22 । देखो त्रिपष्टि—शलाका, पर्व 10, श्लो. 426, पृ. 172 ।
7. देखो टानी, वही, पृ. 177 । 8. देखो गीगर, वही, गाथा 1 ।
9. प्रधान, वही, पृ. 216 । देखो वही, पृ. 219 । 'सिंहली इतिवृत्तकार कहते हैं कि अजातशत्रु से लेकर परवर्ती सारे राजा पितृघाती थे ।' रायचौधरी, वही, पृ. 133; हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 6, श्लो. 32-180 । देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 687, 689 ।
10. 'पाटलीपुत्र की पसन्दगी उसके साम्राज्य के केन्द्र में स्थित होने के कारण हुई थी कि जो आज के उत्तर-विहार को भी समाविष्ट करता था । फिर उसका गंगा एवं सोन नदियों के संगम पर स्थित होना भी व्यापारिक और सैनिक दृष्टि से महत्व का था । इस सम्बन्ध में यह उल्लेख भी मनोरंजक होगा कि कौटिल्य साम्राज्य की राजधानी के लिए नदियों का संगम-स्थल की ही सिफारिस करता है'...रायचौधरी, वही, पृ. 131 ।
11. देखो पार्जोटर, वही, पृ. 99 । प्रधान, वही, पृ. 216; रायचौधरी, वही और वही स्थान ।

पिता की मृत्यु-घटना के लिए उत्तरदायी नहीं था। यह नहीं कहा जा सकता है कि बौद्धों ने उसका उसके पिता जैसा ही चित्रण क्यों किया है कि उसका सत्ता और स्थिति का लोभ अपने ही पिता के प्राणों के प्रति स्वाभाविक सहज प्रेम पर इस अधिकता से हावी हो गया था। यदि बौद्धों की महावंश में दी हुई दन्तकथा किसी भी आघात पर होती तो जैन लेखक इसका भी उसी भांति निर्देश अवश्य कर देते जैसा कि उनने कुणिक के विषय में उसके पिता की मृत्यु सम्बन्धी घटना का निर्देश किया है।

पश्चान्तर में जैन कहते हैं कि उदायिन एक निष्ठ जैन था। उसकी आज्ञा से उसकी नई राजधानी पाटलीपुत्र के केन्द्र में एक भव्य जैन मन्दिर बनवाया गया था।¹ फिर जैन साधु भी उसके पास बिना रोक-टोक आते जाते थे यह भी इस बात से प्रमाणित होता है कि उसका वध किमी साधु-वेशी राजकुमार द्वारा कि जिसके पिता को उसने राज्यच्युत कर दिया था, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, किया गया था। इसी प्रसंग से यह अनुमान किया जा सकता है कि एक युक्त जैन की भांति वह जैनों के मासिक पर्व नियम पूर्वक पालता था क्योंकि पौष के दिन ही एक जैनाचार्य, अपने नए शिष्य के साथ कि जिसने अस्त्र छुपा रखा था, राजमहल में गए थे और राजा को उनसे घर्म सुनाया था।²

शिशुनागों अथवा जिनकी सत्ता में मगध साम्राज्य ने निश्चित स्वरूप प्राप्त किया था, के विषय में, संक्षेप में, जैनों का इतना ही कहना है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि जैनधर्म के साथ उन वंशों के सम्बन्ध का विचार करते हुए हम सूक्ष्म विवरण में यद्यपि नहीं उतरे हैं और हम ऐसा इस अध्याय में विवक्षित किसी भी राजवंश के विवरण में नहीं उतरना चाहते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वे सूक्ष्म बातें अर्थहीन हैं, परन्तु इतना ही कि उत्तर-भारत के जैनों के इस साधारण ऐतिहासिक सर्वेक्षण में उन सूक्ष्मविवरणों में उतरना न तो शक्य ही है और न इष्ट।

अब उदायिन के उत्तराधिकारी का हम विचार करें। बौद्ध दन्तकथा के अनुसार तो उसके उत्तराधिकारी थे अनिरुद्ध, मुण्ड और नागदासक। उन दन्तकथाओं में यह भी कहा गया है कि ये सब पितृहंता थे और इसलिए "जनमत उनसे रुष्ट हो गया एवम् इस राजवंश का उच्छेद कर उसके अमात्य शुशुनाग (शिशुनाग) को उनने राजा बना दिया।"³ परन्तु जैन और पौराणिक दन्तकथाएं अनिरुद्ध और अन्य निर्बल-निर्वीर्यों का अवगणना कर देती है अथवा उन्हें भुला देती है और बौद्धों के उदायीमद्र के उत्तराधिकारी रूप में किसी नन्द या नन्दिवर्धन को ला बैठाती हैं।⁴

जैनी कहते हैं कि उदायिन की मृत्यु पर, उसके बिना उत्तराधिकारी के मर जाने से, अमात्यों ने पांच राजचिन्हों यानि हाथी, घोड़ा, छत्र, चामर और कलश सजा कर, पूजा कर नगर वीथियों में धुमाए। इनकी शोभायात्रा मार्ग में नाई से उत्पन्न वेश्या-पुत्र नन्द के विवाह की शोभायात्रा से जब जा मिला तो इन पांचों

1. नगरनामो पोदानि चैत्यगृहं कारितं...आवश्यकसूत्र, पृ. 689। देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो. 181।
2. स राजाष्टमीचतुर्दशयोः पौषधं करोति। आवश्यकसूत्र, पृ. 690 देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो. 186, वही श्लोक 186-230; शार्फेटियर, कैहिङ्ग, भाग 1, पृ. 164।
3. रायचौधरी, वही, पृ. 133। देखो गीगर, वही, गाथा 2-6; प्रधान, वही, पृ. 218-219; स्मिथ, वही, पृ. 36; रेप्सन, कैहिङ्ग, भाग 1, पृ. 312-313।
4. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 690 आदि; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 242; पार्जीटर, वही, पृ. 22, 69।

राजचिन्हों ने उस नन्द का मगध के राजा के रूप में अभिषेक किया। इसलिए उसे प्रथानुसार राजा स्वीकार कर लिया गया और इस प्रकार महावीर निर्वाण के साठ वर्ष पश्चात् नन्द मगध का राजा हुआ।¹

महावीर निर्वाण तिथि का विचार करते हुए हमने देखा था कि उसके 155 वर्ष बाद मौर्य मगध की राजगद्दी पर आए थे। इस प्रकार नन्द और उसके वंशजों का राज्यकाल 95 वर्ष रहता है। डॉ. प्रधान कहता है कि "यह पौराणिक दन्तकथा से बिल्कुल मेल खा जाता है कि जिसके अनुसार नन्द वंश लगभग 100 वर्ष राज करना पाया जाता है। इससे ऐसा लगता है कि पुराणों ने प्राचीन जैन मान्यता को ही प्रायः स्वीकार कर लिया था।"²

यह विद्वान यह भी कहता है कि "नाम-साम्य के कारण हेमचन्द्र नन्दि-(अ)-वर्धन और नन्द (= महापद्म) दोनों को एक ही समझ लेते हैं इतना ही नहीं अपितु इप भ्रामक दन्तकथा का भी समर्थन कर देना है कि नन्द (= महापद्म) ने लगभग 100 वर्ष (स्थविरावली चरित के अनुसार 95 वर्ष) राज्य किया था।"³

परन्तु हेमचन्द्र ने नाम का घोटाला ऊपर कहे अनुसार कभी किया ही नहीं था क्योंकि हरिभद्र और हेमचन्द्र दोनों ही ने नवनन्दों का विचार किया है जिनमें से प्रथम नन्द को दोनों ही ने वस्तुतः हीनोत्पन्न ही बताया है। ऐसा कहना उचित नहीं है कि "हेमचन्द्र नन्दि-(अ)-वर्धन और (= महापद्म) नन्द दोनों में भ्रमित हो गए हैं "क्योंकि नन्दिवर्धन या नन्दवर्धन का नामसाम्य यदि स्वीकार किया ही जाता है तो उसे शैशुनाग के वंशज रूप से ही मानना होगा कि जो उदायिन का उत्तराधिकारी हुआ था। यह बात प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रमाणों से समर्थित होती है। डॉ. रायचौधरी कहता है कि "पुराणों और सिंहली पण्डितों ने सिर्फ एक ही नन्दवंश का अस्तित्व स्वीकार किया है। उनमें नन्दिवर्धन को शैशुनागवंशी राजा बताया है और यह वंश नन्दवंश से एकदम भिन्न है।"⁵

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनकथा में जरा भी अस्पष्टता नहीं है क्योंकि उदायिन का उत्तराधिकारी नहीं था और मगध का राज्य उसके बाद नन्दों के हाथ में हो गया था। शैशुनाग का स्थान नन्दों ने कैसे लिया उन घटनाओं में जाने की हमें कोई भी आवश्यकता नहीं है। ऐसा हुआ हो कि उदायिन के परवर्ती राजा निर्वाण हुए हों और उस वंश के अन्तिम महानन्दिन को जैसा कि स्मिथ कहते हैं, शूद्रा या हीनवर्णा दासी से उत्पन्न महापद्म नन्द नाम का पुत्र था जिसने राज्यसिंहासन हड़प लिया और इस प्रकार नन्दवंश की स्थापना की।⁶

विद्वान ऐतिहासज्ञ का यह कथन हम जैन दन्तकथा के पात्र कि नन्द नाई से उत्पन्न वैश्या का पुत्र था, मिलता हुआ है। इसका समर्थन पुराणों और अल्पकैण्डर के मगधी समकालिक के पिता विषयक यावनी (ग्रीक) वृत्तों से भी होता है। पुराणों में इसे शूद्र-गर्भ-उद्भव याने शूद्र माता से उत्पन्न कहा है।⁷ इस प्रकार इन वार्थ वृत्तों से जैनकथा का अद्भुत रीति से समर्थन हो जाता है हालांकि उनके अनुसार नन्दों ने सिर्फ पीढ़ियों तक ही

1. नापितदास...राजा जातः। -आवश्यकसूत्र. पृ. 690। देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो. 231-243।
2. प्रधान, वही, पृ. 218। देखो पार्जोटर, वही, पृ. 26, 69।
3. प्रधान, वही, पृ. 220। देखो वही, पृ. 225।
4. ...नवमे नन्दे...। -आवश्यकसूत्र. पृ. 693। देखो हेमचन्द्र वही सर्ग 7, श्लो. 3।
5. रायचौधरी, वही, पृ. 138। देखो पार्जोटर, वही, पृ. 23, 24, 69; स्मिथ, वही, पृ. 51।
6. वही, पृ. 41। 7. देखो पार्जोटर वही पृ. 25, 69; रायचौधरी, वही, पृ. 140; प्रधान, वही, पृ. 226; स्मिथ, वही, पृ. 43; रेप्सन, वही, पृ. 31।

राज्य किया था और यह राज्यकाल के 55 वर्ष का ही था।¹ कर्टियस कहता है कि 'उसका पिता (याने अग्राम्ने अथवा क्जण्डर में का पिता याने प्रथम नन्द अर्थात् महापद्म नन्द) निश्चय ही नाई था जो कि बड़ी कठिनाई से आजीविका चलाता था। परन्तु वह रूप का सुन्दर था इसलिए रानी की आसक्ति उसमें हो गई और उसी रानी के कारण उसकी पहुंच राजा के पास हो गई और वह राजा का विश्वास पात्र भी बन गया। बाद में उसने धोके से राजा की हत्या कर दी और तदनन्तर बाल-कुमारों के संरक्षक स्वरूप काम करने का ढोंग करते हुए ही उसने सारी राजसत्ता अपने हाथ में ले ली और फिर राजकुमारों को मार कर अपने ही पुत्र को राजगद्दी पर बैठा दिया। इसने भी व्यवस्थित रूप से राजकाज चलाने के एवज अपने पिता की ही नकल की जिसके फलस्वरूप प्रजा से वह घृण्य हो गया और वह अपदार्थ माना जाने लगा।'²

नन्दों की अक्षत्रियोत्पत्ति के विषय में जैन और अन्य उल्लेखों की साम्यता के सिवा कालक्रम में भी स्मिथ के अनुसार यदि यह घटना ई. पूर्व 413 या उसके आसपास रखी जा सकती है।³ तो जैनों की दन्तकथा और भी समर्थित हो जाती है। क्योंकि जैसा कि हम देख आए हैं मगध की सार्वभौम सत्ता शैशुनागों के हाथ से नन्दों के हाथ में महावीर निर्वाणात् 60 में आई थी जिस निर्वाण की तिथि हमने ई. पूर्व 480-467 मानी है। पुन-दत्ति का उपाखम्भ लेकर भी यह कहना उचित होगा कि जैनों द्वारा सूचित नन्दों का समय 95 वर्ष पौराणिक दन्तकथा से भी मिलता है। मेरुतुंग और अन्य लोगों के प्रमाणों का विचार करते हुए विसेंट स्मिथ कहता है कि बुद्धिभ्रंश से जैनों ने उस वंश के 155 वर्ष गिन लिये हैं।⁴ परन्तु हमारी स्वीकृत काल गणना के अनुसार महान इतिहासवेत्ता द्वारा सूचित 155 वर्ष नन्दवंश के नहीं अपितु महावीर निर्वाण और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का अन्तरसूचक काल है। इसलिए हमारा काल उन्हें भी स्वीकृत मालूम देता है क्योंकि 91 वर्ष का काल 'निश्चित कालक्रम योजना' में उचित माना है।⁵

इस प्रकार नीचे कुलोत्पत्ति, राज्यारोहण तिथि और नन्दों का राज्यकाल सम्बन्धी जैन दन्तकथा की पुष्टि अन्य आधरों से भी हो जाती है। इस राज्यवंश का जैनधर्म के साथ सम्बन्धी कैसा था इस विवरण में उतरने के पूर्व नन्दों के समय में भारतवर्ष में मगध का प्राधान्य टिका रहा था या नहीं यह भी हम संक्षेप में देखें। भिन्न-भिन्न उल्लेखों से मालूम होता है कि उस समय भी मगध एक अखण्ड साम्राज्य के रूप में टिका हुआ था, इतना ही नहीं अपितु उसकी सीमा इतनी दूर तक फैली हुई थी कि महान् अत्येकजेण्डर और उसके सत्रपों के अधीन रहा हुआ उत्तरीय-पश्चिमी विभाग चन्द्रगुप्त को और कर्लिंग देश ही अशोक को फिर से मगध साम्राज्य में मिलाना अपेक्षित था।

पुराणों में महापद्म अथवा नन्द 1म को क्षत्रिय जाति का संहारक दूसरा परशुराम कहा गया है और उसे पृथ्वी का एक छत्र राजा भी माना जाता है।⁶ नन्द शासन में भारत के अधिकांश भाग के एकीकरण का यह पुराणों का वर्णन सर्वोत्कृष्ट इतिहास लेखक भी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि अत्येकजेण्डर के समय में एक ही राजसत्ता के नीचे अनेक शक्ति सम्पन्न पुरुष समुद्र पार रहते थे। उनकी राजधानी पालीमोत्र या पाटलीपुत्र थी।

1. देखो मॅक्लिण्डले, दी इनवेज़न ऑफ इण्डिया बाई अत्येकजेण्डर दी ग्रेट, 409।
2. वही, पृ. 222। देखो वही, पृ. 282; रायचौधरी, वही, पृ. वही; प्रधान वही और वही पृ., स्मिथ, वही, पृ. 42-43; जायसवाल, वि. उ. प्राच्य मन्दिर पत्रिका सं. 1, पृ. 88।
3. स्मिथ, वही, पृ. 43। 4. वही, पृ. 42।
5. वही, पृ. 41। 6. देखो पार्जोटर, वही, पृ. 25, 69।

कठियस हमें कहता है कि "गंजादाई और प्राप्सी का राजा अग्राम्मे ने" अपने राज्य संरक्षण के उच्च प्राकारों में 20,000 हयदल, 2,00,000 पैदल, 2,000 चार घोड़ों के रथ, और इसके अतिरिक्त सबसे भयंकर गजसेना भी रखी थी और इसकी संख्या 3,000 तक पहुंच गई थी।¹ इसके सिवा, नन्द साम्राज्य में कोसल का समाविष्ट हो जाना कथासरित्सागर के इस कथन से समर्थित होता है जहां राजा नन्द को अयोध्या में पड़ाव का उल्लेख किया गया है।² खारवेल का हाथीगुफा का शिलालेख इसका विशेष आवश्यक प्रमाण है जो कि, जैसा कि हम पहले देख ही आए हैं, कलिंग की नहर के सम्बन्ध में नन्दराज का उल्लेख करता है। इस सब का स्वाभाविक अर्थ यह होता है कि नन्दराजा ने कलिंग पर भी अधिकार कर लिया था।³ डॉ. रायचौधरी के शब्दों में कहें तो 'नन्द का कलिंग पर अधिकार देखते हुए, उसकी सुदूर दक्षिण क्षेत्रों की विजय भी एक दम असम्भव सी नहीं मालूम देती है। गोदावरी पर के नगर नांदेड याने नौ-नंद-देहरा⁴ का अस्तित्व भी सूचित करता है कि नन्द के साम्राज्य में दक्खण का भी अधिकांश भाग था।'⁵

फिर हम अगले अध्याय में देखेंगे कि शिलालेख का दूसरा वाक्य कलिंग की जिनप्रतिमा और अन्य कोश जो कि नन्द विजय-चिन्ह स्वरूप मगध में ले गया था का उल्लेख करता है। खारवेल के इस शिलालेख से नन्दों का जैनधर्म के साथ सम्बन्ध चर्चा का विषय हो जाता है। इस और अन्य नन्दराज के उल्लेख वाले वाक्यों के सम्बन्ध में जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह नन्दराज के बराबर पहचाने जाने की ही है। महावीर के निर्वाण की चर्चा में हमने देखा था कि जायसवाल, बेनरजी, स्मिथ और अन्य जैसा कहते हैं याने नन्दराज को नन्दिवर्धन ही मान लिया जाए ऐसा कोई भी कारण नहीं है। फिर शार्पेटियर के आधार के सिवा जिसका कि पहले विचार किया जा चुका है, और जैसा कि उसके विषय में श्री चन्दा कहते हैं, 'नन्दीवर्धन की सूचना करने वाले एक मात्र हमारे आधार पुराणों में ऐसी कोई भी बात नहीं है कि जिससे हम कह सकें कि उसको कलिंग में कभी भी कुछ काम पड़ा था। पश्चान्तर में हमें स्पष्ट ही पुराण कहते हैं कि जब मगध में शैशुनाग राज्यवंश और उसके पूर्वज राज कर रहे थे, बत्तीस कलिंग राजा कलिंग पर क्रमशः एक के बाद एक राज करते रहे थे।⁶ नन्दिवर्धन नहीं अपितु वह महापद्म नन्द था कि जिसने 'सब को अपनी सत्ता के अधीन किया, था' और सब क्षत्रियों को निर्मूल कर दिया था' याने प्राचीन राजवंशों को मिटा दिया था। इस लिए हाथीगुफा शिलालेख का नन्दराज कि जिसने कलिंग पर अपनी सत्ता जमाई थी, या तो स्वयं महापद्म नन्द माना जाना चाहिए या उसके पुत्रों में से कोई एक।'⁷

संक्षेप में खारवेल के शिलालेख का नन्दराज जैनों का प्रथम नन्द अथवा पुराणों का महापद्म नन्द के सिवा दूसरा कोई नहीं है क्योंकि परवर्ती नन्दों के विषय में जैन और पुराण दन्तकथा दोनों ही ऐसा कुछ भी नहीं कहती हैं कि जिससे उनमें से किसी के लिए भी प्रथम नन्द जैसा विजयी जीवन का दावा किया जा सकता है। यहाँ

1. मैक्क्रिण्डले, वही, पृ. 221-222। देखो वही, पृ. 281-282; स्मिथ, वही, पृ. 42; रायचौधरी, वही, पृ. 141।
2. देखो टानी (पंजर संस्करण) कथासरित्सागर, भाग 1, पृ. 27; रायचौधरी, वही और वही स्थान।
3. देखो रेपसन, वही, पृ. 315। 4. देखो मैकोलिफ, दी सिक्ख रिलीजन, भाग 5, पृ. 236।
5. रायचौधरी, वही, पृ. 142।
6. देखो पार्जिटर, वही, पृ. 24, 62।
7. चन्दा, मैमायर्स आफ दी आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्ड., पृ. 50। संख्या 1, पृ. 11-12। देखो रायचौधरी वही पृ. 138।

इतना कह देना और आवश्यक है यद्यपि पुराण और जैन दन्तकथा परस्पर बहुतांश में एक दूसरे का समर्थन करती हैं, फिर भी खारवेल का शिलालेख जैनकथा का ही इस नन्द राजा को पुराणों के महापद्म नन्द के एवज नन्दराज कह कर समर्थन करता है ।

जैनों और नन्दों के सम्बन्ध में हाथीगुफा का शिलालेख कहता है कि राजा नन्द विजय-चिन्ह रूपसे वहाँ से एक जैन प्रतिमा ले गया था, और यह, जायसवालजी के अनुसार जैसा कि हम आगे के अध्याय में देखेंगे, सिद्ध करता है कि वैन्दराज जैन था और उड़ीसा में जैनधर्म बहुत समय पूर्व ही प्रवेश कर गया था ।¹ उन्हीं के अनुसार ऐसा इसलिए कहा जा सकता है कि 'विजय-चिन्ह स्वरूप पूजा की कोई मूर्ति उठा ले जाना और उसमें की किसी मूर्ति विशेष के प्रति सम्मान दिखाना परवर्ती इतिहास में एक सुप्रसिद्ध बात देखी जाती है ।'² स्मिथ और शार्पेटियर जैसे विद्वान भी इसका समर्थन करते हैं ।³ स्मिथ के शब्दों में कहें तो 'नन्दवंश ने कलिंग पर एक लम्बे समय तक राज्य किया था । नन्दों और खारवेल के समय में कलिंग में जैन धर्म सर्व प्रधान नहीं रहा हो जैसा कि होना चाहिए था, तो भी निश्चय ही वह अति सम्मान का स्थान भोगता था । मैं यह कह दूँ कि नन्द जैन थे. इस अभिप्राय पर मैं स्वतन्त्र रीति से ही पहुँचा था ।'⁴

नन्दों की ब्राह्मण-विरोधी उत्पत्ति का विचार करते हुए वे जैन हो इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है ।⁵ उनके उद्गम के सिवा बौद्धों की भांति ही जैनों को नन्दों के विरुद्ध कहने का कुछ भी नहीं है । डा. शार्पेटियर के अनुसार 'यह बात ऐसा सूचित करती है कि नन्द जैनधर्म के विरुद्ध या प्रतिकूल भुकाव नहीं रखते थे ।'⁶ जैन दन्तकथाएं भी इसका समर्थन इसका समर्थन करती हैं क्योंकि नन्दवंश के श्रेणीबद्ध अमात्य जैन ही थे⁷ जिनमें से पहले अमात्य कल्पक को वह पद स्वीकार करने को बाध्य किया गया था ।⁸ इस अमात्य की सहायता से राजा नन्द सब क्षत्रिय राजवंशों को निर्मूल कर सका था ।⁹ जैन यह भी कहते हैं कि अमात्यों की परम्परा उसी वंश में चलती रही थी ।¹⁰ नौवें नन्द का अमात्य शकटाल था । उसके दो पुत्र थे, बड़ा स्थूलभद्र और छोटा श्रीयक । शकटाल की मृत्यु के बाद नन्द ने बड़े पुत्र स्थूलभद्र को मंत्री पद स्वीकार करने को कहा । परन्तु उसने संसार की असारता का विचार कर मंत्रीपद लेने से इन्कार कर दिया और जैनधर्म के छोटे युगप्रधान सम्भूत

1. 'कलिंग सर्वजीव-धर्म, ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म और जैनधर्म की मिलीजुली मिश्र संस्कृति थी । यह आश्चर्य की ही बात है कि कोई भी कभी बिलकुल ही लुप्त नहीं हुई थी ।' सुब्रह्मनियन, आंध्र हिरिसो, पत्रिका सं. 1 ।
2. जायसवाल, वही, सं 13, पृ. 245 ।
3. शार्पेटियर, वही, पृ. 164 ।
4. स्मिथ, राएसो पत्रिका, 1918, पृ. 546 ।
5. 'कोई हमें यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि कलिंग जैनी था क्योंकि वह चिर काल तक ब्राह्मण द्वेष नन्दों के अधिकार में रहा था कि जिनके जैन अवशेष आज भी जैपुर जिले के नन्दपुर में पाए जाते हैं...। सुब्रह्मनियन, वही और वही स्थान ।
6. शार्पेटियर, वही, पृ. 174 ।
7. आवश्यकसूत्र, पृ. 692; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 73-74, 80 ।
8. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 691-692; हेमचन्द्र वही, श्लो. 1-74 ।
9. दर्शितः सन् कल्पक इति ते (राजनः) मीता...नण्टाः । -आवश्यकसूत्र, पृ. 693; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 84, 105-137 । देखो प्रधानवही पृ. 226 ।
10. कल्पकस्य वशो नन्दिवंशेन सममनुवर्तते,...-आवश्यकसूत्र, पृ. 693; हेमचन्द्र, वही, सर्ग 8, श्लो. 2 ।

विजय¹ के पास जा कर जैन दीक्षा ले ली ।² अन्त में मंत्रीपद उसके छोटे भाई श्रीयक को दिया कि जो पहले ही राजा नन्द की सेवा में था ।³

जैनों और नन्दों का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है । नन्दों के समय में जैन प्रभावशाली थे यह बात संस्कृत नाटक “मुद्राराक्षस” से भी स्पष्ट होती है कि जिसमें चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का प्रसंग नाटक रूप में चित्रित किया गया है । इसमें कहा गया है कि “उस काल में जैनी प्रधानपद भोग रहे थे ।” और चाणक्य, “क्रांति का मुख्य प्रणेता भी मुख्य दूत स्वरूप में एक जैन को ही रखता है ।”⁴

नन्दों की राजसत्ता पर शैशुनाग वंश का सा प्रकाश जैन ग्रन्थों में कुछ भी नहीं मिलता है । बिल्कुल अस्पष्ट रूप में वे यही सूचित करते हैं कि जैन अमात्य कल्पक की सहायता से राजा नन्द ने अनेक राज्यों को वश कर लिया था और जैसा कि आगे कहा जाएगा, अन्तिम नन्द को चाणक्य के शरण में जाना पड़ा था कि जिसने उसके दरबार में हुए अपने अपमान के कारण उसकी सत्ता नाश करने और उसे पदभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा कर ली थी । फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि नन्दवंश की राजसत्ता के विषय में यह अस्पष्टता केवल जैन इतिवृत्तों में ही नहीं है । जैसा कि डॉ. शापेंटियर कहते हैं, “प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक अंधकारमय युगों में से यह नन्दों का राज्य एक अति अन्धकार का काल है ।”⁵

नन्दों के बाद मौर्य आते हैं । इन नन्दों का स्थान मौर्यों ने कैसे और क्यों लिया यह कुछ भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है । फिर भी इतना तो निश्चित है कि भारतीय इतिहास के इसी परिवर्तन काल में “कदाचित्त जगत का नहीं तो कम से कम भारत का तो अवश्य ही प्रथम अर्थशास्त्री” चाणक्य प्रकाश में आता है ।⁶ यह विस्मय की बात ही है कि इस राजवंश क्रांति का व्यौरवार विवरण उपलब्ध नहीं है, फिर भी प्राचीन साहित्यिक वर्णनों से यह मालूम होता है कि अन्तिम नन्द “उसके प्रजाजनों द्वारा तिरस्कृत और अपदार्थ माना जाता था ।” फिर इन वर्णनों में वर्णित नन्दों की विशाल स्थायी सेना एवम् उनका अतुल्य धन स्वभावतः सूचित करता है कि उस समय इनकी ओर से बहुत कुछ आर्थिक निष्कर्षण चल रहा होगा ।⁷ इतना होने पर नन्दों की जैन ऐसी कोई शिकायत नहीं करते हैं ।

1. शकटालमन्त्रिपुत्रः श्री स्थूलभद्रो...पितरि मृते नन्दराजेनाकार्यं मन्त्रिमुद्रादानायाम्प्रथितः सन् पितृमृत्युं स्वचित्रेत विचिन्त्य दीक्षामादत्त ।—कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ. 162 । देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 435-436, 693-695; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 3-82 । स्मिथ ने भ्रम से उसे ‘नवे नन्द का मन्त्री’ लिख दिया है । स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 49, टि. 2 ।
2. “प्रथम युगप्रधान सुधर्मा मगवान् के निर्वाण के 20 वर्ष बाद निर्वाण हुए थे । उनसे जम्बू को युगप्रधानत्व दिया था जो कि इस पद पर 44 वर्ष रहे थे और नन्दों के राज्यासीन होने के समय के लगभग ही निर्वाण प्राप्त हुए । उनके बाद तीन युगप्रधानों की पीढ़ियां हुईं और अन्तिम नन्द के समय जैनसंघ में दो युगप्रधान थे सम्भूतविजय और भद्र बाहु ।...”—शापेंटियर, वही, पृ. 164; याकोबी, सेबुई, पुस्त. 22, पृ. 287 ।
3. ...श्रीयकः स्थापितः, ...—आवश्यकसूत्र, पृ. 436; हेमचन्द्र वही, श्लो. 10, 83. 84 ।
4. देखो नरसिंहाचार, एपी. कर्ना., पुस्त. 2 प्रस्ता. पृ. 41; राइस, ल्यूइस, माइसोर एण्ड कुर्ग, पृ. 8; स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 75 ।
5. शपेंटियर, वही और वही स्थान । 6. सम्भदार, दी ग्लोरीज आफ मगध, पृ. 2 ।
7. “महावंश में अन्तिम नन्द की जब धन नाम द्वारा निंदा की गई है, तो यह मालूम होता है कि प्रथम नन्द के प्रति अति लोभ का दोष मंदा जा रहा है; और चीनी पर्यटक ह्युएनत्सांग भी नन्द राज को अतुल्य धन का प्रख्यात स्वामी कह कर उल्लेख करता है ।” स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ. 42 देखो रायचौधरी, वही, पृ. 143 ।

जैन दन्तकथा इस विषय में, संक्षेप में, इस प्रकार है। एक निष्ठ ब्राह्मण चरिण की पत्नि चणेश्वरी का पुत्र चारणक्य, यह सुनकर कि प्रसिद्ध ब्राह्मणों को नन्द उदारता से दक्षिणा देता है, कि दक्षिणा प्राप्त के लिए पाटलीपुत्र गया। वहाँ राजदरबार में उसका अपमान किया गया है, उसे ऐसी प्रतीति हुई और तभी से वह अन्तिम नन्द का विरोधी बैरी हो गया। वहाँ से वह हिमवत्कूट गया और वहाँ के राजा पर्वत¹ के साथ इस शर्त की मैत्री कि यदि नन्द को पराजित एवम् वश करने में वह उसकी सहायता करेगा तो वह उसको नन्द का ग्राघा राज्य दे देगा बस उनसे आसपास के प्रदेशों पर अधिकार कर उसके विरुद्ध अभियान प्रारम्भ कर दिया और अन्त में देश का तहस-नहस कर, उन मित्रों ने पाटलीपुत्र पर घेरा डाल दिया और बेरी को समर्पण होने को बाध्य किया। नन्द ने चारणक्य से दया भिक्षा मांगी, इसलिए उसको जितना भी धन एक रथ में वह ले जा सके उतना ले राज्य छोड़ चले जाने की आज्ञा दे दी गई। नन्द अपनी दो पत्नियों एवं एक पुत्री के साथ कितना ही धन ले रथ में बैठा जब जा रहा था, तो मार्ग में चन्द्रगुप्त मिला जिसे देखते ही नन्द की पुत्री उसके प्रेम में पड़ गई। पिता की सम्मति से उसने स्वयम्बर रीत्यानुसार उसको पति वरण कर लिया। पिता के रथ में से उतर कर जब वह चन्द्रगुप्त के रथ में चढ़ने लगी तब उसके पहिए के नौ आरे टूट गए। इससे चन्द्रगुप्त ने उसे निकाल ही दिया होता, यदि चारणक्य यह कह कर उसे नहीं रोकता कि नया राजवंश नौ पीढ़ी तक फलेगा।²

नन्दों के पतन और मौर्यों के उत्थान के विषय में जैन इतना ही कहते हैं। हिमवत्कूट का दुर्भाग्य राजा पर्वतक अकस्मात् मर गया और इस प्रकार नन्द एवम् पर्वतक दोनों ही के राज्य का स्वामी चन्द्रगुप्त ही हो गया।³ जैसा कि कहा जा चुका है यह घटना महावीर के निर्वाण के 150 वर्ष पश्चात् घटी थी।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि जैन एवम् अन्य उल्लेखों के अन्तर्गत नन्दों के पतन में चारणक्य अकेले ही का हाथ हो तो इस चन्द्रगुप्त की कुल परम्परा क्या थी? और दूसरा यह कि मगध साम्राज्य का स्वामी चारणक्य स्वयम् क्यों नहीं बना? इन दो समस्याओं में से चन्द्रगुप्त की कुल परम्परा की समस्या का हल नहीं किया जा सकता है। जैन दन्तकथा उसे राजा के मयूर-पोषकों के गाँव के मुखिया की पुत्री का पुत्र बताती है।⁴ स्मिथ कहता है कि चन्द्रगुप्त ने अपनी माता अथवा नानी (माता मही) मुरा के नाम से अपना वंश स्थापित किया होगा।⁵ हिन्दू इन मौर्यों को नन्दों के साथ जोड़ देते हैं। कथासरित्सागर चन्द्रगुप्त को नन्द का

1. गतो मिवत्कूटं, पार्वतिको राजा तेन समं मैत्री जाता।—आवश्यकसूत्र पृ. 434; हेमचन्द्र, वही, श्लो. 298। परिशिष्टपर्वन के संस्करण में याकोबी इस विषय में एक टिप्पण देता है जो इस प्रकार है। नेपाल राजवंशावली में, बौद्ध पार्वतीय वंशावली के अनुसार, तीसरे वंश का ग्यारवां राजा, किरातों का राजा कोई पर्व था जो प्रत्यक्षतः हमारा पर्वत हो; क्योंकि सातवें राजा के राज्यकाल में याने जितेदास्ती के समय में बुद्ध का नेपाल गमन बताया गया है, और चौदहवें राजा स्थुंक के काल में अशोक का वहाँ जाना कहा है।—याकोबी, परिशिष्टपवन्, पृ. 58। देखो भगवानलाल इन्द्रजी, इ.एण्टी., पुस्त. 13, पृ. 412।
2. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 433, 434, 435; याकोबी, वही, पृ. 55-59।
3. द्वे अपि राज्ये तस्य जाते।—आवश्यकसूत्र, पृ. 435। देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो. 338।
4. “कौटिल्य अर्थशास्त्र. कामन्दक नीतिशास्त्र, पुराण, महावंश और मुद्राराक्षस से हमें मालूम होता है कि नन्दवंश का उच्छेद चन्द्रगुप्त के माहमात्य कौटिल्य द्वारा ही हुआ था।”—रायचौधरी, वही और वही स्थान। “कौटिल्य नाम का एक ब्राह्मण उनका उन्मूलन करेगा। 100 वर्ष तक इस पृथ्वी का राजा भोग कर, यह राज्य मौर्यों को चला जाएगा।”—पार्जितर वही पृ. 69।
5. देखो आवश्यकसूत्र पृ. 433-434. हेमचन्द्र, वही, श्लोक 240। 6. देखो स्मिथ. वही, पृ. 123।

पुत्र कहता है ।¹ पहावंश उसका मोरीयवंश बताता है ।² दिव्यावदान में चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार अपने मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय होने का दावा करता है । उसी ग्रन्थ में बिंदुसार का पुत्र अशोक अपने को क्षत्रिय कहता है ।³ महापरिनिव्वारणगुप्त में मोरियों को क्षत्रिय जाति के और पिप्फालीवन का राजवंशी कहा गया है ।⁴

इन सब बातों का विचार करते हुए, डा. रायचौधरी कहता है कि 'इतना तो निश्चित है ही कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय जाति याने मोरिया (मौर्य) वंश का था । ई. पूर्व छठी सदी में पिप्फलीवन के छोटे से प्रजासत्ताक पर राज्य करने वाले यह मोरिया जाति थी । पूर्व भारत के अन्य राजाओं के साथ वह भी मगध साम्राज्य में मिल गई होगी । अग्रमेस के अग्रशस्वी राज्य में जब उसकी प्रजा को वह अप्रिय हो गया तो बहुत करके ये मोरिया चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में फिर प्रकट हो गए होंगे । तक्षशिला⁵ के बाह्यण के पुत्र कौटिल्य या चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त की सहायता से उसने दुष्ट नन्द को पदभ्रष्ट कर दिया ।'⁶

चन्द्रगुप्त की वंश-परम्परा के विषय में इतना ही कहा जा सकता है । अब इसका विचार करें कि चाणक्य ही मगध का राजा क्यों नहीं बना ? इन विषय में डा. रायचौधरी का उपरोक्त वक्तव्य कुछ स्पष्टीकरण अवश्य ही करता है । यह बहुत ही सम्भव दीखता है कि चन्द्रगुप्त स्वयम् ही, जैसा कि ग्रीकी कहते हैं, 'महान् भाग्य के प्रमुख चिन्ह देखकर राज्य प्राप्त करने को प्रेरित हुआ था ।'⁷ जैन इतिहास के अन्य आधारों की भांति ही ग्रीक साहित्य भी वास्तविक इतिहास पर कुछ प्रकाश नहीं डालते हैं । चन्द्रगुप्त के विषय में वे इतना ही कहते हैं कि नन्द राजा द्वारा मृत्युदण्ड दिए जाने पर वह वहां से भाग निकला था, जब वह सोया हुआ था तो उसके शरीर में से निकल रहे पसीने को एक सिंह चाटता रहा था, इस अद्भुत पुरुष को चाणक्य ने राजविहासन प्राप्त करने को उकसाया था और उसके सामने एक वनगज एकदा नतमस्तक हो गया था ।⁸ जब ऐसी दन्तकथाएं सार्वजनिक साक्षीभूत आधार भी चन्द्रगुप्त के विषय में कहें तो यह कोई भी आश्चर्य नहीं है कि जैन दन्तकथा इस समस्या की व्याख्या इस प्रकार करे कि 'चाणक्य जब जन्मा था तब उसके मुंह में सारे ही दांत थे ।⁹ इस आश्चर्यजनक घटना के फलाफल के विषय में जब साधुओं को पूछा गया तो उनमें भविष्यकथन किया कि यह शिशु राजा होगा । परन्तु उसका पिता धार्मिक वृत्ति का था एवम् पुत्र को आत्मा की राजपद की भयंकरता से वह बचाना चाहता था । इसलिए उस राजचिन्ह को दूर करने के लिए उसने शिशु के दांत तोड़ दिए । फिर भी मुनियों ने कहा कि अब चाणक्य किसी प्रतिनिधि द्वारा राज चलाएगा । नन्दों की पराजय पश्चात्, यह दन्तकथा कहती है कि, नन्द की धन सम्पदा सब चन्द्रगुप्त और पर्वत दोनों ने आपस में बांट ली ।'¹⁰

1. देखो टानी (पेंजर संस्क.) वही. भाग 1, पृ. 57 ।
2. 'मोरियानाम खत्तियानं वंसे आदि...'—गीगर, वही. पृ. 30 ।
3. अहं राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्ता...'—कव्येल और नील, दिव्यावदान, पृ. 360 ।
4. हिस डेविड्स, सेबुई, पुस्त. 11, पृ. 134-135 ।
5. जैनों के अनुसार चाणक्य चणक का निवासी था जो कि गोल्ला जिले में एक गांव है । देखो याकोबी वही, पृ. 55; आवश्यकसूत्र, पृ. 433 । 6. रायचौधरी, वही, पृ. 165-166 ।
7. मॅक्क्रिण्डले, वही. पृ. 320 । 8 वही, पृ. 327-328 । देवो स्मिथ, वही, पृ. 123, टिप्पण 1 ।
9. चाणक्य की जीवन की इस घटना के विषय में याकोबी इस प्रकार टिप्पण करते हैं : 'यही बात रिचर्ड 3य के विषय में कही जाती है : 'टीथ हैड्सट दाऊ इन दार्डह्येड व्येन दाऊ वास्ट बार्न—याकोबी, वही और वही स्थान । दू सिग्नीफाई दाऊ कम्प्रेस्ट टु बाइट दी वर्ल्ड ।'
10. देखो आवश्यकसूत्र, पृ. 435; हेमचन्द्र वही. श्लो. 3 7 ।

भारतीय इतिहास की इन असिद्ध बातों को यही छोड़ कर अब हम यह देखें कि मगध साम्राज्य का परिवल मौर्य-काल में कितना था। मगध की सत्ता और राज्य-विस्तार अशोक के समय में उच्चतम कक्षा को पहुँच गया था। परन्तु यथार्थ विजय और राज्य-विस्तार तो अशोक के समय में नहीं अपितु चन्द्रगुप्त के समय में ही प्रारम्भ होकर समाप्त हो गया था। राजनीति की दृष्टि से अशोक एक क्वैकर याने धार्मिक-वृत्ति का था और वह राजा की अपेक्षा धर्मगुरु पद के अधिक योग्य था। उसने तो मात्र कलिंग पर मगध की सत्ता पुनः स्थापित की थी। महामान्य हेरासू के शब्दों में “हिन्दु-युग के हिन्दुस्थान का महानतम सम्राट चन्द्रगुप्त था। उसके पौत्र अशोक की कीर्ति तो उसके बौद्धिक कामों पर खड़ी है। वह शासक राजा की अपेक्षा एक दार्शनिकचितक था; वह शासक की अपेक्षा नीति का उपदेशक या शिक्षक था।”¹

तथ्य जो भी हो, परन्तु महान् मौर्य साम्राज्य के मगध का विस्तार व्यापक था। पंजाब, सिंध और उत्तरीय राजपूताना के सिवा प्रायः सारा ही उत्तर-भारत नदों के अधिकार में हो गया था। उस विशाल साम्राज्य में पंजाब, सिंध, बलोचिस्थान, अफगानिस्थान और सम्भवतः, जैसा कि हमने हिमवत्कूट के पर्वत के टिप्पण में देख लिया है, नेपाल और काश्मीर भी चन्द्रगुप्त काल में मिला लिए गए थे।² उत्तर की घटनाएँ ही इतनी सघन थी कि उसे दक्षिण की ओर दृष्टि फेंकने का अवकाश ही नहीं मिल सकता था। जैसा कि स्मिथ कहता है: “यह विश्वास करना ही कठिन है कि अप्रसिद्धी में से पूर्ण प्रभावक एवम् शक्तिशाली बन जाने, मैसीडोनी सेना को देश से निकाल मगाने, सेल्यूकम के आक्रमण को विफल करने, क्रांति कर पाटलीपुत्र में अपना राजवंश स्थापने, अरियान का अधिकांश भाग साम्राज्य में मिला लेने और बंगाल की खाड़ी से अरबसमुद्र तक अपना साम्राज्य विस्तार कर लेने से अधिक सनय उसे कदाचित् ही मिल सकता था।”³

दक्षिण की विजय चन्द्रगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी बिदुसार द्वारा सम्पन्न हुई थी इसका अनेक आधारों से समर्थन होता है। उसे भी उसके पिता के मंत्री चारणक्य का निर्देशन⁴ प्राप्त था। दक्खन अथवा भारतीय द्वीपकल्प लगभग नेलोर के अक्षांश तक प्रत्यक्षतया बिदुसार द्वारा जीन लिया गया होगा क्योंकि अशोक को यह सब उत्तराधिकार में उसी से प्राप्त हुआ था और उसका एक मात्र युद्ध अभिलेख कलिंग-विजय का ही था।⁵ परवर्ती मौर्यों ने साम्राज्य के विस्तार में कुछ भी योगदान नहीं दिया था। वस्तुतः अशोक के राज्यकाल के समाप्त होते ही मौर्य सत्ता क्षीण होने लग गई थी और बृहद्रथ से जिसकी जैसा कि हम आगे के अध्याय में देखेंगे, उसके ही महासेनाधिपति पुण्यमित्र द्वारा हत्या कर दी गई थी, और जिसने शुंगवंश का नया राजवंश स्थापन किया⁶ था, मौर्य सत्ता बिलकुल ही तिरोहित हो गई।

मौर्यों की अधीनता में मगध साम्राज्य के विस्तार का शृंखला बद्ध इतिहास जान लेने के पश्चात् अब हम उनका जैनधर्म के साथ के सम्बन्ध का विचार करेंगे। जैन दन्तकथा कहती है कि मौर्यवंश संस्थापक और यवनों का विजेता और भारत का प्रसिद्ध सम्राट चन्द्रगुप्त जैन था। इसकी दन्तकथा संक्षेप में इस प्रकार है :—

1. हेरास, मिथीकल सोसाइटी त्रैमासिक, सं. 17, पृ. 276। देखो जायसवाल, विउप्रा प्रत्रि, 2, पृ. 83।
2. देखो वही, पृ. 81। 3. स्मिथ, वही, पृ. 156। देखो जायसवाल, वही, वही स्थान।
4. आवश्यकसूत्र, पृ. 184। 5. देखो जायसवाल, वही, पृ. 82-83; शीफनगर, वही, पृ. 89।
6. देखो स्मिथ, वही, पृ. 204।

जब उत्तर-भारत में (उज्जैन में या पाटलीपुत्र से) चन्द्रगुप्त राज्य कर रहा था, श्रुतकेवली भद्रबाहु ने कि जो उस समय जैनों के एक युग प्रधान आचार्य द्वादशवर्षी भीषण दुष्काल की भविष्यवाणी की थी। इस भविष्य कथन के परिणामस्वरूप जैनों का एक बड़ा समूह (संख्या में लगभग 12000), दक्षिण को प्रस्थान कर गया जहाँ उनमें से भद्रबाहु सहित अनेक संलेखना व्रत लेकर काल कर गए। यह घटना मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोल में घटी। चन्द्रगुप्त जो कि संघ के साथ ही उधर गया था सब कुछ त्याग कर वारह वर्ष तक अपने देवलोक प्राप्त गुरुभद्रबाहु की चरणचिन्हों की पूजा करता हुआ बेलगोल में ही टिका रहा (?) और अन्त में वह भी संलेखना करके दिवंगत हुआ।

उक्त सार में कोष्ठक एवम् प्रश्न चिह्नंकित वाक्य एक ही दन्तकथा की भिन्न भिन्न आवृत्तियों का संकेत करते हैं कि जो मूलतः साम्य रखती हैं परन्तु अग्रमुख विवरण में भिन्न भिन्न हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के आविर्भाव के साथ इस कथा का सम्बन्ध यह हम पहले ही देख चुके हैं। श्वेताम्बर इसे स्वीकार नहीं करते हैं यद्यपि बारहवर्षी दुःकाल की बात स्वीकार करते हुए ही वे कहते हैं कि चन्द्रगुप्त की राजधानी में रहते हुए आचार्य सुस्थित को अपने गण को अन्य प्रदेश में भेजने की अवश्य ही आवश्यकता हुई थी।¹ इस दन्तकथा में हमारी दिलचस्पी इतनी है कि इससे प्रकट होता कि चन्द्रगुप्त जैन था। इसको सूक्ष्म निरीक्षा दक्षिण-भारत में जैनधर्म के विद्यार्थी का ही काम है न कि हमारा। फिर भी यहाँ यह कह देना उचित होगा कि इसकी विवेचना मैसूर-निवासी नरसिहाचार, फ्लीट आदि विद्वानों ने विस्तार के साथ की है।²

इस दन्तकथा का प्रथम साहित्यिक रूप हरिषेण की बृहत्कथाकोश जो कि ई. सन् 931 लगभग का है, में मिलता है।³ श्रवणबेलगोल का शिलालेख जिसका समय अनुमानतः ई. सन् 600 आका गया है, वही इस सारी दन्तकथा का मूल आधार है।⁴ अनेक प्रतिष्ठित और प्रमाणभूत आधुनिक विद्वान इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस दन्तकथा के आधार पर चन्द्रगुप्त जैन तो बिना किसी जोखम के ही जा सकता है। 'जैनशास्त्र (ई. पूर्वी सदी) और परवर्ती जैन शिलालेख', डा. जायसवाल कहते हैं कि, 'चन्द्रगुप्त को जैन राजपि रूप में उल्लेख करते हैं। मेरा अध्ययन जैनग्रन्थों के ऐतिहासिक तथ्यों का सम्मान करने को बाध्य करता है, और मैं ऐसा कोई कारण नहीं देखता कि हम जैनों के इस दावे को क्यों स्वीकार नहीं कर ले' कि चन्द्रगुप्त ने अपने राज्य के अन्तिम दिनों में जैनधर्म स्वीकार कर लिया था और राजपाट त्याग दिया था और जैन मुनि की रूप में ही दिवंगत हुआ था।⁵

डा. स्मिथ कि जिनने अन्ततः इसी विचार को मान्य किया है, कहते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य का घटनापूर्व राज्यकाल किम प्रकार से समाप्त हुआ उस की सीधी और एक मात्र साक्षी जैन दन्तकथा ही है। जैनी इस महान् सम्राट को बिबसार जैसा ही जैन मानते हैं और इस मान्यता में अविश्वास करने का कोई भी पर्याप्त कारण नहीं

1. देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो. 377-378। स्थविरों की सूची में सुस्थित का नाम स्थूलभद्र के बाद आता है जो कि जैनसंघ के आठवें युगप्रधानाचार्य थे। देखो याकोबी, सेबुई., पुस्त. 22, पृ. 287-288।
2. नरसिहाचार, वही, प्रस्ता. पृ. 36-42; फ्लीट, इण्डि., एण्टी., पुस्त. 21, पृ. 156-160।
3. ...बृहत्कथाकोश, ई. 931 की हरिषेण की संस्कृत रचना, कहता है कि भद्रबाहु, अन्तिम श्रुतकेली, का शिष्य राजा चन्द्रगुप्त था। नरसिहाचार, वही, प्रस्ता. पृ. 37। देखो राइस, ल्यूइस, वही, पृ. 4।
4. देखो नरसिहाचार, वही, प्रस्ता. पृ. 39; वही, अनुवाद, पृ. 1-2; राइस, ल्यूइस, वही, पृ. 3-4।
5. जायसवाल, बिउप्रा पत्रिका, सं. 1, पृ. 452।

हैं। परवर्ती शैशुनागों, नन्दों और मौर्यों के काल में जैनधर्म निःसंदेह मगध में अत्यन्त प्रभावशाली रहा था। यह बात कि चन्द्रगुप्त ने एक ब्राह्मण विद्वान की युक्ति से राज्य पाया था, इस धारणा से कदापि असंगत नहीं है कि जैनधर्म तब राजधर्म था। जैनगृहस्थानुष्ठानों में ब्राह्मणों से काम लेते हैं, यह एक सामान्य प्रथा ही है और मुद्रा-राक्षस नाटक में जिसको हमने ऊपर उद्धृत किया है, मंत्री राक्षस का विशिष्ट मित्र एक जैन साधू ही बताया गया है, जिसने कि पहले नन्द की और बाद में चन्द्रगुप्त की मंत्री रूप से सेवा बजाई थी।

यदि यह तथ्य कि चन्द्रगुप्त जैन था अथवा जैन हो गया था, एक बार स्वीकृत हो जाता है तो उसके राज्य त्यागने एवम् अन्त में जैनधर्म मान्य संलेखना व्रत द्वारा मृत्यु का आव्हान करने की दन्तकथा भी सहज विश्वासनीय हो जाती है। यह बात तो निश्चित है कि ई. पूर्व 322 अथवा उसकी आसपास चन्द्रगुप्त गद्दी पर जब आया था तब वह एक दम युवान और अनुभवहीन था। 24 वर्ष पश्चात् जब उसके राज्यकाल का अन्त हुआ, तब वह 50 वर्ष से कम ही आयु का होना चाहिए। राज्यत्याग सिवा इतनी कम आयु में उससे दूर भाग जाने का और कोई भी कारण समझ में नहीं आते है। राजवंशियों के ऐसे संसार त्याग के अनेक दृष्टांत उपस्थित हैं और बारह वर्ष का दुष्काल भी स्वीकृत किया जाता है। संक्षेप में जैन दन्तकथा जहां एक ओर स्वस्थान की रक्षा करती है, वहां दूसरा और कोई भी विकल्प हमारे सामने नहीं है।¹

इन दोनों विद्वानों के सिवा भी और विद्वान हैं जो इसी प्रकार का समर्थन करते हैं। श्रवणबेलगोल के जैन शिलालेखों के प्रखर अभ्यासी राइस और नरसिहाचार भी इसी का समर्थन करते हैं।² प्राचीन विद्वानों में श्री एडवर्ड टामस भी कि जिसने ग्रीक साहित्य का इस विषय में विचार किया है इसी को स्वीकार करता है।³ फिर याकोबी कहता है कि “हेमचन्द्राचार्य से ले कर आधुनिक सब विद्वान भद्रबाहु की निर्वाण तिथि वीरात् 170 मानते हैं।”⁴ अपनी गणना के अनुसार ई. पूर्व 297 के लगभग यह तिथि पड़ती है, महान् आचार्य के स्वर्गवास की यह तिथि चन्द्रगुप्त के राज्यकाल ई. पूर्व 321-297 से बराबर मिल जाती है।⁵

जैन साहित्य में इस दन्तकथा के उपरान्त अन्य उल्लेख भी मिलते हैं और वे सब बताते हैं कि चन्द्रगुप्त जैन ही था अथवा बाद में वह जैन हो गया था।⁶ परन्तु हमें इस साहित्यिक मीमांसा में उतरने की यहां आवश्यकता

1. स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ 75-76। “मैं यह विश्वास करने को तैयार हूँ कि...चन्द्रगुप्त ने वास्तव में ही राज्य त्याग दिया था और वह जैन साधू हो गया था।” —स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ. 154। हेमचन्द्र कहता है कि चन्द्रगुप्त समाधिमरणं प्राप्य दिवं ययौ... —हेमचन्द्र, वही, श्लो. 444।
2. राइस ल्यूइस, वही, पृ. 3-9। “हमारा यह मान लेना इसलिए निराधार नहीं है कि चन्द्रगुप्त धर्म से जैन था।” —वही पृ. 8। “उपर्युक्त तथ्यों का निष्पक्ष विचार इस परिणाम पर पहुंचाता है कि जैन दन्तकथा को खड़ा रहने का कुछ आधार अवश्य ही प्राप्त है।” —नरसिहाचार्य, वही, प्रस्तावना पृ. 42।
3. “चन्द्रगुप्त जैनसंघ का एक सदस्य था, यह बात जैन लेखक बिलकुल उदासीन भाव से लेते है और इसे प्रख्यात बात मानकर उसे सिद्ध करने के तर्कादि में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं समझते हैं।...मैगस्थानीज की साक्षी इसी तरह मान लेती है कि चन्द्रगुप्त श्रमणों की भक्ति और उपदेशों का मानने वाला था न कि ब्राह्मणों के धर्म सिद्धान्त का।” —टामस एडवर्ड, वही, पृ. 23। यवन वर्णनों में जैनों के उल्लेख के लिए देखो राइस, ल्यूइस, वही, पृ. 8। 4. याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 13। दिगम्बरों के अनुसार उनकी मृत्यु वीरात् 162 में हुई थी। देखो नरसिहाचार्य, वही, प्रस्ता. पृ. 40।
5. देखो राइस, ल्यूइस, वही, पृ. 7; स्थिम, वही, पृ. 206; नरसिहाचार्य, वही, प्रस्ता. पृ. 41।
6. देखो याकोबी, परिशिष्टपर्वन्, पृ. 61-62।

नहीं है। चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारियों का विचार करने के पूर्व जैनों के दक्षिण प्रयाण की उपयोगिता और चाणक्य के धर्म सम्बन्ध में भी कुछ यहाँ कह दें। यह प्रयाण दक्षिण के जैन इतिहास में एक निश्चित भूमिका हमें प्रदान करता है। इसके सिवा दक्षिण के इतिहास की दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता कुछ कम नहीं है क्योंकि दक्षिण-भारत के इतिहास में इतने ही महत्व का प्राचीन प्रसंग और कोई हो ऐसा मालूम नहीं है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का युग जो स्मिथ की दृष्टि से इतिहासवेत्ता को 'ग्रन्थकार से प्रकाश' में उत्तर-भारत में ले जाता है,¹ दक्षिण भारत के इतिहास में भी वैसा ही है, याने नया युग प्रवर्तक है। यह बात भी कम महत्व की नहीं है कि जिस धर्म ने दक्षिण भारत को प्राचीनतम, यदि सर्वोत्तम नहीं तो, साहित्य प्रदान किया, उसी धर्म ने उसको अपनी सर्व प्रथम विश्वस्त ऐतिहासिक परम्परा भी प्रदान की है।

अब चाणक्य के धर्म का भी संक्षेप में विचार कर लें। जैनों के अनुसार चाणक्य जैनधर्मी था। वह जैन गुरुओं को मान-सम्मान देता था और अपनी वृद्धावस्था में एक नैष्ठिक जैन साधु की ही भांति अनशन कर दिवंगत होने का उसने प्रयत्न किया था।² दन्तकथा है कि 'दुष्ट मन्त्री अपने कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए नर्बदा के तट-स्थित 'शुक्ल तीर्थ' में चला गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई थी। चन्द्रगुप्त भी उसके साथ वहाँ आया था ऐसा कहा जाता है।³ 'शुक्ल तीर्थ' कन्नड़ शब्द 'बेलगोल' जिसका अर्थ 'धवल सरोवर' है, का ही ठीक पर्याय शब्द है। शिलालेख में उसे धवल सरस् कहा गया है जिसका अर्थ धवल सरोवर होता है।⁴ चाहे वह आकस्मिक ही हो, फिर भी यह साम्य अति महत्व का है। सूक्ष्म बातों को छोड़ दें तो श्री हिस डेविड्स की इस बात से इसका मेल खा जाता है कि उपलब्ध भाषा सम्बन्धी और शिलालेखी साक्षियों से जैनों में प्रचलित किम्बदन्ती की सामान्य सत्यता का समर्थन होता है। 'उसने यह भी कहा है कि' यह निश्चित है कि 'उपलम्प्य याजकीय साहित्य में लगभग दस शताब्दियों तक चन्द्रगुप्त बिल्कुल उपेक्षित ही रहा था।'⁵ यह सम्भव लगता है कि ब्राह्मण लेखकों की चुप्पी या उपेक्षा का यही कारण हो कि चन्द्रगुप्त मौर्य सम्राट ने अपने सांसारिक जीवन के अन्तिम दिनों में जैनधर्म स्वीकार कर लिया था।

अन्त में हम चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारियों का भी विचार कर लें। जैन दन्तकथानुसार ये थे विन्दूसार, अशोक, कुणाल और सम्प्रति। शैशुनागों और नन्दों की ही भांति, मौर्यों की वंशानुक्रम सूची में भी बहुत कुछ मतांतर और विभिन्नता है। परन्तु जहाँ तक अशोक की बात है, उसमें कोई भी मत भेद नहीं है। सभी स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त के बाद में उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी विन्दूसार ही था और इस विन्दूसार का अनुगामी उसका पुत्र अशोक। इन दोनों मौर्यों के जैनों के साथ सम्बन्ध के विषय में इतना तो स्पष्ट ही है कि जैनों की साहित्यिक दन्तकथाएं इनके विषय में इतनी प्रखर नहीं है जितनी कि इनके पूर्वज चन्द्रगुप्त और इनके अनुगामी सम्प्रति के विषय में है। फिर भी ये दोनों ही जैनधर्म के प्रति अनुकूल थे, ऐसा मानने के स्पष्ट कारण हैं। अशोक

1. देखो स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 72 ।

2. देखो याकोबी, वही, पृ. 62; जोली, अर्थशास्त्र आफ कोटिल्य, प्रस्तावना पृ. 10-11 । अर्थशास्त्र और जैन साहित्य के सम्बन्ध के विषय में देखिए वही, पृ. 10 । हम देख ही आए हैं कि चाणक्य का पिता ब्राह्मण होते हुए भी पक्का जैन था, ऐसी जैन दन्तकथा हैं। आजकल के ब्राह्मण ईसाइयों जैसी ही यह बात लगती है, फिर भी इसका अर्थ यह तो है ही कि चाणक्य का कुल जन्म से ब्राह्मण और धर्म से जैनी था। एडवर्ड टामस के अनुसार 'यद्यपि हमारा राजा-निर्माता ब्राह्मण था, परन्तु आधुनिक ब्राह्मण अर्थ में वह ब्राह्मण नहीं था।' टामस, एडवर्ड, वही, पृ. 25-26 ।

3. देखो स्मिथ, वही, पृ. 75, टि. 1 ।

4. देखो सरसिहाचार्य, वही, प्रस्ता. पृ. 1 । 5. हिस डेविड्स, बुद्धीस्ट इण्डिया, 164, 270 ।

के पूर्वज बिन्दूसार के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि उसने एण्टीग्रोकोस सोटर के पास दूत भेज कर किसी ग्रीक दार्शनिक के भेजने का सन्देशा पहुंचाया था। और यह भी कि उसने साम्राज्य का विस्तार, उसकी विजयों और उसके पिता के साम्राज्य को दृष्टि में रखते हुए, कम से कम मैसूर के कुछ भागों तक अवश्य ही फैला लिया था।¹ ये दोनों ही तथ्य निरूपयोगी नहीं हैं क्योंकि पहला बिन्दूसार के दार्शनिक प्रेम का दिग्दर्शन कराता है और दूसरा दक्षिण भारत में अशोक के स्तम्भों के प्रचार पर प्रकाश डालता है। ऐसा भी हो सकता है कि मात्र विजय की स्वाभाविक क्षत्रियोचित महा इच्छा के अतिरिक्त अपने पिता चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिनों में पवित्र हुई भूमि मैसूर को जीतने के वह पितृप्रेम से प्रेरित हुआ हो।

पिहल की दंतकथाएं तो यह कहती हैं कि बिंदूसार ब्राह्मण धर्म पालता था। महावंश में अशोक के पिता के विषय में लिखा है कि वह ब्राह्मण धर्म का मानने वाला होने से 60,000 ब्राह्मणों को पालता था।² परन्तु एडवर्ड टामस कहता है कि “अन्य देशों और अन्य समयों के विषय में उनकी साक्षी का कोई ऐसा महत्व नहीं हो सकता है। फिर यह भी एक खास प्रश्न है कि वे ब्राह्मणधर्म के विषय में कितना जानते थे, और यह कि ब्राह्मण शब्द का उपयोग उनकी दृष्टि में, अबोध अथवा बौद्धों का विरोधी कोई भी धर्म अर्थ में ही तो नहीं है। हम वर्तमान दृष्टि से यही कह सकते हैं कि बिंदूसार अपने पिता के धर्म का ही पालन करता था और उसी धर्म में वह चाहे जो भी प्रमाणित हो—अशोक ने भी बचपन में शिक्षा पाई थी।³

इससे अधिक बिंदूसार के धर्म विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। हम देख ही आए हैं कि वह अपने पिता की ही भांति चारुण्य के प्रभाव में था। जैन दंतकथा कहती है कि उसके समय में यह ब्राह्मण मंत्री स्वयम् राजा को अप्रिय हो गया था जिसने उसके स्थान में किसी सुबन्धु को मंत्री नियुक्त कर दिया था।⁴ उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अशोक के विषय में यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि उसका जीवन उसके पिता की भांति अप्रसिद्ध नहीं था। निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साथ उसका सम्बन्ध कैसा था यह बताने के पर्याप्त साधन हैं। अशोक ने अपने राज्यकाल में किस धर्म का पालन किया था यह एक विवादास्पद विषय है, फिर भी उसका जैनधर्म के प्रति रूख कैसा था यह जानने की यहां आवश्यकता है। परम्परागत सागरग्राही वृत्ति की थोड़ी देर के लिए उपेक्षा कर दें तो भी हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि उसके दादा का धर्म होने के कारण उसका उस पर कोई कम प्रभाव नहीं पड़ा होगा, हालांकि महावंश तो यही कहता है कि उसके पिता की ही भांति, अशोक भी ब्राह्मणों को तीन वर्ष दान-दक्षिणादि देता रहा था।⁵ उसकी आज्ञाएं बहुत ही उदात्त हैं और वे सर्वधर्म समभाव की स्पष्ट सूचना देती हैं। फिर भी इस मनोवृत्ति का मूल कदाचित् वही हो जैसा कि सूचित किया गया है।

अशोक बचपन से ही अपने पितामह चन्द्रगुप्त के धर्म से आकर्षित था इस बात को एडवर्ड टामस की यह बात समर्थन करती है कि “अकबर के कुशल मंत्री अबुलफजल ने आईन-ए-अकबरी में काश्मीर के राज्य के लिए तीन आवश्यक तथ्य कहे हैं जिनमें से पहला यह है कि “अशोक ने स्वयम् काश्मीर में जैनधर्म का प्रचार किया

1. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 155-56।

2. पिता सद्विस्सनि ब्रह्मणे ब्रह्मपत्निके मोजेसि। —गीगर, वही, परिच्छेदो 5, गाथा 34।

3. टामस, एडवर्ड, वही, पृ 29। 4. चारुण्य अपने राजा की अप्रसन्नता का भाजन किस कारण से हुआ इसके लिए देखो हेमचन्द्र, वही, श्लोक 436-459।

5. ...सो पीते येवा नि वस्सनि भोजयई। —गीगर, वही और वही स्थान।

था।¹¹ यह प्रस्तुत करते हुए उक्त विद्वान कहता है कि “अशोक के काश्मीर में जैनधर्म प्रचार की बात मुसलमान ग्रन्थकार ही केवल नहीं कहते हैं अपितु राजतरंगिणी में भी यह स्पष्ट स्वीकार करने में आई है। यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से यद्यपि ई. सन् 1148 का रचित माना जाता है। फिर भी उसके ऐतिहासिक विभाग का आधार पद्ममिहिर और श्री छविल्लाकार के अधिक प्राचीन उल्लेख ही हैं।”¹²

इतना होने पर भी विद्वान पण्डित स्वीकार करता है कि अपने सारे राज्यकाल में अशोक आजीवन जैन नहीं रहा था। ऐसा होता तो जैन अवश्य ही उसको अपना प्रतिभाशाली धर्म-संरक्षक न्यायतः घोषित किए बिना कदापि नहीं रहते।¹³ एडवर्ड टामस के अनुसार धीरे धीरे वह बदलता ही गया और अन्त में वह बुद्धधर्म की ओर पूर्णतया झुक ही गया।¹⁴ फिर भी अशोक की बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने की बात सहज में मानी जा सके ऐसी तो नहीं ही है जो कुछ भी कहा जा सकता है वह इतना ही कि समय बीतते अशोक बुद्ध के उपदेश से आकर्षित होता गया था। परन्तु साम्प्रदायिक बाड़े में नहीं रहते हुए वह सर्वदर्शन मान्य नैतिक नियमों का और सिद्धांत रूप धर्म का प्रजा में प्रचार करने लगा। यद्यपि महामान्य हेरास ठीक ही कहते हैं कि ‘पवित्रता और जीवन की शाश्वता के जैन सिद्धांतों का उस पर खास प्रभाव तो पड़ा ही था।’¹⁵

अशोक बौद्धधर्मी नहीं था यह कोई नई बात ही नहीं कही जा रही है। विल्सन¹⁶, मैकफेल¹⁷, फ्लीट¹⁸ मेनाहन¹⁹, और पादरी हेरास¹⁰ तो हम से पूर्व ही यह कह चुके हैं। डा. कन भी कहता है कि ‘कुछ अपवादों

1. देखो टामस, एडवर्ड, वही, पृ. 30-11। “जब कनक के काका के पुत्र अशोक को उत्तराधिकार मिला, उसने ब्राह्मणधर्म को उठा दिया और जैनधर्म को प्रतिष्ठापित कर दिया।” —ज्यैरेट, आइन-ए-अकबरी, भाग 2, पृ. 382; विल्सन, एशियाटिक रिसर्चेंज, सं. 15, पृ. 10।
2. टामस, एडवर्ड, वही, पृ. 32। देखो विलफोर्ड, एशियाटिक रिसर्चेंज, सं. 9, पृ. 96-97।
3. टामस, एडवर्ड, वही, पृ. 24। 4. वही।
5. हेरास, वही, पृ. 272। देखो राक एडिक्ट्स (1, बी), (3, डी), (4, सी), (9, सी), आदि; हल्डज, कारपस इस्क्रिप्शनम इण्डिकारम, पुस्त 1, पृ. 215, 18, 19, आदि (नया संस्करण)।
6. प्रथमतया तो, शिलालेखों के तथाकथित मुख्य लक्ष्य याने बौद्धधर्म में परिवर्तन के विषय में यह शंका करना अकारण नहीं होगा कि वे इस प्रकार के किसी लक्ष्य विशेष से ही प्रसिद्ध किए गए थे, और यह कि उनका बौद्धधर्म से कुछ भी सम्बन्ध है। विल्सन, राएणो पत्रिका, सं. 12, पृ. 236, देखो वही, पृ. 250।
7. देखो मैकफेल, अशोक, पृ. 48। ‘धर्म शब्द चलित अर्थ में ही यही प्रयुक्त है। आज्ञाओं में बौद्धधर्म का पर्यायवाची नहीं है, परन्तु सामान्य दया का ही कि जो अशोक अपनी सब प्रजा को चाहे वह कोई भी धर्म मानती हो, पालन कराना चाहता था।’ वही।
8. देखो फ्लीट, राएसो, पत्रिका, 1908, पृ. 491-492। ‘पहाड़ों और स्तम्भों दोनों ही आज्ञालेखों का प्रत्यक्ष लक्ष्य बौद्ध या किसी धर्म विशेष का प्रचार करना नहीं था, अपितु अशोक का निश्चय घोषित करना था कि शासन नीति और प्रेम से एक धर्मराजा के कर्तव्यानुसार चलाया जाए और सभी धर्मों के विश्वास का सम्मान करते हुए चलाया जाए।...’ आदि। वही, पृ. 492।
9. अशोक के अधिकांश पहाड़ों और स्तम्भों के आज्ञालेखों के सिद्धान्त एकान्त बौद्धधर्म ही नहीं कहे जा सकते हैं। आदि। मेनाहन, अर्ली हिस्ट्री आफ बेंगाल, पृ. 214।
10. चौथी, पांचवीं और छठी सदी के बौद्ध इतिवृत्तों ने अनेक विद्वानों को भ्रमित कर दिया है...। उनमें बौद्धों के गहन सिद्धांतों का जरा भी उल्लेख नहीं है। हेरास, वही, पृ. 255, 271।

के सिवाय उसके शिलालेखों में बौद्धों का खास कुछ भी नहीं है।¹ 'धर्म में जो केवल बौद्धों को ही लागू हो ऐसा कुछ भी नहीं होता है' ऐसा कहते हुए सेनार्ट भी इस प्रकार कहता है कि 'मेरी राय में हमारे स्मारक (अशोक के लेख) बौद्धधर्म की उस स्थिति के साक्षी हैं कि जो परवर्ती काल में विकास प्राप्त [धर्म से भावप्रवणरूपे भिन्न है।'² यह आधार विहीन कल्पना ही है। परन्तु ऐसा ही विरोध हुल्डज ने भी बताया है। वह कहता है कि उसकी सब नैतिक घोषणाएं 'उस बौद्ध सुधारक के रूप में बताती ही नहीं हैं'; फिर भी 'यदि हम जिसे वह अपना धर्म कहता है इसकी परीक्षा करने का यत्न करें तो मालूम होता है कि उसका धर्म उस बौद्ध नैतिकता के चित्र से एक दम मिलता हुआ है कि जो धम्मपद के सुन्दर संग्रह में सुरक्षित है।'³ सेनार्ट और हुल्डज दोनों ही के ये वक्तव्य उन्हीं वक्तव्यों के अनुरूप उद्भव हुए हैं कि जिनके करनेवाले अशोक को बौद्धधर्म का प्रचारक कहते हैं।⁴

भिन्न भिन्न विद्वानों की दृष्टि से अशोक के आज्ञा-स्तम्भों और शिलालेखों को देखते हुए भी कहा जा सकता है कि तथ्यों की दृष्टि से वे यह कुछ भी नहीं कहते हैं कि अशोक बौद्ध ही था अथवा हो गया था। अब हम उसके लेखे ही की निरीक्षा इस दृष्टि से करेंगे कि उस पर निर्ग्रन्थ सिद्धांत का कहां तक प्रभाव पड़ा था। कोई भी ऐसा देश नहीं है, अशोक कहता है, कि 'जहां दो वर्ग याने ब्राह्मण और श्रमण नहीं हों। योनस देश ही इसका अपवाद है।'⁵ परन्तु ये 'श्रमण' कौन थे? हुल्डज उन्हें बौद्ध-भिक्षु⁶ कहता है हालांकि इसका कोई भी कारण नहीं है कि इसका इतना संकुचित अर्थ लगाया जाए या व्याख्या की जाए।

'श्रमण' का सामान्य अर्थ तपस्वी या भिक्षु है। इस शब्द को जैन बौद्धों के पूर्व से ही प्रयोग करते आए हैं। ग्रीक ग्रन्थों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। और इसका समर्थन अन्य विद्वानों द्वारा भी, जैसा कि पहले ही दिखाया जा चुका है, किया गया है।⁷ जैनों की एक प्राचीन प्रतिज्ञा या व्रत इस प्रकार का है :— 'मैं बारहवें अतिथि-संविभाग-व्रत की प्रतिज्ञा स्वीकार करता हूं जिससे मैं श्रमण या निर्ग्रन्थ को उन्हें कल्प्य चौदह निर्दोष वस्तुएं देने की प्रतिज्ञा करता हूं।' आदि आदि।⁸ कल्पसूत्र भी इसी प्रकार 'आधुनिक निर्ग्रन्थ श्रमण' का ही वर्णन करता है।⁹ दक्षिण के प्रथम दिगम्बर ग्रंथकर्ता कुन्दकुन्दाचार्य भी अपनी सम्प्रदाय के साधुओं के लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं।¹⁰ परन्तु सबसे विशिष्ट बात तो यह है कि बौद्ध स्वयम् निर्ग्रन्थों को 'श्रमण' शब्द से वर्णन करते हैं क्योंकि अंगुत्तरनिकाय में लिखा है कि "अरे विशाख...। एक श्रमणों का वर्ग है कि जो निर्ग्रन्थ कहा जाता है।"¹¹ बौद्धों से पूर्व का ही यह जैनों का प्रचलित शब्द है यह इस बात से भी निश्चय पूर्वक प्रमाणित हो जाता है कि बौद्ध अपने को 'शाक्यपुत्रीय समण' कहते हुए अपने को 'निर्गन्ठ समणों' से जो कि पहले से ही चले आ रहे थे, अलग घोषित करते थे।¹²

अशोक बौद्धों के ही विषय में जब कहता है तो संघ शब्द का ही वह उपयोग करता है। स्तम्भ आज्ञा 7वीं में वह कहता है कि "कितने ही महामन्त्रों को संघ के काम की व्यवस्था के लिए मैं आज्ञा देता हूं, अन्य कितनों

1. कर्न, मैन्युअल आफ इण्डियन बुद्धिधर्म, पृ. 112।
2. सेनार्ट, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 20, पृ. 260, 264-265।
3. हुल्डज, वही, प्रस्तावना पृ. 49।
4. देखो हेरास, वही, पृ. 201।
5. हुल्डज, वही, पृ. 47 (जे)।
6. हुल्डज, वही, प्रस्तावना पृ. 1।
7. देखो राइस, ल्यूइस, वही, पृ. 8।
8. श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 218।
9. याकोबी, सेबुई, पुस्त. 22, पृ. 297।
10. देखो भण्डारकर, वही, पृ. 99-100।
11. देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, प्रस्ता. पृ. 17। कामता प्रसाद जैन का "दी जैन रेफरेंसेज इन बुद्धिस्ट लिटरेचर" लेख जो इंडिस्टोरिकल त्रैमासिक अंक 2, पृ. 698-709 में प्रकाशित भी देखो।
12. देखो ह्लिस डेविड्स, वही, पृ. 143।

ही को ब्राह्मण तथा आजीवकों के काम की व्यवस्था का काम देता हूँ, अन्य को निर्ग्रन्थों के काम की व्यवस्था के लिए आज्ञा देता हूँ और शेष को...अन्य दार्शनिकों की व्यवस्था के लिए सूचना करता हूँ।”¹

ब्राह्मण, आजीवक, निर्ग्रन्थ आदि सब का इस प्रकार स्वतन्त्र उल्लेख यही बताता है कि ये सब संघ की अपेक्षा से एकदम भिन्न थे। अन्य स्थलों पर श्रमणों के ब्राह्मणों के साथ ही गिना दिया गया है।² उपर्युक्त आज्ञा में श्रमणों का अप्रयोग इसी प्रकार समझाया जा सकता है कि यहाँ आजीवक और निर्ग्रन्थ शब्द प्रयुक्त हुए हैं कि जो दोनों ही, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संघ से पृथक हैं।

वस्तुतः जैन और अन्य धर्मों के प्रति अशोक का भुकाव इन शब्दों से स्पष्टतया जाना जा सकता है कि “मम मनुष्य मेरे बालक हैं। जैसा मैं अपने निजी बालकों के लिए चाहता हूँ कि उन्हें इहलोक और परलोक दोनों ही का कल्याण प्राप्त हो, वैसे ही मैं सब मनुष्यों को वह प्राप्त हो, ऐसा चाहता हूँ।”³ इसी प्रकार और भी स्पष्ट शब्दों में वह कहता है कि “मैं उसी रीति से सब वर्णों और वर्गों का ध्यान रखता हूँ। और सभी धर्म-सम्प्रदाय मुझ से अनेक प्रकार का मान-सम्मान प्राप्त कर चुके हैं।”⁴

उत्तर और दक्षिण में “बौद्धों, ब्राह्मणों, आजीवकों और निर्ग्रन्थों एवम् अन्यो की सार-सम्हाल के लिए” अशोक धर्म-महामात्रों की नियुक्तियाँ की थी।⁵ उसकी असम्प्रदायिक नीति निम्न शब्दों में स्पष्ट रूप से प्रकट होती है :—

महाराज कहते हैं कि “जो कोई अपनी सम्प्रदाय के लिए अन्धश्रद्धा से अभिमान करता है और दूसरे की सम्प्रदाय की निंदा करता है वह अपनी सम्प्रदाय की निंदा करता है वह अपनी सम्प्रदाय की बड़ी से बड़ हानि करता है।”⁶

बराबर की गुफा के शिलालेखों की विवेचना करते हुए स्मिथ कहता है कि “ये सब लेख महत्व के हैं और वे स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि अशोक की हार्दिक इच्छा और आज्ञा सब सम्प्रदायों को मान देने की थी।⁷ उसके अन्य शिलालेखों के लिए भी यही कहा जा सकता है। हालाँकि उसके उदार शासन काल में उत्तर-भारत में जैनधर्म की स्थिति की कोई सीधी साक्षी उपलब्ध नहीं है फिर भी उपरोक्त वक्तव्य और अवलोकन चन्द्रगुप्त के महान् उत्तराधिकारी का उस धर्म के प्रति जिसे उसने, पहले नहीं तो भी गौरवशील राज्य के सायंकाल में स्वीकार कर लिया था, रूख प्रदर्शित करने को पर्याप्त है।

इस वक्तव्य की परंपरागत असर का अनुमान अशोक के पौत्र सम्प्रति के आर्य सुहस्तिन द्वारा जैनी बनाए जाने की बात से समर्थित होता है।⁸ सम्प्रति की जैनधर्म के प्रति भक्ति और श्रद्धा का विचार करने के

1. दिल्ली-तोपड़ा स्तम्भ आज्ञा लेख 7; हुल्ट्ज, वही, पृ 136 (जैड)।
2. देखो पर्वत-आज्ञालेख, (3, डी), (4, सी), (9 जी), (11, सी), (13, जी), और स्तम्भ आज्ञालेख 7 (एच एच); देखो हुल्ट्ज, वही, प्रस्ता. पृ. 1।
3. भिन्न-भिन्न पहाड़ी आज्ञापत्र—जूनागढ़, 1 (एफ. जी.), 2 (ए. एफ.); देखो हुल्ट्ज, वही, पृ. 114-7।
4. दिल्ली-टोपड़ा स्तम्भ आज्ञालेख 6 (डी. ई.), देखो हुल्ट्ज, वही, पृ. 129; प्रस्ता. पृ. 48।
5. वही, प्रस्तावना पृ. 40।
6. गिरनार पर्वत आज्ञालेख, 12 (एच); देखो हुल्ट्ज, वही, पृ. 21।
7. स्मिथ, वही, पृ. 177। देखो हुल्ट्ज, वही, प्रस्तावना पृ. 48।
8. देखो याकोबी, परिशिष्टपर्वन्, पृ 69; भण्डारकर, वही, पृ. 135।

पूर्व अशोक का सीधा उत्तराधिकारी कौन था, यह विचार करना हमें आवश्यक है । दुर्भाग्य से जैसा कि डॉ. रायचौधरी कहते हैं" किसी कौटिल्य या मैगस्थनीज ने परवर्ती मौर्यों के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है । एक या दो शिलालेख तथा कुछ ब्राह्मण, जैन और बौद्ध ग्रन्थों के सामान्य तथ्यों से अशोक के उत्तराधिकारी का सविस्तृत इतिहास संकलन करना असम्भव है ।"¹

पुराण भी एक मत नहीं है कि अशोक का उत्तराधिकारी कौन था । भिन्न-भिन्न प्रमाणों के विरोधी कथनों का समा मिलन करना सरल काम नहीं है । फिर भी अशोक के पुत्र कुनाल की वास्तविकता सभी स्वीकार करते हैं ।² उसके परिवर्तियों की दन्तकथाएं भिन्न-भिन्न हैं । कुनाल किन विचित्र संयोगों में ग्रन्था हो गया था और "राज-व्यवस्था के लिए स्वयम् अशक्त होने पर उसने अपने प्रिय पुत्र सम्प्रति याने जैन अशोक को उसके लिए नियुक्त कराया, इसका रोचक वर्णन हेमचन्द्र से हमें मिलता है । इस सम्प्रति को जैन और बौद्ध दोनों ही लेखक अशोक का अनन्तर उत्तराधिकारी मानते हैं ।"³

अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति को मान लेने में बस एक ही कठिनाई हमारे सामने उपस्थिति होती है और वह है दशरथ की यथार्थता कि जिसने, जैसा कि हम पहले ही देख आए हैं, नागार्जुनी पहाड़ी की गुफा आजीविकों को भेट की थी । इस कठिनाई का एक सम्भव स्पष्टीकरण यही दीखता है कि अशोक के पौत्रों के रूप में दोनों ही ने एक ही समय में राज्य किया होगा । हालांकि सम्प्रति अशोक का सीधा ही उत्तराधिकारी था अथवा यह कि बौद्ध एवम् जैन दोनों ही ने दशरथ की उपेक्षा कर दी है । इन दोनों सम्भावनाओं में पहली बहुतांश में वास्तविक लगती है क्योंकि सम्प्रति का नाम मगध की राजवंशावली में सर्वानुमति से सम्मिलित हुआ है ।⁴

इस प्रकार इस बात में जरा भी मन्देह नहीं है कि सम्प्रति मौर्य सभ्राटों में इतना महान् था कि सब ने उसका नाम मगध राजवंशावली में गिनाया है । उसके जैनधर्म के प्रति उत्साह के विषय में निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत के जैन इतिहास में देदीप्यमान नक्षत्रों में से वह भी एक है । जैनधर्म प्रसार के विषय में जैन उल्लेखों में सम्प्रति का उतना ही ऊँचा नाम है जितना कि बौद्ध उल्लेखों में अशोक का है । स्मिथ कहता है कि सम्प्रति जैनधर्म का प्रचार करने में उतना ही उत्साही था जितना कि अशोक गौतम के बुद्धधर्म प्रचार में था ।⁵

1. रायचौधरी, वही, पृ. 220 ।

2. देखो पार्जोटर, वही, पृ. 28, 70; कोव्यैल एण्ड नील, वही, पृ. 430; कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र 163; रायचौधरी, वही पृ. 221 । 3. देखो याकोबी, वही, पृ. 63-64; कोव्यैल एण्ड नील, वही, पृ. 433; रायचौधरी, वही, वही, पृ.; भण्डारकर, वही, वही पृ. ।

4. सम्प्रति के विषय की बौद्ध और जैन दन्तकथाओं का निर्देश पिछले टिप्पण में किया जा चुका है । परा दन्तकथा के लिए देखो पार्जोटर, वही, पृ. 28, 70 । देखो रायचौधरी, वही, पृ. 220 । "संभव है कि दशरथ और सम्प्रति दोनों ही में साम्राज्य बांट दिया गया हो ।" -स्मिथ, वही, पृ. 230 ।

5. स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 117 और टि. 1 । देखो भण्डारकर, वही, वही स्थान; संश्रुति... पिता महदत्तराज्यो रथयात्रापवृत्त श्री आर्यसुहस्तिनदर्शनाज्जात्जातिस्मृतिः...जिनालय सपादकोटि...अकरोत । कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र 6 पृ. 163 । प्रायः सारे प्राचीन जैन मन्दिर या अज्ञात-मूल स्मारक सभी एक स्वर से सम्प्रति निर्मित कहे जाते हैं कि जो वास्तव में जैन अशोक के समान ही माना जाता है । -स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 202 ।

सम्प्रति के जैनधर्म के प्रति उत्साह के विषय में आचार्य हेमचन्द्र संक्षेप में इस प्रकार कहते हैं, 'सारे जम्बू-द्वीप में जैन मन्दिर उसने कराए। उज्जयिनी में आर्य सुहस्तिन की स्थिरता के समय उनके नेतृत्व में धार्मिक पर्व के निमित्त से अर्हत् की रथयात्रा का उत्सव मनाया गया था। उस प्रसंग में राजा और प्रजा दोनों ने ही बड़ी श्रद्धा और भक्ति बताई थी। सम्प्रति के आदेश और कार्य से उनके अधीन राजों ने भी जैनधर्म स्वीकार करने और उसे उत्तेजन देने में उत्साहित हुए थे। इससे अपने राज्य के अतिरिक्त आसपास के देशों में भी साधु अपना धर्म पालन कर सकते थे।'¹

हमारे जानने की इस सम्बन्ध में अति महत्व की बात तो यह है कि सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचारक दक्षिण भारत में भी भेजे थे और जो ऐसे प्रचारक उधर गए वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही थे।² हेमचन्द्र को ही उद्धृत करें तो 'असभ्य असंस्कृत देशों में उन प्रचारकों के कार्य को व्यापक बनाने के लिए सम्प्रति ने जैन साधु के वेश में दूतों को भेजा था। उनसे लोगों को साधुओं के कल्प्य आहार, पानी आदि अन्य आवश्यकताओं की पूरी पूरी समझ दी और तहसीलदार को दिए जानेवाले सामान्य कर के एवज साधुओं को ये वस्तुएं दान देने की, जब भी वे वहां पहुंचें, आज्ञा दी। इस प्रकार मार्ग तैयार करके उसने आचार्य श्री को साधुओं को अन्य देशों में भेजने की प्रार्थना और प्रेरणा की क्योंकि उनके वहां रहने में किसी भी प्रकार की असुविधा अब नहीं रह गई थी। इस प्रकार आंध्र और द्रमिल देश में उसने धर्म प्रचारक साधु भिजवाए और उन्हें राजा की आज्ञानुसार सब सुविधाएं मिली। इस प्रकार अनार्य प्रजा जैनधर्मी बनी।'³

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सम्प्रति के अनार्य देशों में भेजे हुए जैनधर्म प्रचारकों का महत्व यह है कि दक्षिण में श्वेताम्बर संघ सम्बन्धी सबसे प्रथम उल्लेख हमें यहीं मिलता है। इसलिए पूर्व प्रकरण में कहे गए महान् विदेश गमन जितना ही महत्व का यह भी प्रसंग है। सुहस्तिन श्वेताम्बर जैन थे यह इसी से सिद्ध है कि दिगम्बर पट्टा-वालियों अथवा गुरुओं की वंशावलियों में इनका कोई नाम नहीं है।⁴ इस धर्म प्रचारकों को खाम श्वेताम्बर कहने का कारण यह है कि जैन धर्म में दिगम्बर-श्वेताम्बर पंथभेद महान् विदेशगमन और सुहस्तिन-महागिरि दन्तकथा दोनों ही से सम्बन्धित है। हमें यह भी उल्लेख मिलता है कि आर्य सुहस्तिन के उपदेश से सम्प्रति ने जैनधर्म अंगीकार किया था। और जब आर्यमहागिरि ने यह जाना तो वे दशार्णभद्र के वन में चले गए क्योंकि 'उनकी साधुओं को कठिन साध्वाचार पालन की ओर उन्मुख करने की सारी आशाओं पर पानी इससे फिर गया था।'⁵ इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्प्रति के राज दरबार में विजयी हो गया।

जैन इतिहास की दृष्टि से मगध की महत्ता का यहां अंत हो जाता है। मौर्यों के अन्त एवं शुंगों की विजय के साथ कलिंग देश इस इतिहास का केन्द्र बन जाता है। मगध की सर्वोपरि सत्ता के पतन से कलिंग किमी अंश में वह स्थान प्राप्त करने में विजयी हो जाता है। खारवेल के समय में शक्तिशाली कलिंग मगध को भारी हो गया

1. याकोबी, वही, पृ. 69।
2. देखो मण्डारकर, वही और वही स्थान। इसके सम्बन्ध में जिन प्रभसूरि के पाटलीपुत्रकल्प में लिखा है: पाटलीपुत्र में महान् मम्राट सम्प्रति, कुणाल का पुत्र, तीन खण्ड का अधिपति, महान् अर्हत् जिसने अनार्य देशों में भी श्रमणों के लिए विहार बनवाए थे, राज्य करता था।—देखो रायचौवरी, वही, पृ. 222।
3. देखो याकोबी, वही और वही स्थान।
4. देखो हरनोली, इण्ड. एण्टी., पुस्त. 21, पृ. 57-58; और क्लोट, वही, पुस्त. 11, पृ. 251।
5. श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 74। देखो बड़ोदिया, हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑफ जैनीज्म, पृ. 55।

था और सद्भाग्य से थोड़े समय के लिए जैन इतिहास में उसने उतना ही महत्व का कार्य भी किया था। सम्प्रति के बाद मौर्यवंश अधिक दिन टिका नहीं रहा था यह निश्चित है। जो भी राजा उसके बाद हुए होंगे वे निर्बल ही होंगे क्योंकि जैसा हम देख आए हैं और आगे भी देखेंगे, मौर्य सेनापति ने अन्तिम मौर्य राजा को निर्दयता से मार कर मगध का सिंहासन हड़प लिया था।

फिर भी प्रतिभासम्पन्न मौर्यवंश के पतन के कारणों में उतरना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। इतना भर कह देना ही पर्याप्त है कि मौर्य अशोक की कलिग विजय भारत और मगध के इतिहास में एक महान् लाक्षणिक प्रसंग था। इससे मगध साम्राज्य तमिल को छोड़ सारे भारत भर फैल गया था। बिंबसार ने विजय कर अंग देश खालसा कर विक्रय यात्रा प्रारम्भ की और उस साम्राज्य का उत्कर्ष काल अब यहां अंत हो गया। एक नए युग को उसने जन्म दिया शांति, सामाजिक उन्नति और धार्मिक प्रचार का एक नया युग यद्यपि प्रारम्भ हुआ, परन्तु राजकीय जीवन की मंदता और कदाचित् सैनिक अदक्षता का भी ऐसा युग प्रारम्भ हो गया कि जिसमें मगध साम्राज्य की सारी वीरता या वीर वृत्ति अभ्यास के अभाव के कारण मर गई। दिग्विजय का युग समाप्त हो गया था। धर्म विजय का युग प्रारम्भ हो गया था और इसके फल स्वरूप मगध साम्राज्य पर से मौर्य सार्वभौम सत्ता का लोप और अन्त हुआ।



चौथा अध्याय

कलिंग—देश में जैनधर्म

“कलिंग-देश में जैनधर्म” से यहां प्रमुख रूप से खारवेल के राज्यकाल में जैनधर्म का इतिहास ही अभिप्रेत है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि खारवेल से पूर्व कलिंग-देश में जैनधर्म के कोई चिन्ह ही नहीं थे। ऐसा कहने से तो हाथीगुंफा के शिलालेख, ई. पूर्व पांचवीं और चौथी शती के स्मारकों से वहां के स्थापत्य और शिल्प की सभ्यता एवम् जैनगर्भों में अत्यन्त पूज्य ग्रन्थ में से निकलने वाले निष्कर्षों से ही इन्कार करना हो जाएगा। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि खारवेल के हाथीगुंफा के और उसी की रानी के स्वर्गपुरी के शिलालेख के अतिरिक्त कोई भी अन्य साधन हमें उपलब्ध नहीं है कि जिनके निश्चित आधार पर हम इस देश के जैन इतिहास के अपने अनुमान खड़े कर सकते हैं।¹

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि महावीर के बाद होने वाले शैशुनाग, नन्द, मौर्य और अन्य राज्यवंशों के अनेक राजों, जैन दन्तकथाओं और इतिहास के अनुसार, अपने-अपने समय में जैनधर्म का या तो अनुयायी थे या उसके सहायक। इसमें सन्देह नहीं कि ये दन्तकथाएं और इतिहास अनेक जैन और अजैन लेखकों द्वारा समर्थित हैं, फिर भी विशुद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों की दृष्टि से सिवा एक चन्द्रगुप्त के और कोई भी राजा उस महान् चेदी सम्राट खारवेल से तुलनीय नहीं है कि जो उसके ही एक शिलालेखानुसार, जैनधर्मी था।

यह सम्राट खारवेल कब, कहां और कितने समय तक राज करता रहा था और वह जैन था या नहीं, इसका प्रमुख ऐतिहासिक प्रमाण तत्कालीन हाथीगुंफा का वह शिलालेख ही है। वह कलिंग का एक महान् सम्राट था इस तथ्य को यद्यपि अस्वीकार नहीं किया जा सकता है फिर भी उस कलिंग-देश की सीमाएं क्या थीं, यह ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता है। मौर्य साम्राज्य के पतन पर कलिंग ने उसके नेतृत्व में विप्लव किया और स्वतन्त्र हो गया था। तिलंगाना के उत्तर बंगाल की खाड़ी के किनारे-किनारे लगा हुआ और पूर्वीघाट के बीच के क्षेत्र को कलिंग की सीमा कहना उचित नहीं मालूम होता है।² भूमि की वह पट्टी जो बंगाल की खाड़ी के सहारे

1. प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट समझ लेने की बात है कि कलिंग में जैनधर्म की कालक्रमानुसार उन्नति की खोज करना व्यवहारतया असम्भव है और वस्तुतः वह वांछनीय भी हमारे उद्देश के लिए नहीं है। हमारे लिए तो इतना ही आवश्यक है कि आज उपलब्ध प्राचीन व अर्वाचीन, ऐतिहासिक स्मारकों को लेकर उस युग के समकालिक ऐतिहासिक वातावरण को यथा संभव ध्यान में रखते हुए ही उनसे अपने निष्कर्ष हम निकालें।
2. चेदियों के सम्बन्ध में हम जानते हैं कि वैदिक और आर्य काल में वह एक सुप्रसिद्ध राजवंश था जो कि महाकोसल से जहां कि वे परवर्ती इतिहास में भी पाए जाते हैं, उड़ीसा में आया था। “यह सुनिश्चित है कि इन चेदियों की एक गादी अति प्राचीन काल में उड़ीसा के आस पास कहीं थी।” —बिउत्रा पत्रिका, सं. 1 पृ. 223।
3. कैहिंड, भाग 1, पृ. 601।

सहारे और उत्तर में गोदावरी से ऊपर फैली हुई है, प्राचीन काल में कलिंग कहलाती थी। स्थूल रूप में भारत का वह भाग जिसे आजकल उड़ीसा और गंजम प्रदेश कहा जाता है, इसके अन्तर्गत माना जा सकता है।

खारवेल का यह शिलालेख 'भारत के प्राचीन स्मारकों में से एक महान् विशिष्ट स्मारक होते हुए भी अत्यन्त जटिल है।¹ भगवान् महावीर के अनुयायी प्राचीनतम राजों में से किसी भी राजा का शिलालेख में मिलने वाला नाम एक सम्राट खारवेल का ही है। मौर्य समय के बाद के राजों और उस समय के जैनधर्म के प्रताप की दृष्टि से खारवेल का यह शिलालेख देश में उपलब्ध एक महत्व का ही नहीं अपितु एक मात्र लेख है। जैन इतिहास की दृष्टि से तो यह अनुपम है, परन्तु भारतीय राजसिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसकी अग्रगत्या अपूर्व है।

श्री आसुतोप मुकर्जी के शब्दों में 'ऐतिहासिक शोधखोज के साधन रूप लिपिशास्त्र के क्षेत्र में जो भूली हुई अद्भुत लिपि में लिखे लेख खोज निकाले गए हैं और उनसे भूतकाल का द्वार जो उन्मुक्त हुआ है उनमें सम्राट खारवेल का हाथीगुफा का शिलालेख हमारा बहुत ही ध्यान आकर्षित करता है। ई. पूर्व दूसरी सदी के लिखे इस लेख में उड़ीसा के इस सम्राट की बाल्यावस्था से 30 वर्ष अर्थात् उसके राज्यकाल के तेरहवें वर्ष तक का वृत्तान्त है। यह लेख एक चट्टान पर उत्कीर्णित है और ई. 1825 में श्री स्टर्लिंग की प्राथमिक खोज के बाद साँ वर्ष से बराबर ज्ञात है और तब से अध्येताओं द्वारा यह अध्ययन भी किया जाता रहा है। उसके द्वारा जो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है वह विशेष महत्व की है क्योंकि उसमें उस समय के मगध के राजा, मथुरा के ग्रीक राजा, गोरथगिरि (बराबर की टेकरियां) और राजगृह का गढ़, पाटलीपुत्र के गांगेय स्थान और दक्खन के राजा सातकर्णी का उल्लेख है। ब्राह्मी लिपि में लिखे अशोक के शिलालेखों से दूसरे नम्बर के, और ई. चौथी सदी के समुद्रगुप्त के शिलालेखों की समान-श्रेणी के इस शिलालेख की खोज से अनेक और फलप्रद अभ्यसनीय परिणाम निकले हैं।²

भारत में बनारस और पुरी दो अत्यन्त महत्व के तीर्थधाम हैं जो प्रजा की अविस्मरणीय स्मृति में संगृहित ऐतिहासिक घटनाओं और पावनता दोनों ही दृष्टि से प्रसिद्ध हैं। प्रजा की आंतरिक भक्ति अनेक प्रकार से यहां ही प्रगट हुई है और यहां ही प्रजा की बुद्धि और हादर्य का समानान्तर रीति से विकास हुआ है।

हमारे यह मानने के अनेक कारण हैं कि उड़ीसा कि जो अब हिन्दूधर्म का उद्यान उसके जगन्नाथ रूपी यरूशलम के कारण है³ तीसरी सदी ई. पूर्व से ई. पश्चात् आठवीं या नवीं सदी तक बौद्ध और जैनों का प्रभाव-शाली केन्द्र रहा था। बौद्धधर्म ने महान् मौर्यराज अशोक की कलिंग विजय के समय याने ई. पूर्व 262 से यहां अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया था⁴; परन्तु उसके मरते ही मौर्य सम्राज्य शीघ्रता से क्षीण होने लगा और मौर्यों के राजपुरोहित एवं ब्राह्मण प्रतिक्रियावादियों के महान् संवल पुष्यमित्र ने राजगद्दी हड़प कर बौद्धधर्म को भारतवर्ष में बहुत भारी धक्का दिया।⁵ परन्तु वह भी साम्राज्य का आनन्द निष्कण्टक नहीं भोग सका। दक्षिण में महान् अंधवंश के साथ साथ मौर्य साम्राज्य के पश्चात् जो दूसरा राजवंश उठा वह था महामेघवाहन खारवेल

1. वही, पृ. 534 ।

2. विउप्रा पत्रिका, सं. 10, पृ. 9-10 । 3. बंएसो, पत्रिका भाग 28, सं. 1 से 5 (1859) पृ. 186 ।

4. गंगूली, उड़ीसा एण्ड हा रिमेंस, -एंडो ट एण्ड मैडीवल, पृ. 17 ।

5. मजुमदार, हिन्दू हिस्ट्री, 2य संस्करण, पृ. 636 ।

के नेतृत्व में सुप्रख्यात चेदि वंश जिसका पूर्वी समुद्रतट का समतल प्रदेश निवास स्थान था। यह चेदिवंश उत्तर के ब्राह्मण-प्रतिक्रियावादियों को अच्छा प्रत्याघाती सिद्ध हुआ।¹

इस प्रकार ई. पूर्व दूसरी सदी में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों ही धर्म कलिंग में चल रहे थे परन्तु जैनधर्म को राजधर्म होने का सौभाग्य प्राप्त था। चीनी-पर्यटक ह्यूएनत्सांग जिसने कि ई. 629 से 645 तक कलिंग का भ्रमण किया था, जैनों की तब वहां बड़ी संख्या बताते हुए उसे जैनधर्म का गढ़ कहा है। वह कहता है कि 'वहां अनेक प्रकार के नास्तिक थे परन्तु उनमें अधिक संख्या निर्ग्रन्थों (नी-किन के अनुयायी) की थी।'²

मातृभूमि मगध में से दक्षिण-पूर्व की ओर कलिंग तक हुई जैनधर्म की यह स्पष्ट प्रगति है। उड़ीसा के सम्राट खारवेल और उसकी सम्राज्ञी के खण्डगिरि पर के दो शिलालेख जैनों की इस प्रगति को प्रमाणित करते हैं और इस ऐतिहासिक सत्य को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यह सम्राट ई. पूर्व दूसरी शती के मध्य में याने ई. पूर्व 183 से 152 में भारतवर्ष के पूर्वी तट पर राज्य करता था।³ उदयगिरि और खण्डगिरि पर की अन्य गुफाएं एवं मन्दिरों के ध्वंसावशेषों से भी इसका समर्थन होता है। यह दोनों टेकरियां भुवनेश्वर के उत्तर पश्चिम में पांच मील की दूरी पर हैं और दोनों ही उस गिरिवर्त्म द्वारा पृथक पृथक कर दी गई हैं कि जो भुवनेश्वर से वहां पहुंचने के मार्ग की सलगता में है। फिर उन टेकरियों में रहनेवाली अनेक जातियों के नाम जो कि निम्न जातियों में भी निम्न आज मानी जाती है, जैनों के प्राचीन ग्रंथ अंग और उपांग में मिलते हैं और वहां इन जातियों की भाषा को म्लेच्छ भाषा बताया है।⁴

उपरोक्त अभिलेखों में प्रथम और सब से बड़ा खारवेल का शिलालेख है और उसका प्रारम्भ जैन पद्धत्यानुसार मंगलाचरण से हुआ है। उड़ीसा में जैनधर्म प्रवेश होकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के 100 वर्ष पश्चात् ही जैनधर्म वहां का राजधर्म भी बन गया था यह सब इस शिलालेख से प्रमाणित होता है। स्वर्गपुरी का दूसरा लेख यह प्रमाणित करता है कि खारवेल की प्रधान महिषी ने कलिंग में श्रमणों के लिए एक मन्दिर और गुफा बंधवाई थी।

हाथीगुफा शिलालेख का सूक्ष्म विचार करने के पूर्व आस-पास के खण्डरों से हमें क्या सूचना मिलती है उसका हम विचार कर लें। जिला गजेटीयर याने विवरणिका के अनुसार यह निश्चित बात है कि मौर्य सम्राट अशोक के समय में अनेक जैन यहां बस गए थे क्योंकि उदयगिरि और खण्डगिरि की रेतिया पत्थर की टेकरियां उनके तपस्वियों के विश्रामस्थान रूप अनेक गुफाओं से घिरी हुई हैं जिनमें से कुछ में मौर्य युग की ब्राह्मी अक्षरों में शिलालेख हैं। ये सब गुफाएं जैनों के धार्मिक उपयोग के लिए ही बनाई गईं मालूम होती हैं क्योंकि अनेक सदियों तक जैन साधुओं ने उनका उपयोग किया था ऐसा लगता है।⁵

यहां यह कह दें कि उड़ीसा में बौद्ध और जैन काल की स्थपित प्रगति में गुफा मन्दिर एक प्रमुखता थी।⁶ हम बौद्ध और जैन दोनों की बात इसलिए करते हैं कि खण्डगिरि की कुछ गुफाओं जैसे कि रानीगुफा और अनंत-

1. कंहिड़, भाग 1, पृ. 518, 534। 2. बील, सी-यू-को, भाग 2, पृ. 208।

3. बिउप्रा, पत्रिका, सं. 13, पृ. 244।

4. म्लिनी के सुआरो और प्टोलमे के सबराई रूप में इनकी पहचान की गई है। जैन साहित्य सन्दर्भ के लिए देखो व्यैवर, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 19, पृ. 65, 69; पु. 20, पृ. 25, 368, 374।

5. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटीयर, पुरी, पृ. 24। 6. गंगूली, वही, पृ. 31।

गुफा, में बो-वृक्ष, बौद्ध त्रिशूल, उत्सर्गित स्तूप, विशिष्ट स्वस्तिक चिन्ह आदि आदि बौद्ध प्रतीक बहुत ही स्पष्ट दीख पड़ते हैं।¹

यह प्रभाव ई. पूर्व 5वीं सदी से लेकर ई. पश्चात् 5वीं या 6ठी सदी तक बराबर देखा जाता है। इसका समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि दोनों खण्डगिरी और उदयगिरि पहाड़ियां जो कि खण्डगिरि नाम से ही प्रसिद्ध हैं, गुफाओं या कोटडिगियों से परिपूर्ण हैं जिनमें से 44 उदयगिरि में, 19 खण्डगिरि में और 3 निलगिरि में हैं।² उनकी संख्या, आयु और तक्षणशिल्प उन्हें पूर्वी भारत के प्रमुख दर्शनीय स्थान बना देते हैं। प्राचीन काल में इनमें बौद्ध और जैन भिक्षु या श्रमण रहते थे और उनमें से कई, प्रतनलिपिविद्या लक्षणों से, ई. पूर्व दूसरी या तीसरी सदी की खोदी हुई लगती है। जैसा कि श्री गंगूली कहते हैं, 'हाथीगुफा के लेख के काल के पूर्व याने ई. पूर्व चौथी या पांचवीं सदी में इन गुफाओं में से कुछ को अस्तित्व में आई कहने में हम सत्य से अधिक दूर नहीं रहेंगे क्योंकि जिस स्थान में ये खोदी गई थी वह सम-धार्मिकों की दृष्टि में कुछ पहले से पवित्र माना जाने लग गया होगा।'³

इन गुफाओं के निर्माण की तिथि निश्चित रूप से निर्णय करना लगभग असम्भव है और इनमें बौद्ध और जैन प्रभावों के संमिश्रण हो जाने से यह काम और भी कठिन हो गया है। कोटडिगियों की भीतों पर सामान्य उमसी बौद्ध दन्तकथाएं एवम् जैन तीर्थकरों की आकृतियां खुदी दीख पड़ती हैं। खण्डगिरि की जैन गुफा में भव्य स्तम्भ हैं। लगभग सभी गुफाओं की विशिष्टता यह है कि उनके सामने के वरण्डा याने ओसारी के तीनों ओर एक से डेढ़ फुट चौड़ी चबूतरी बनी है। वरण्डा की दो भीतों शीर्ष में इस प्रकार खोखली कर दी गई हैं कि वे झलमारी भी दीखती हैं। जैन या बौद्ध भिक्षु इनको अपने जीवनोपयोगी जो भी थोड़े से उपकरण उनके पास हों, रखने के उपयोग में लेते होंगे। "उत्तर भारत की जैन ललित-कला 'शीर्षक अध्याय में इसका कला की दृष्टि से आगे विचार किया जाएगा। अभी तो श्री गंगूली की इनकी टीका यहाँ उद्धृत कर देते हैं कि' ये गुफाएं देखने में सादी होते हुए भी भव्य हैं और भूतकाल के इनके रहवासियों के जीवन के ही अनुरूप हैं।"⁴

खण्डगिरि गुफाओं में सतधर या सतबद्ध, नवमुनि और अनन्त ये तीन गुफाएं अति महत्व की हैं। इनमें से पहले दो पर स्पष्ट जैन प्रभाव हैं और तीसरी पर बौद्ध प्रभाव⁵ क्योंकि इसकी पीठ की भीत पर स्वास्तिक और तीखा त्रिशूल खूदी हुआ है। यद्यपि पहले स्वस्तिक के नीचे एक छोटी खड़ी मूर्ति है जो कि अब बहुत घिसी हुई है, परन्तु जिला विवरणिका के अनुसार, वह सम्भवतया जैनों के तेईसवें तीर्थकर पाश्वनाथ की है।⁶ फिर इस गुफा का चौभीता उत्तरी अंश के ऊंचे भाग को समतल कर के बनाया हुआ है और इसमें जैन तीर्थकरों और देवताओं की मूर्तियां हैं। कोरणी की प्रत्येक महाराव सर्प की दो प्रणों में है जो कि पाश्वनाथ का लांछन है। महारावों और पक्ष की भीतों के बीच का स्थान हाथों में अर्घ्य लिये जाते हुए विद्याधरों से भर दिया गया है।

सतधर गुफा लांछन सहित तीर्थकरों की आकृतियों के लिए जो कि उसके दक्षिणी भाग के भीतरी खण्ड की भीतों पर खुदी है, प्रसिद्ध है।⁷ पश्चान्तर में नवमुनि अर्थात् नौ सन्तों की गुफा एक साधारण गुफा है जिसमें दो

1. वही, पृ. 40, 57।

2. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी, पृ. 251।

3. गंगूली, वही, पृ. 22। 4. वही, पृ. 34।

5. देखो चक्रवर्ती, मनमोहन, नोट्स आन दी रिमेन्स इन धौली एण्ड इदवी केञ्ज आफ उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि पृ. 8।

6. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी, पृ. 263।

7. अपने शासन देव-देवियों सहित तीर्थकरों की ही ये सब आकृतियां हैं और ये बौद्ध की आकृति से मिलती-जुलती नहीं हैं जैसा कि आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट (13, पृ. 81) के सम्पादक का कहना है।

भवन और एक सलंग औसारी या वरण्डा है। इसमें दस तीर्थकरों की लगभग एक फुट ऊँची साधारण उभरी आकृतियां पादपीठ में शासन देवी या देव की आकृतियां सहित हैं। पार्श्वनाथ जो कि उनके नागफणी छत्र लांछन के कारण सहज ही पहचान में आ जाते हैं, अधिकतम पूज्य हैं क्योंकि उनकी आकृति दो बार खोदी हुई है।¹

इसके अतिरिक्त यह गुफा उसके दो शिलालेखों के कारण भी प्रसिद्ध और महत्व की है। इनमें से एक तो “महामहिम उद्योतकेसरीदेव के” प्रगतिमान और विजयी राज्यकाल के 18वें वर्ष का है। परन्तु दोनों ही में “आर्य संघ”, ग्रह कुल, देशीगण के आचार्य प्रख्यात कुलचन्द्र के शिष्य जैन श्रमण शुभचन्द्र “का उल्लेख है। दोनों शिलालेख एक ही तिथि के याने लगभग 10 वीं सदी ईसवी के हों ऐसा लगता है।”²

इस गुफा से आगे बारभुजी अथवा बारह हाथ वाली गुफा है। इसको यह नाम इसलिए मिला कि इसकी औसारी याने वरण्डा की वाम भीत पर बारहभुजा वाली देवी की आकृति खुदी है। नवमुनि गुफा की ही भांति यहां भी साधारण उभरी हुई शासन देव-देवी सहित जैन तीर्थकरों की पद्मासन में बैठी आकृतियां हैं। पीठ की भीत पर पार्श्वनाथ की खड़ी आकृति सतफो नागछत्र सहित परन्तु देवी आकृति रहित, है। तीर्थकर और उनकी स्त्रियां लांछनों सहित यहां बताई गई हैं। ये सब एक ही मापकी याने 8 से 9।। इंच ऊंची हैं। परन्तु पार्श्व की मूर्ति 2 फुट 7।। इंच ऊंची है जिससे यह मालूम होता है कि उन्हें यह विशेष मान दिया गया था।³

इमी के पड़ोस में दक्षिण और त्रिशूल गुहा है। इसे यह नाम इसलिए प्राप्त हुआ कि इसकी औसारी की भीत पर सामान्य कोरणी के भीतरी भाग की बैठक अद्वितीय है। इन बैठकों के ऊपर पार्श्व सहित चौबीस तीर्थकरों की आकृतियां खुदी हुई हैं। पार्श्व की आकृति पर सप्तफणी नाग छत्र है और अन्तिम आकृति महावीर की है। इस मूर्ति समूह में भी पार्श्व की आकृति महावीर के पूर्व ही तेईसवें तीर्थकर की भांति नहीं रखी जा कर, पीठ की भीत पर केन्द्र में खोदी गई है और इस प्रकार उसे विशेष महत्व दे दिया गया है। पन्द्रहवें तीर्थकर की आकृति का नीचे का भाग प्रांगन से उठते हुए बैठक या कुरती में ढका गया है जिस पर कि चिए-पत्थर (सोपस्टोन) पर सुन्दर उत्कीर्णित तीन आदिनाथ की मूर्तियां हैं। इस समूह की मूर्तियों की सामान्य रचना पास की गुहा की मूर्ति-रचना से कुछ सूक्ष्म और अच्छी है।⁴

नवमुनि गुहा की ही तिथि का एक शिलालेख लालतेन्दु-केसरी या सिंहद्वार गुहा में उद्योत केसरी का ही है। जिला विवरणिका के अनुसार यह दु-मंजिली गुहा राजा लालतेन्दु-केसरी के नाम पर बनी है और पहली मंजिल के भवनों में जैन तीर्थकरों की कुछ आकृतियां उत्कीर्णित हैं। इनमें भी पार्श्वनाथ सब से प्रमुख है।⁵ यह गुहा की पीठ की भीत पर उसकी तल भूमि से 30 या 40 फुट की ऊंचाई और दिगम्बर सम्प्रदाय की मूर्तियों के समूह के ऊपर खुदी है।⁶

1. एपी. इण्डि., पुस्त. 13, पृ. 166 । 2. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजैटियर, पुरी, पृ. 263 ।

3. एपी. इण्डि., पुस्त. 13, पृ. 166 । 4. गंगूली, वही, पृ. 60 ।

5. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजैटियर, पुरी, पृ. 262 । 6. वही । 7. वही, देखो चक्रवर्ती, मनपोहन, वही, पृ. 19 ।

8. कदाचित्त ऐसा हो कि खारखेल के समय में महान् मतभेद कि जिपने बाद में जैनों को दिगम्बर और श्वेताम्बर ऐसे दो सम्प्रदायों में विभक्त कर दिया, स्पष्ट रूप से प्रकाश में नहीं आया था। परन्तु जैसा कि हम पहले ही देख आए हैं, बाद के इतिहास में दिगम्बर दक्षिण में प्रमुख हो गए थे। इलेरा, बदामी और ऐसे ही अन्य स्थानों की जैन गुफाओं से यह स्पष्ट है।

शिलालेख अर्द्धी दशा में नहीं है और इसलिए उसकी अन्तिम पंक्ति के कुछ शब्द भुस गए हैं । जैसा भी वह है उससे हमें यह पता लगता ही है कि "प्रख्यात उद्योतकेसरी के विजयी राज्य के पांचवें वर्ष में प्रख्यात कुमार पहाड़ी पर,¹ जीर्णोशीर्ण ताल और जीर्णोशीर्ण मन्दिरों का फिर से पुनरुद्धार कराया गया (और) उस स्थान पर चौबीस तीर्थकरों की मूर्तियां स्थापित की गईं । प्रतिष्ठा के अवसर पर...जसनन्दी...प्रख्यात (पारस्यनाथ) (पार्ष्वनाथ) के स्थान (मन्दिर) में ।²

इस लेख में जो कुछ भी लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि उद्योतकेसरी या तो जैनी था या वह जैनधर्म का बड़ा संरक्षक और सहायक था । हमें ऐसा कोई निश्चित आधार प्राप्त नहीं है कि हम इस लेख के उद्योतकेसरी का किसी ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष से मिलान कर सकें । फिर भी इतना तो निर्जोखम कहा ही जा सकता है कि उड़ीसा का इतिहास ई. 200 याने आंध्रों के समय से लेकर ई. 7वीं सदी के प्रारम्भ तक बहुतांश में अन्धकाराविष्ट है ।

परन्तु जगन्नाथ मन्दिर के ताड़पत्रीय, वृत्त, मादला पांजी के अनुसार, उड़ीसा 7वीं से 12वीं सदी ईसवी तक केसरी याने सिंह राजवंश के अधिकार में था ।³ इस केसरीवंश का विवरण खोजना निःसंदेह हमारे प्रतिपाद्य युग से बाहर जाना होगा । फिर भी भुवनेश्वर और अन्य स्थानों पर उपलब्ध उनके भव्य अवशेष उस राज्य वंश की सम्पन्नता एवं उच्च संस्कृति की प्रत्यक्ष साक्षी देते हैं । ये भव्य मन्दिर बताते हैं कि उस समय हिन्दूधर्म का प्रभाव उड़ीसा पर पूरा पूरा छा गया था और बौद्धों का कोई भी अवशेष जो कुछ ही सदियों पूर्व दन्तकथाओं के अनुसार वहां प्रवेश पाया था, प्राप्त नहीं होता है । परन्तु उस समय में जैनधर्म का प्रभाव और प्रेम चलता रहा था अथवा पुनरुज्जीवित हो गया मालूम पड़ता है क्योंकि खण्डगिरि उदयगिरि की गुहाओं में शिलालेख और शिलोत्कणित जैन तीर्थकरों या देवीदेवताओं की उसी युग की तिथि की मूर्तियां पाई जाती हैं ।

उदयगिरि पर की गुफाओं का विचार करने पर हम देखते हैं कि ललितकला और शिल्प की दृष्टि से ये सब उड़ीसा में बड़े महत्व की हैं । इनमें से भी रानीगुफा या रानी नूर से विशिष्ट है क्योंकि मनुष्य की विविध क्रियाओं के दृश्य उसकी भव्य वेष्टनी की कोरणी में खुदे हैं । इसमें भी तीन वेष्टनियां और नीचे के मन्जिल के भवनों की कोरणी विशेष ध्यान आकर्षित करती है । जिला विवरणिका के अनुसार 'दृश्य, यद्यपि बहुत से अशिशित हो गए हैं फिर भी, किसी धार्मिक प्रसंग में नगर में निकलती किसी साधु-पुरुष की सवारी का प्रदर्शन करते हैं जिम्को लोग अपने घरों में से ही देख रहे हैं ताकि एक दृष्टि तो उन्हें भी प्राप्त हो जाए । घोड़े आगे आगे चल रहे हैं, हाथी पर सवारियां की जा रही हैं, रक्षक पहरा दे रहे हैं और प्रजाजन, पुरुष एवं स्त्रियां, हाथ में हाथ मिला कर संतों के पीछे पीछे चल रहे हैं और स्त्रियां खड़ी रह कर या बैठ कर थाल में फल और आहार अर्घ्य रूप में लिए आशीर्वाद मांगती हैं ।⁴

ऊपर की मुख्य पार्श्व की वेष्टनी जो कि लगभग 60 फुट लम्बी है, अत्यन्त मनोरंजक है । सत्य तो यह है कि भारतीय गुफाओं की कोई भी वेष्टनी पुरातत्वज्ञों में चर्चा का ऐसा विषय नहीं बनी है । इसके दृश्यों की जो कि

1. शिलालेख की दूसरी पंक्ति से हमें पता लगता है कि खण्डगिरि का प्राचीन नाम कुमारी पर्वत था । खारवेल का हाथीगुफा का शिलालेख उदयगिरि का प्राचीन नाम कुमार पर्वत बताता है । ये जुड़वा दोनों पर्वत 7वीं या 11वीं सदी ईसवी तक कुमारी पर्वत ही कदाचित् कही जाती रही होंगी ।

2. एपा. इण्डि., पुस्तक 13, पृ. 167 ।

3. देखो बंगाल सिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी, पृ. 25 । 4. वही, पृ. 254 ।

गणेशगुफा में भी संक्षेप में पुनरावर्तित हुए हैं अनेक व्याख्याएं की गई हैं। जिला विवरणिका का सम्पादक का विश्वास है कि इसमें पार्श्वनाथ ही तीर्थंकरों में से महान् सम्मानित दिखाया गया है।¹ भावदेवसूरि के पार्श्वनाथ-चरित, कल्पसूत्र और स्थविरावली² जैसे प्रमाणों में उल्लिखित पार्श्व के जीवन प्रसंगों को संक्षिप्त मर्वेक्षण करने पर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि मध्यकालीन जैन दन्तकथाएं तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का कलिग सहित³ पूर्वीय भारत से सम्बन्ध जोड़ती हैं और इसलिए यह सूचित करना अनुचित नहीं है कि हाथी का दृश्य पार्श्वनाथ की भावी पति प्रभावती को उनके सम्बन्धियों एवं परिचारकों सहित प्रस्तुत करता है, और उसके बाद का दृश्य कलिग राजा द्वारा उसके अपहरण का है, चौथा दृश्य आखेट के समय वन में पार्श्वनाथ द्वारा उनकी विमुक्ति का है, उसके बाद का दृश्य लग्नोत्सव समय के भोजन का, सातवां लग्नक्रिया का, और आठवां नीचे की पार्श्व में पार्श्वनाथ के तीर्थंकर रूप में भ्रमण और उन्हें दिए गए मान-सम्मान का प्रदर्शन करता है।⁴

इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि ये सब दृश्य पार्श्वनाथ या उनके किसी विनयी शिष्य के जीवन घटनाओं सम्बन्धी ही हैं हालांकि ऐसा अनुमान दी रिमेन्स आफ उडीसा, एंशेंट एण्ड मेडीवल ग्रन्थ⁵ के विद्वान लेखक का बहुत खींचतान से निकाला हुआ ही लगता है क्योंकि यह प्रमुखतया बौद्ध गुहा है कि जिनके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है।

ऐसा ही भ्रम गणेश गुंफा के विषय में भी उठता है। क्योंकि रानी नूर की भांति ही इस गुफा के वेष्टनीशिल्प में घाघरावाले सैनिक हैं, इसलिए जिला विवरणिका का सम्पादक इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यह दृश्य कलिग के यवन राजा⁶ द्वारा प्रभावती के हरण की मध्यकालिक कथा और फिर जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा उसकी मुक्ति का निर्देश करता है।⁷ जब हम घेरदार घाघरा पहनाव वाले सिपाहियों को परदेशी रूप में पहचानते हैं तो उपर्युक्त परिणाम का समर्थन भी हो जाता है कि पार्श्वनाथ ने यवन राजा के पाश से प्रभावती को जैसा कि जैन दन्तकथा कहती है, मुक्ति दिलाई हो। फिर भी गंगुली विवरणिका के विद्वान सम्पादक से सहमत नहीं हैं क्योंकि वह इस गुफा को बौद्ध गुफा ही मानते हैं। उनके अनुसार यह मूर्तिशिल्प बौद्धमूल का निर्भ्रान्त है।⁸ इन सब विवेचना से यह स्वाभाविक ही है कि जैन श्रमणों ने अपने परम पूज्य तीर्थंकर की जीवन घटनाओं को अपनी निवास गुहाओं या कोटडियों में खोद दिया हो।

स्थापत्य की दृष्टि से दूसरे नम्बर की महत्व की गुफाएं हैं जयविजय, स्वर्गपुरी सिंह और सर्प गुफाएं। स्वर्गपुरी गुफा के अतिरिक्त ग्रन्थ कोई भी इनमें बड़े ऐतिहासिक महत्व की नहीं है। पर सिंह गुफा में एक बौद्ध लेख है और यह कि डॉ. फर्ग्यूसन और बरग्येस के अनुसार "सिंह और सर्प गुफाएं इस टेकरी पर की मूर्तिशिल्प की प्राचीनतम गुफाएं हैं।"⁹ प्रसंग वश यह भी कह देना चाहिए कि सर्प गुंफा जो कि हाथीगुंफा के पश्चिम में है, कि ओसारी इस

1. वही। देखो चक्रवर्ती, मनमोहन, वही, पृ. 9-10।
2. देखो हेमचन्द्र, त्रिषष्टि-शलाका, पर्व 9 पृ. 197-201 भी।
3. तत्राज्ञासीत् कलिगादिदेशानामेकनायकः। -वही, श्लो. 95, पृ. 199।
4. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजैटियर पुरी, पृ. 256।
5. गंगुली, वही, पृ. 39। 6 यवनो नाम दुर्दान्तः। -हेमचन्द्र, वही, और वही स्थान।
7. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजैटियर पुरी, वही और वही स्थान। "यह दृश्यावली वेष्टनी उस कथा की पूर्व कथा लगती है कि जो रानी गुंफा की ऊपर की मंजिल में विकास पाई है।" -चक्रवर्ती, मनमोहन, वही, पृ. 16।
8. गंगुली, वही, पृ. 43। 9. फर्ग्यूसन एण्ड बरग्येस, केव टेयेम्पुल्स ऑफ इंडिया, 68।

प्रकार उत्कीर्णित है कि पार्श्वनाथ के लालछन सर्प के तीन फण जैसी वह दीखती है।¹

स्वर्गपुरी गुफा में तीन शिलालेख हैं जिसमें का पहला कलिग सम्राट खारवेल की पटरानी का है। इस पर से मालूम होता है कि जैन सम्प्रदाय की सेवा करने के सुकार्य में वह अपनी पटरानी को भी साथ रखता था। उदार और धार्मिक वृत्ति की इस स्त्री, जो कि लालाक की पुत्री थी, की स्मृति उसकी निर्मित गुफा और जैन मन्दिर का उल्लेख करने वाले छोटे शिलालेख वाली गुफा के साथ जुड़ी हुई है जिसका कि हम आगे विचार करने वाले हैं।

बंगाल जिला विवरणिका के पुरी खण्ड में मुद्रित नक्शे के अनुसार डॉ. बैनरजी इसे मंचपुरी गुहा कहते हैं परन्तु कुछ समय पहले यह स्वर्गपुर कहा जाता था।² प्रिन्स्येप³ ने इसे वैकुण्ठ गुंफा, और मित्रा⁴ ने वैकुण्ठपुर कहा था। इसके भिन्न-भिन्न नामों के विषय में श्री बैनरजी कहते हैं कि “इन गुफाओं के स्थानीय नाम प्रत्येक पीढ़ी में बदलते रहे हैं। जब एक नाम विस्मृत हो जाता है तो दूसरा तुरन्त घड़ लिया जाता है। वस्तुतः यह गुफा दो मंजिली और पार्श्व पक्षवाली गुफा की ही उपरी मंजिल है, परन्तु स्थानिक लोग बहुधा भागों को भी पृथक नाम दे देते हैं।”⁵

प्रथम लेख सामने के दूसरे और तीसरे द्वार के बीच के उपसे हुए स्थान पर खुदा हुआ और तीन पंक्तियों का है और वह कहता है कि ‘कलिग के श्रमणों के लिए एक गुफा और एक अर्हंतों का मन्दिर हस्तिसाहस (हस्तिसाह) के पौत्र लालाक की पुत्री, खारवेल की पटरानी, ने बनाया है।’⁶

दूसरा और तीसरा उल्लेख दो गुफाओं सम्बन्धी ही है जिसमें की एक गुफा ‘कलिग का नियंता राजा कूडे सीरी’ और दूसरी युवराज वडुख⁸ इस प्रकार के दो नामों की है। सामने की भीत पर पहली और नीचे की मन्जिल की बाजू की भीत पर दूसरी लेख खुदी हुयी है। बैनरजी के अनुसार इन तीनों शिलालेखों की लिपि खारवेल के हाथीगुफा के शिलालेख के थोड़े ही समय बाद की है।⁹

ये सब साधन कलिग पर प्रभावशाली जैन राजवंश की हस्ति को प्रमाणित करते हैं। यह वंश कब तक चलता रहा था और उसके बाद कौनसा वंश आया इसकी जानकारी नहीं है। परन्तु जिला विवरणिका कहती है कि ‘उड़ीसा और कलिग ई. दूसरी सदी में आंध्रवंश की अधीनता में था जिसके कि राज्यकाल में वहां बुद्धधर्म का प्रवेश होना कहा जा सकता है। तिब्बती वृत्तान्तों में एक कथा सुरक्षित है और वह यह है कि आंध्र दरबार में ई. 200 में होने वाले नागार्जुन ने ओटिशाके राजा को अपने 1000 प्रजा जनों सहित बुद्धधर्म में दीक्षित किया था। प्रजाजनों का यह धर्म-परिवर्तन राजा के उदाहरण से सहल बन गया होगा ऐसा लगता है।’¹⁰

इन ऐतिहासिक प्रमाणों के हमारे सामने होते हुए सम्राज्ञी के पिता के सगे-सम्बन्धी भी जैन हों, यह अनुमान करना जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। हम आगे देखेंगे कि उसका भी एक ऐसा महान् राजवंश होना चाहिए कि जिसके साथ खारवेल जैसे महान् सम्राट ने अपना वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ना उचित समझा था।

1. बंडिग, पुरी, पृ. 260 । 2. एपी. इण्डि., पुस्त. 13, पृ. 159 ।

3. बंएसो पत्रिका, सं. 6, पृ. 1074 । 4. मित्रा एंटीस्विटीज आफ उड़ीसा, भाग 2, पृ. 14-15 ।

5. एपी. इण्डि., पुस्त. 13, वही और वही स्थान ।

6. अरहंत पसादायं कालिगानं समनानं लेणं...सिरि-खारवेलस अग्रमहिसिना कारितम् ।-वही ।

7. एपी. इण्डि., 13 पृ. 16 । 8. वही, पृ. 161 । 9. वही, पृ. 159 । 10. बंडिगपु, पृ. 25 ।

अब तक जो कुछ हमने देखा और जाना उस पर से इन पहाड़ियों की एक लाक्षणिकता बहुत ही स्पष्ट होती है और उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना यहां आवश्यक है। जिला विवरणिका के अनुसार 'खण्डगिरि की अनेक गुफाओं में जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं जो, गुफाओं से परवर्ती काल की हो तो भी, मध्यकालीन जैन भक्तमाल (hagiology) के उदाहरण रूप से रोचक हैं। और यदि ये मूर्तियाँ गुफाओं जितनी ही प्राचीन हैं तो वे तीर्थंकरों और उनके परिवारों के प्राचीनतम उपलब्ध नमूने हैं। मूर्तियों में पार्श्वनाथ या उनके लौछन फंकार के प्रयोग की प्रमुखता एक विचित्र बात है क्योंकि अन्य उपलब्ध अवशेषों में महावीर को ही सब तीर्थंकरों से प्रमुखता दी गई है। पार्श्वनाथ की प्रमुखता इन अवशेषों की प्राचीनता को ही सिद्ध करती है और यदि ठीक हो तो ये जैन मूर्तिशिल्प के अद्वितीय उदाहरण हैं। महावीर के 200 वर्ष पूर्व अर्थात् ई. पूर्व लगभग 750 में हुए पार्श्वनाथ के विषय में हमें बहुत ही कम जानकारी है कि जिसने चार व्रतों का धर्म ही उपदेश दिया था और दो वस्त्रों, याने एक अधो और एक उपरि, के प्रयोग की ही आज्ञा दी थी। इस दृष्टि से इन गुफाओं में प्राप्त मूर्ति रूपी अभिलेख, चाहे वे बहुत सामान्य ही हों फिर भी पुरातत्वज्ञों द्वारा स्वागत योग्य ही हैं।'¹

'स्वर्ग और भोक्ष के दाता'² और 'मर्वगुण सम्पन्न पवित्र पुरुषों'³ का स्थान माने जाने वाले इस देश के पवित्र अवशेषों से इतने ही परिणाम निकाले जा सकते हैं। यहीं, इसी युग से बहुत ही पहले, बौद्ध एवम् जैनधर्म प्रधान हो चुके थे और उनसे हिन्दूधर्म जिसका उचित नाम ब्रह्मणधर्म है, को बहुत ही प्रभावित किया था। ऋषियों को इसी में कमी जैन तो कमी बौद्ध प्रभुत्व अनुभव किया जाता रहा था, और इसलिए कुछ प्रतीकों अथवा स्थपित कल्पनाओं के लक्षणों के तुच्छ आधारों पर निश्चित रूप से इन गुफाओं को बौद्ध या जैन मूल की बताना या कहना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव सा लगता है। हमारी यह कठिनाई तब और भी अधिक हो जाती है जब कि उन दिनों में दोनों ही धर्मों में स्वस्तिक, वृक्ष आदि आदि समान प्रतीकों का प्रयोग एक साधारण बात थी। ऐसे ऐतिहासिक तथ्य चाहे जैसे भी हों, फिर भी यह निश्चित है कि विचार, कला, कलाविधान, मूर्तिशिल्प, स्थापत्य के प्रत्येक विभाग में हो रहे महा परिवर्तन जैन और बौद्धधर्म के साथ ब्राह्मण धर्म के संमिलन से प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सके थे।

इस प्रारम्भिक विचारों के पश्चात् अब हम हाथीगुफा के शिलालेख का विस्तार से विचार करेंगे। परन्तु इसके भी पूर्व, खण्डगिरि टेकरी बेरशिखर पर मरहटों द्वारा बनाए गए जैन मन्दिर का सरसरी दृष्टि से विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। यह मन्दिर लगभग एक सदी ही का प्राचीन और अठारहवीं सदी की समाप्ति के आसपास का बना हुआ है।⁴ जैन मन्दिरों की सामान्य प्रथानुसार यह बड़े भव्य स्थान पर बना हुआ है और वहां से बड़ा ही सुन्दर दृश्य दीखता है। इस छोटे से मन्दिर के विषय में 'दी एण्टीक्विटीज आफ उड़ीसा' ग्रन्थ के लेखक का कहना है कि "इस मन्दिर में श्याम पाषाण की महावीर की खड़ी प्रतिमा है और वह एक कण्ठ सिंहासन पर रखी है। यह मन्दिर दिगम्बर सम्प्रदाय के कटक निवासी जैन व्यापारी मंजु चौधरी और उसके अतीजे भवानी दादू ने बनाया था।"⁵ इसके मूल गभारे में ही एक चिना हुआ चबुतरा है जिसके पीछे की भीत कुछ ऊपर उठी हुई है और इसमें पांच जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं। मन्दिर के पीछे कुछ ही निचाई पर एक झरोखा है जिस पर इधर उधर बिखरे हुए अनेक उरसंगित स्तूप हैं जो कि प्राचीन मन्दिर के अस्तित्व का संकेत करते हैं।⁶

1. वही, पृ. 266। 2. वनपर्व, खण्ड 114 श्लो. 4.5। 3. ब्रह्मपुराण अध्याय 26।
4. मित्रा, वही, पृ. 35। 5. वही। 6. बंजिग, पुरी, पृ. 264।

अब हाथीगुफा का विचार करें। यह एक प्राकृतिक गुफा है जिसे कलाविधान ने न तो कुछ विस्तृत ही किया है और न सुधारा ही है। यह गुफा उदयगिरी टेकरी के दक्षिणी मुंह पर है जो स्वयम् उड़ीसा के पुरी जिले में भुवनेश्वर से लगभग तीन मील की दूरी पर खण्डगिरि नाम की पहाड़ियों की निम्न श्रेणी का उत्तरीय अंश है। कला और स्थापत्य की दृष्टि से महत्व की नहीं होते हुए भी उस बस्ती की गुफाओं में सर्व प्रमुख यह इसलिए है कि कर्लिंग के सम्राट की आत्मजीवनी का उस "गुफा के शिखर" पर एक बड़ा शिलालेख है।¹

यह लेख कुछ तो अगले भाग पर और कुछ गुफा की छत पर खोदा हुआ है। ई. पूर्व 2 वीं सदी के भारतवर्ष के उस इतिहास पर इसे बहुत ही प्रकाश पड़ता है "जब कि चन्द्रगुप्त और अशोक का साम्राज्य विनाश हो चुका था, और राज्य अपहर्ता पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य के अंश पर राज्य कर रहा था एवम् दक्षिण-भारत के अंध्र शक्ति संचय कर उत्तर की ओर बढ़ आये थे यहां तक कि मालवा को भी कदाचित् उनसे विजय कर लिया था।"²

अभिलेख जैन शैली से अर्हतों और सिद्धों की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है।³ फ्लोट के विश्वासानुसार⁴, यह अभिलेख खारवेल द्वारा जैनधर्म के उत्कर्ष के लिए की गई प्रवृत्तियों के वर्णन का नहीं है। परन्तु इसमें उस सम्राट के अपने 37 वर्ष अर्थात् उसके राज्यकाल के 13वें वर्ष तक का इतिवृत्ति और उसी में उसकी विविध प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है।

उस शिलालेख का जैमा भी वह है, अनुसरण करते हुए हम देखते हैं कि उसकी भाषा अपभ्रंश प्राकृत है जिसमें अर्ध मगधी और जैन प्राकृत के भी छीटे हैं। यह शिलालेख खारवेल के राज्य के तेरहवें वर्ष में खुदवाया गया था। उसके राज्यकाल का यह तेरहवां वर्ष उसके जीवन के सैंतीसवें वर्ष के अनुरूप है क्योंकि पन्द्रह वर्ष का होने पर खारवेल युवराज हुआ था और उसका वेदोक्तविधि से महाराज्याभिषेक 24वां वर्ष समाप्त होते ही हुआ था। खारवेल का यह अभिषेक बताता है कि जैनधर्म ने सनातन शैली की राष्ट्रीय प्रथाओं में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था।⁵

खारवेल और उसके राजनयिक जीवन की प्रमुख घटनाओं की सूचना ठीक ठीक देने के अतिरिक्त इस शिला लेख से हमें इस महान सम्राट की तिथि के प्रायः ठीक ठीक निर्णय का भी आधार प्राप्त हो जाता है। इस शिलालेख के सिवा और कोई भी ऐतिहासिक या अनैतिहासिक मूल्य का साधन हमें प्राप्त नहीं है कि जो भारतवर्ष के इतिहास के इस कालक्रम पर इतना अच्छा प्रकाश डाल सकता है।

जैसा कि नीचे दिए टिप्पण से⁶ ज्ञात होगा, अभी अभी तक फ्लोट और अन्य विद्वानों के विपक्ष में कुछ

1. गांगूली, वही. पृ. 47। 2. बिउप्रा पत्रिका सं. 3, पृ. 488।

3. नमो अराहंतानं नमो सवसिधानं...आदि। वही. सं. 4, पृ. 397, और सं. 13, पृ. 222।

4. राएसो, पत्रिका, 1910, पृ. 825। 5. बिउप्रा, पत्रिका, सं. 3, पृ. 431, 438।

6. इस टिप्पण में प्रायः कालक्रमानुसार उन विद्वानों के नाम दिए गए हैं कि जिनने इस शिलालेख को एक या दूसरी दृष्टि से विचार किया है। श्री ए. स्टर्लिंग ने इसकी सर्व प्रथम खोज की थी और कर्नल मॅकेंजो की सहायता से इस दिलचस्प अभिलेख की सन् 1820 ई. में छाप ली और उसे बिना अनुवाद या प्रतिलिपि के सन् 1825 में अपने अत्यन्त मूल्यवान लेख 'एन अकाउंट, ज्योग्राफिकल, स्टेटिस्टिकल एण्ड हिस्टोरिकल, आफ उरीसा प्रापर आर कटक' (आर्कियालोजिकल रिब्यू, भाग 15, पृ. 313 आदि, और फलक) सहित प्रकाशित किया था। फिर जेम्स प्रिन्सेप ने सन् 1837 में पहली ही बार लेटेनेंट किट्टो की शुद्ध प्रतिलिपि के आधार पर प्रकाशित किया और उसके अनुसार यह लेख ई. पूर्व 200 से पहले का नहीं हो सकता है (बंगाल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका, पुस्त. 6, पृ. 1075 आदि एवं फलक 58।

विद्वान् पण्डितों का यही विश्वास था कि इस लेख की 16वीं पंक्ति में मौर्य युग का उल्लेख था और वही कलिंग इतिहास के इस महत्व के युग की तिथि निर्णय का एक मात्र आधार भी। श्री जायसवाल ने जो कि इस सिद्धांत

इस लेख का लिथोग्राफ कनिष्क का किया हुआ हम फिर कारपस इंस्क्रिप्शन इण्डिकारम् पुस्त 1 (1877), पृ. 27 आदि, 88-101, 132 आदि और फलक 17 में देखते हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि प्रिन्सेप के विवेचन ने पूर्व विद्याविदों का ध्यान इसकी उपयोगिता और ऐतिहासिक मूल्य की ओर आकर्षित किया। राजेन्द्र लाल मित्र ने उसके अनुवाद और प्रतिलिपि की नकल की और संशोधित रूप में उसे अपने महान् ग्रन्थ "दी एण्टीक्विटीज आफ उरीसा" के पृ. 16 आदि में सन् 18880 में हूबहू प्रतिलिपि के साथ प्रकाशित किया। उसके अनुसार इस शिलालेख की तिथि ई. पूर्व 416-316 के बीच में कहीं भी होना चाहिए। डा. मित्र के कुछ ही वर्षों के बाद स्व. पं. भगवानलाल इन्द्रजी ने इस महत्वपूर्ण शिलालेख का सबसे पहला कामचलाऊ संस्करण छटी इन्टरनेशनल कांग्रेस आफ ओरियन्टलिस्ट की विवरण-पत्रिका में जो कि लीडन (हालैण्ड) में सन् 1885 में हुई थी, प्रकाशित किया था और उसके अनुसार इसकी तिथि मौर्य सम्वत् 165 अर्थात् ई. पूर्व 157 निश्चित हुई। (Actes Sia. Conar. Dr. aleide, pt. iii, sec. ii pp. 152-177 and date.)

इसके पश्चात् बहूलर ने सन् 1895 और 1898 में अपने ग्रन्थ 'इण्डियन स्टडीज' संख्या 3, पृ. 13 और ग्रन्थ 'आन दी ओरिजन आफ दी इण्डियन ब्राह्मी एल्फाबैट' पृ. 13 आदि में क्रमशः विचार किया था, परन्तु उसने कुछ अशुद्धियों की शुद्धि का ही उसमें प्रस्ताव किया था। स्वर्गी पण्डित जी की तिथि-निर्णय, लेख की 16वीं पंक्ति के किसी मौर्यसम्वत् के उल्लेख मात्र से किया हुआ, विसेंट स्मिथ, काशीप्रसाद जायसवाल, राखालदास बैनरजी और अन्य पुरातत्वज्ञों की आधुनिक सम्प्रदायवादियों द्वारा अभी तक ते स्वीकृत ही था। परन्तु फ्लीट और उसके बाद कुछ अन्य विद्वानों ने उक्त पंक्ति के इस प्रकार वाचन का विरोध किया हालांकि फ्लीट ने यह भी स्वीकार किया कि स्व. पं. भगवानलाल इन्द्रजी के वाचन के विरुद्ध एक भी आवाज तब तक नहीं उठी थी। (देखो स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, 4 था संस्करण, पृ. 44 टिप्पण 2 और राएसो, पत्रिका, 1918, पृ. 544 आदि; जायसवाल, बिउप्रा पत्रिका, सं. 1 पृ. 80 टिप्पण 55, सं. 3, पृ. 425-485, सं. 4, पृ. 364 आदि; बैनरजी, रा. दा., बिउप्रा पत्रिका सं. 3, पृ. 486; डुब्यूइल, ऐशेंट हिस्ट्री आफ दी ड्यकन पृ. 12; जिनविजय, प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग 1, जो सारा ही खारवेल के विषय में विचार करता है और जायसवाल सम्प्रदाय से सहमत है। और कोनोव, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1905-1906, पृ. 166। इसके अनुसार लेख में मौर्य-युग की ही तिथि है।) इस ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए राएसो पत्रिका, 1910, पृ. 242 आदि वाले अपने प्रथम टिप्पण में डा. फ्लीट कहता है कि डॉ. कोनोव अपनी कैफियत में खारवेल के हाथीगुंफा के शिलालेख का उल्लेख करता है और प्रसंगवश कहता है कि इसकी तिथि मौर्य सम्वत् 165 है। "हम इस अवसर पर यह कह देना चाहते हैं कि यह गलत बात है और इसका 16वीं पंक्ति के भगवानलाल इन्द्रजी के वाचन के सिवा कोई भी आधार नहीं है।"

अब हम श्री फ्लीट एवम् उन्हीं के मत के अन्य विद्वानों का विचार करें। ई. 1910 में प्रो. एच. ल्यूडर्स ने एपीग्राफिका इण्डिका, सं. 10 में ल्यूडर्स सूची सं. 1345 के पृ. 160 में इस शिलालेख का संक्षेप प्रकाशित किया और कहा कि इसमें कोई भी तिथि नहीं है। इसके पश्चात् स्व. डॉ. फ्लीट ने राएसो पत्रिका, 1910 पृ. 242 आदि में एक टिप्पण और पृ. 824 आदि में दूसरा टिप्पण लिख प्रकाशित किया। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं डॉ. फ्लीट को इस शिलालेख में मौर्य सम्वत् की कोई तिथि होने के विषय में सन्देह था। ही उनसे इन टिप्पणों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि लेख की 16वीं पंक्ति को ग्रंथ में इस प्रकार की कोई भी तिथि नहीं है। परन्तु पश्चात्तर में वह जैनागमों के किसी एक पाठ का ही उल्लेख करता है कि जो मौर्यकाल

के सर्व प्रमुख समर्थक थे अपनी नवीन खोजों के आधार पर, एक सच्चे विद्वान की परम उदारता के साथ, फ्लीट और अन्य पण्डितों से सहमति स्वीकार कर दी है कि निर्दिष्ट पंक्ति में ही नहीं अपितु समुचे लेख में अन्यत्र भी कहीं इस प्रकार के संवत् का कोई भी उल्लेख नहीं है।⁷

इसमें सन्देह नहीं कि लेख की छठी पंक्ति में नन्द-युग का उल्लेख है, परन्तु इस उल्लेख से खारवेल का समय निश्चित करने में हमें तनिक भी सहायता नहीं मिलती है।⁸ इस शिलालेख और चेदिवंश के इस महान् सम्राट का दोनों ही समय निर्णय करने के लिए इस शिलालेख में उल्लिखित अन्य तथ्यों को ध्यान में लेना अत्यन्त ही आवश्यक है। इन तथ्यों को उन समकालिक ऐतिहासिक घटनाओं को प्रकाश में जो भी प्राप्त हो, व्याख्या करना और समझना होगा, और तभी हम इस शिलालेख की तिथि बहुत कुछ ठीक ठीक निर्धारित कर सकते हैं या कर सकेंगे।

श्री जयसवाल के नए वाचन और व्याख्या के अनुसार इस शिलालेख की आठवीं पंक्ति, द्वेश का वह अंश जिसमें कि सम्राट खारवेल के राज्यकाल के 8वें वर्ष का विवरण दिया गया है, इस प्रकार है :—

“घातापयिता राजगहं उपपीडापयति एतिना च कम्मापदान संतादेन संबडत-सेन-वाहनो विपमुंचितुं मधुरां अपयातो यवन-राज-डिमिट यच्छति-वि-पलव,”⁹ और इसका अर्थ यह है कि “(राजगृह के द्वारे और गोरथगिरि के गढ़ के हस्तगत करने कि जिसके विषय में हम आगे विचार करेंगे) शौर्य-कार्यों से उत्पन्न अफवाहों के कारण, श्रीकराजा दिमित (रीयास), अपनी सेना और परिवहन पीछा खींच, अथवा अपनी सेना और रथों से अपने को सुरक्षित कर, मथुरा का घेरा उठा कर खिसक गया।”¹⁰

में अव्यवहार्य हो गया था। देखो रमेशचन्द्र मजुमदार भी (इण्ड. एण्टी., पुस्त. 47, 1918, पृ. 223 आदि, और पुस्त. 48 1919, पृ. 187 आदि। फ्लीट के अनुसार यह 16वीं पंक्ति अस्पष्ट और अनिश्चित है और उसने जयसवाल एवम् बैनरजी रामप्रसाद चन्दा के अनेक निष्कर्षों का विरोध किया है (रा एमो, पत्रिका 1919, पृ. 395 आदि)। वह फ्लीट और ल्यूडर्स से हाथीगुंफा लेख में किसी तिथि के अस्तित्व की अनुपास्थिति के विषय में सहमति दिखाता है। पर अब यह सन्तोष की बात है कि श्री जयसवाल एवम् उनकी सम्प्रदाय के अन्य विद्वान भी विरोधी सम्प्रदाय के मत से इस महत्व की बात में सहमत हो गए हैं और इसलिए लेख की 16वीं पंक्ति का वाचन जो कि इस स्थापना की मुख्य चाबी है प्रायः सभी विद्वानों द्वारा पूर्ण स्वीकार कर लिया गया है (देखो जयसवाल, बिउप्रा, पत्रिका सं. 13, पृ. 221 आदि और सं. 14, पृ. 127-128 और 150-151)।

इन खोजों के सिवा भी गंगूली, फरग्यूसन एवम् वरग्यूस और प्रो. के. हधुव के मन्तव्य भी हमें अब प्राप्त हैं। श्री मनोमोहन गंगूली इस लेख को स्थापत्य एवम् शिल्पी धारणाओं से ई. पूर्व तीसरी सदी के अन्त के लगभग का होना मानते हैं—याने मौर्य सिंहासन पर अशोक के आने के पूर्व का (देखो गंगूली, पृ. 48-50) डॉ. फरग्यूसन एवम् वरग्यूस के अनुसार “ई. पूर्व 300 या उसके आस-पास की तिथि इस लेख की होना अत्यन्त सम्भव है।” ये लेखक यह भी कहते हैं कि “अशोक के राज्यकाल से टेकरियों को खोद कर गुहाएं बनाने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ था और वह इस काल से लेकर लगभग 1000 वर्ष आगे तक उत्तरोत्तर सौष्ठव एवम् उत्कर्ष के साथ चलती रही थी।”-(फरग्यूसन एवं वरग्यूस, वही.पृ. 67-68)। प्रो. ध्रुव ने अपने गुजरात नाटक ‘संचू स्वप्न’-भास के संस्कृत नाटक ‘स्वप्नवासवदत्ता’ का गुजराती अनुवाद-की प्रस्तावना में तात्कालिक राजवंशों और पुष्यमित्र युग से जैनों के सम्बन्ध की प्राचीनता और खारवेल का विचार किया है।

7. बिउप्रा, पत्रिका सं. 13, पृ. 236। 8. नंदराज-ति-वस-सत-ओवाटितं...आदि। -वही, सं. 4, पृ. 399।

9. वही और सं. 13, पृ. 227। 10. वही, पृ. 229।

यह वाचन और व्याख्या जायसवाल की निम्न खोज के अनुसार है और इसे श्री बैनरजी एवम् डा. कोनोव ने भी प्रामाणिक स्वीकार कर लिया है।¹ अत्यन्त आधुनिकतम ऐतिहासिक खोजों से हम इतना ही जान सके हैं इसलिए इसे खारवेल के राज्यकाल की एक मात्र कुंजी मानकर, हम स्पष्टतया कह सकते हैं कि यवन राजा ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था और पूर्व की ओर सम्भवतः साकेत तक भी वह बढ़ आया था। इसका समर्थन गार्गी-संहिता की सूचना से भी होता है जहाँ यह कहा गया है कि साकेत, पांचाल और मथुरा को जीत कर यवन-राज मौर्य-युग के समाप्ति समय में कुमुम-ध्वज (पाटलीपुत्र) की ओर बढ़ रहा था।²

इसी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए डा. जायसवाल कहते हैं कि 'जब पतंजलि संस्कृत व्याकरण पर अपना भाग्य लिख रहा था. मगधराज (पुष्यमित्र) ने एक लम्बा यज्ञ प्रारम्भ किया हुआ था और तब तक वह सम्पूर्ण नहीं हुआ था। अयोध्या के नए प्राप्त शिलालेखों के अनुसार उस मगधराज ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। जब अश्वमेध यज्ञ चल रहा था तभी का पातंजलि का यह उल्लेख है कि यवनराजा ने साकेत और मध्यमिका का घेरा डाला था। कालीदास भी जब कि पुष्यमित्र का अश्वमेध-यज्ञ चल रहा था। उस नदी के निकट की राजा की विजय का उल्लेख करता है जो मध्यमिका राज्य के निकट से होती हुई बहती है। इस प्रकार हमें स्पष्ट साक्षियाँ प्राप्त हैं कि पुष्यमित्र के राज्यकाल में यवनों का असफल आक्रमण हुआ था। खारवेल के इस लेख में ऐसे ही समसामयिक यवन-आक्रामक का उल्लेख है कि जिसको न केवल पीछा हट जाना ही पड़ा था अपितु मथुरा भी छोड़ देना पड़ा था। यह घटना वहस्पतिमित्र के राज्यकाल में हुई थी कि जो जातियों की साक्षियों से अग्निमित्र का पूर्वज प्रमाणित होता है। इसलिए आपततः यह परिणाम निकलता है कि उक्त आक्रमण वही था जिसका गार्गी-संहिता और पतंजलि दोनों ही ने वर्णन किया है।³

परन्तु इस सम्बन्ध में एक दूसरी कठिनाई यह है कि वह ग्रीक राजा डिमेट्रियस या मिनेण्डर ? गार्डनर के अनुसार, मिनेण्डर का समय ई. पूर्व दूसरी सदी का प्रारम्भ⁴, और विन्ट स्मिथ⁵ के अनुसार, ई. पूर्व 155 है। फिर मिनेण्डर के इसमोस (यमुना) के लांघने की बात ही नहीं कही जाती है। वह हिपनिस याने व्यास नदी पार कर कुछ आगे तक बढ़ा था इतना ही कहा जाता है।⁶ फिर साहित्य का जो ग्रंथ डिमोट्रियस और मिनेण्डर दोनों ही को लागू होता है, उसे विद्वानों ने डिमोट्रियस की व्यापक विजयों का संकेतक माना है।⁷ इन सब के अतिरिक्त जो हमें यथार्थ व्यक्ति के पहचानने में सहायता करती है। वह है अपने प्रतिस्पर्धी यूक्रेटाइडन को दबा देने के लिए डिमेट्रियस के बैक्ट्रिया लौट जाने की बात क्योंकि शिलालेख स्पष्ट ही कहता है कि यवन-राज,

1. वही, सं. 13, पृ. 228।

2. गार्गी-संहिता के युग-पुराण अध्याय में यह वर्णन है कि 'दुर्दमन वीर यवन' साकेत (अवध में) पांचाल देश (यमुना और गंगा के बीच का देशाब देश) और मथुरा को अधीन कर, पुष्पपुर (पाटलीपुत्र) पहुंचा; परन्तु वे मध्यदेश में इसलिए टिके नहीं रहे कि उनके अपने देश में ही आपस आपस में घोर युद्ध छिड़ गया था (कर्न, वहत्संहिता, पृ. 37) स्पष्ट ही यह संकेत उस परस्पर विध्वंसी युद्ध की ओर है कि जो यूथाइडिस और यूक्रेटाइडस के वंशों में चल रहा था। 3. बिउप्रा, पत्रिका, सं 13, पृ. 241. 242

4. देखी गार्डनर, केटेलोग आफ इण्डियन काइन्स, ग्रीक एण्ड सिथिक प्रस्ता. पृ. 22, 23।

5. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 239। 6. गार्डनर, वही, प्रस्ता. पृ. 37।

7. देखो मेयर (रुशडी), एंसाइक्लो ब्रिटैनिका, भाग 7, पृ. 982 (11 वां संस्करण); और रालिन्सन, पार्थिया (दी स्टोरी आफ दी नेशन्स माला), पृ. 65।

खारवेल के किसी प्रकार के उसके विरुद्ध आक्रमण किए बिना ही, पीछा हट गया था और मथुरा छोड़ गया था । इस प्रकार खारवेल का आनुमानिक समय, डिमोट्रियस और मिनेण्डर के मध्य का है, यह निश्चित ही प्रतीत होता है ।

डिमोट्रियस की विजयों ही उसके पतन का कारण हुई, ऐसा ग्रीक इतिहासज्ञ कहते हैं । उसकी विजयों के कारण उसके महाराज्य का केन्द्र बिन्दु बैक्ट्रिया से भी आगे चला गया था । उसका पितृ-देश एक अधीन राज्य हो कर सन्तोष करनेवाला नहीं था । फलतः पराक्रमी और शक्तिशाली युक्रेटाइडस ने जिसके विषय में इतिहास कदाचित् ही कुछ कहता है, विप्लव कर पृथक राज्य की स्थापना कर ली ।¹ पाथिया का राजा मिथ्रडाइटस 1म के राज्यारोहण के साथ ही वह भी राजा बन गया । अपने भाई फ्रात 1म के बाद ई. पूर्व 171 में मिथ्रडाइटस 1म गद्दी पर बैठा याने हमें वान गुट्श्मिड की ई. पूर्व 175 की तिथि युक्रेटाइडस के लिए लगभग सही मान लेना ही उचित है ।² उसके राज्य का प्रारम्भ तूफानी था । बैक्ट्रिया का नहीं परन्तु भारतवर्ष (सिंधु की आसपास के प्रदेश) का राज डिमोट्रियस अपने प्रतिस्पर्धी युक्रेटाइडस द्वारा खड़ी की गई कठिनाई के कारण भारतवर्ष से पीछा लौट गया । डिमोट्रियस का या पनरावर्तन बैक्ट्रिया के इतिहासज्ञों ई. पूर्व 175 में हुआ मानते हैं³ और यह बात गोरयगिरि एवम् राजगृह के घेरे के साथ, खारवेल के राज्य का प्रारम्भ ई. पूर्व 175 से मेल खा जाती है । इस प्रकार खारवेल के राज्य का प्रारम्भ ई. पूर्व 183 और इस शिलालेख के लिखे जाने का समय ई. पूर्व 170 माना जा सकता है ।

ग्रीक राजा डिमोट्रियस के उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त दूसरा साधन भी खारवेल का समय प्रायः निश्चित करने के लिए प्राप्य है । पश्चिम का सावंभौम, आंध्र के राजा सातकर्णी को ही शिलालेख में खारवेल का प्रतिस्पर्धी लिखा है ।⁴ हम इसे नानाघाट के शिलालेख का सातकर्णी ही कह सकते हैं क्योंकि सातकर्णी की रानी नागनिका का नानाघाट का शिलालेख और हाथीगुफा का शिलालेख दोनों ही लिपि के आधार पर कृष्ण के नासिक के शिलालेख के ही काल के लगते हैं ।⁵ प्रथम सातवाहनों के नानाघाट के शिलालेख 'अशोक और दशरथ के आज्ञालेखों के बहुत नहीं अपितु कुछ ही बाद के हैं और उत्कीर्णलिपि के आधार पर वे अन्तिम मौर्य अथवा प्रथम सुंगों के काल के याने ई. पूर्व दूसरी सदी के प्रारम्भ के हैं ।⁶ हाथीगुफा का लेख यद्यपि तिथि रहित है फिर भी खारवेल का समय डिमोट्रियस और सातकर्णी के समय के साथ याने ई. पूर्व दूसरी सदी का पूर्वार्ध मानने के पर्याप्त कारण हैं । जब मौर्य साम्राज्य निर्बल पड़ गया था आंध्रवंश और कलिंगवंश साथ साथ ही सत्ता में आना चाह रहे थे और यह बात सूचित करती है कि इन दोनों राजों के समकालिक होने की बहुत अधिक संभावना है ।

इस प्रकार शिलालेख की तिथि का लगभग निर्णय कर लेने के पश्चात् अब हम उसकी बातों की इस दृष्टि से निरीक्षा करेंगे कि जैनधर्म के इस महान् संरक्षक के विषय में हमें क्या पता लगता है, उसका राजनयिक जीवन कितना व्यापक रहा था कि जिसने उसे भारतीय इतिहास के महान नरपुंगवों में से एक का मान प्राप्त कराया ।

शिलालेख की पहली पंक्ति जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जैन रीति अनुसार अर्हंतों और सिद्धों के नमस्कार स्मरण से प्रारम्भ हुई है । यह जैनों में आज भी प्रचलित पंथ परमेष्ठित नमस्कार की पद्धति के अनुसार

1. केहिंड, भाग 1, पृ. 446 ।

2. वही । 3. मेयेर, एडुअर्ड, वही. भाग 9, पृ. 890 ।

4. देखो बिउप्रा, पत्रिका सं. 4, पृ. 398, और सं. 13, पृ. 226 ।

5. देखो व्हूलर, आर्चि सर्वे व्येस्ट. इण्डिया, पुस्त 5, पृ. 71; और इण्डिश पेलिग्राफी, पृ. 39 ।

6. व्हूलर, आर्चि. सर्वे व्येस्ट. इण्डिया, पुस्त 5, पृ. 71 आदि ।

ही है।¹ यही हमें इस बात का पता लगता है कि खारवेल चेदिवंश का था और उस वंश के राजा 'अइर' विरुद्ध धारण करने वाले थे।² जायसवाल कहते हैं कि 'इरा' या 'इला' का उत्तराधिकारी ही 'अइरा' होती है और इसलिए इसे चेदिवंश के वंशज का द्योतक मानना चाहिए। वे इसे 'पुराणों में वर्णित ऐला,³ से मिलाते हैं कि जो प्रमुख राजवंशों में से एक था और पुराणों के अनुसार चेदि इसी वंश के थे।'⁴

दूसरी पंक्ति में खारवेल के पन्द्रह वर्ष के युवराज पद का वर्णन है जब कि उसने मित्र मित्र विद्याएं सीखी थी। "राजा वेन की भांति ही महान् विजय प्राप्त करते हुए" उसने युवराज रूप में अनेक वर्षों तक राज्य किया।⁵

राजा वेन वैदिक व्यक्ति था।⁶ मनु⁷ के अनुसार राजा वेन के अधीन यह सारी ही पृथ्वी थी। श्री जयसवाल कहते हैं कि "पद्मपुराण के वर्णनानुसार वेन ने अपना राज्य अच्छी रीति से प्रारम्भ किया परन्तु पीछे जाकर वह जैन हो गया। हाथीगुंफा के लेखानुसार हमें पद्मपुराण की इस बात का परोक्ष समर्थन हो जाता है और वह भी यहां तक कि वेन जिसकी ब्राह्मण दन्तकथा में अन्त तक अच्छी ख्याति नहीं रही थी, जैन दन्तकथा में आदर्श राजा की ख्याति भोगता है। यदि जैनों में उस समय भी जब कि यह शिलालेख उत्कीर्णित किया गया, वेन अपने राज्य काल के अन्तिम दिनों में बुरा राजा माना जाता होता तो खारवेल की स्तुति में उससे तुलना कभी भी नहीं की जा सकती थी। यह द्रष्टव्य है कि ब्राह्मणों ने वेन में एक मात्र दोष यही पाया कि वह जैन हो गया था याने वह जाति भेद नहीं मानता था। ऐसा लगता है कि वेन को बदनाम करने की दन्तकथा बाद की एवम् जैन-परवर्ती काल की है।'⁸

तीसरी पंक्ति में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हम पढ़ते हैं कि 24 वर्ष पूर्ण कर खारवेल ने कलिग-वंश के तीसरे राजा के रूप में 'महाराजा मिषेचनम्' विरुद्ध प्राप्त किया और उसने कलिग की राजधानी में खिंबीर ऋषि सागर की पाल का जीर्णोद्धार कराया और घाट बंधवाया था।⁹

चौथी पंक्ति से खारवेल के राजकीय जीवन का वर्णन प्रारम्भ होता है। पंक्ति के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि खारवेल ने 35 लाख की बहुप्रसू जनता को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था।¹⁰ इतरी भारी जन संख्या से आश्चर्यान्वित होने जैसी कोई बात नहीं है। अशोक के तेरहवें पर्वतावालेख में कहा गया है कि उसकी सेना के विरुद्ध कलिग ने 1,50,000 युद्ध बन्दी दिए, 1,00,000 कत्ल कर दिए गए और 'इनसे कितने ही गुरो मर गए थे'।¹¹ हताहतों और बन्दियों दोनों की संख्या ही ढाई लाख की हो जाती है। शार्नहार्स्ट की गणानुसार जन संख्या को प्रत्येक पन्द्रहवो व्यक्ति ने परराज्य-आक्रमण के समय यदि अस्त्र ग्रहण किया हो तो अशोक के समय में ही कलिग की बस्ती लगभग 38 लाख की हो सकती है।¹² इसके सौ वर्ष पश्चात् अर्थात् खारवेल के राज्य काल में, मौर्य-विजय और मौर्य राज्य के कारण वह जनसंख्या घटकर 35 लाख रह जाना बहुत ही सम्भव है।

-
1. रामो अरिहंताणं रामो मिद्धाणं आररियाणं रामो उवज्झायाणं रामो लेण सव्वसाहूणं, ऐसो पंवरणमुक्कारो... कल्पसूत्र, सूत 1। 2. देखो बिउप्रा, पत्रिका, सं॥ 4, पृ. 397 और सं. 13, पृ. 222।
 3. पार्जीटर, राएसो पत्रिका, 1910, पृ. 11, 26। 4. बिउप्रा, पत्रिका सं. 13, पृ. 223।
 5. देखो वहां, सं. 4, पृ. 397 और सं. 13, पृ. 224। 6. ऋग्वेद, मण्डल 10, ऋचा 123।
 7. मन, अध्याय 9, श्लोक 66-67। 8. बिउप्रा पत्रिका सं. 13, पृ. 224, 225।
 9. देखो वही, सं. 4, पृ. 397-8 और सं. 13, पृ. 255। 10. देखो वही सं. 4, पृ. 398, सं. 13 पृ. 226।
 11. बह्लर, एपी. इण्डि., पुस्त. 2, पृ. 471। 12. देखो बिउप्रा पत्रिका सं. 3 पृ. 440।

इस संख्या को स्वीकार करते हुए विन्सेट स्मिथ कहता है कि 'हम जानते हैं कि मौर्य और उनके पूर्वज जनगणना लगातार किया करते थे, इसलिए इस संख्या में सन्देह करने का हमारे लिए कोई भी कारण नहीं है।'¹

इस शिलालेख की अन्य बातों का विचार करने के पूर्व उस समय के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि फेंक लेना उपयोगी है। डा. वारन्यैट के शब्दों में अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य तुरन्त ही टूट गया और आस-पास के राजों को अपनी सीमा बढ़ाने की महत्वाकांक्षा पूरी करने का उपयुक्त अवसर पूरा पूरा मिल गया था। इन राजों में ही सिमुक नाम का एक राजा था जिसने ई. पूर्व तीसरी सदी के अन्तिम पाद में सातवाहन या सातकर्णी राजवंश की स्थापना की और इस वंश ने तेलुगू देश पर प्रायः पांच सदियों तक राज्य किया था। उसके अथवा उसके निकटस्थ उत्तराधिकारी उसके छोटे भाई कृष्ण या कान्ह के राज्यकाल में आंध्र साम्राज्य पश्चिम में कम से कम 74 देशान्तर और सम्भवतः अरब सागर तक भी विस्तार पा गया था।² इन प्रारम्भिक सातवाहनों के काल में आंध्र राज्य की सीमा इतनी बढ़ गई थी कि उसमें सारा ही नहीं तो अधिकांश भाग विध्वंस का, मध्य-प्रदेश और हैदराबाद का समावेश होता था।³

'परन्तु इस समय सुग और आंध्र शक्तियां ही देश के उस भू भाग पर जिसे अब मध्य भारत कहा जाता है, सत्ता जमाने का प्रयत्न नहीं कर रही थीं। हाथीगुफा का लेख बताता है कि ई. पूर्व लगभग 180 में कलिगाधिपति खारवेल भी इसके एक प्रतिद्वन्द्वी रूप में⁴ आया।'

उस काल के राजनीतिक वातावरण में अपने देश को महत्व का स्थान प्राप्त कराने की खारवेल की महेच्छा ने उसे उसके पड़ोसी दक्षिण की सार्वभौम सत्ता के साथ टक्कर लेने को उकसाया। आंध्रराजा सातकर्णी के विरुद्ध उसने अपने राज्यकाल के दूसरे ही वर्ष पश्चिम में एक बड़ी सेना भेज दी।⁵ इस वंश के शिलालेख के अनुसार यह राजा सातवाहनकुल का और पुराणों के अनुसार आंध्र (आंध्रनृत्यों) कुल का था।⁶ मौर्य राज्य की दक्षिणी सीमा पर की यह अवशीभूत जाति थी और इसका घर मद्रास प्रेसीडेंसी का गोदावरी एवं कृष्णा नदी के बीच का तटीय प्रदेश था।

सातवाहनों के मूल स्थान और वर्ण का विचार करते हुए श्री बार्ले कहते हैं कि खारवेल के लेख में सातवाहनों को कलिंग के पश्चिम में बताया गया है; जैन दन्तकथा में निजाम राज्य का पेटण उनकी राजधानी कही गई है; कथासरित्सागर में इस वंश के उद्भव के लिए वर्णन में इस वंश के सस्थापक का जन्म पेटण में हुआ कहा गया है...सातवाहनों के अधिकांश शिलालेख नासिक में पाए जाते हैं; उनका प्राचीनतम शिलालेख पश्चिमी-भारत के नानाघाट में है; उनके प्राचीनतम सिक्के भी पश्चिमी भारत में ही पाए गए हैं...इससे ऐसा मालूम

1. स्मिथ, राएसो पत्रिका, 1918, पृ. 545।

2. नासिक के शिलालेख सं. 1144 और पूना के उत्तर-पश्चिम 50 मील दूरस्थ नानाघाट के लेख सं. 2114 में इसका निर्देश है।

3. कैहिंड, भाग 1, पृ. 599, 600।

4. वही, पृ. 600।

5. जिस आंध्र राजा का यहां संकेत किया गया है, वह पुराण वंशावली का तृतीय श्री-सातकर्णी ही हो सकता है कि जिसकी स्मृति, बम्बई के पुना जिले के प्राचीन नगर जुनार को कौकण से जाने वाले दर्रा, नानाघाट में मिली विरूपकृत परन्तु लेखोंकितउभरी मूर्ति में सुरक्षित है।—ब्लूजर, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ व्येस्टर्न इण्डिया, सं. 5, पृ. 59।

6. पाजींटर, डाइनेस्टीज आफ दी कलि एज, पृ. 36।

होता है कि सातवाहनों का मूल स्थान पश्चिमी-भारत ही था...सातवाहन राजों के वर्ण या जाति के विषय में जैन दन्तकथा की साक्षी बड़ी उलभनमरी और अश्रद्धेय है। एक दन्तकथा कहती है कि सातवाहन चार वर्षीय कुमारिका के पेट में से जन्मा था; दूसरी उसे यक्ष की वंशज कहती है। शिलालेख साक्षी सातवाहन की निश्चय ही ब्राह्मण बताती है।¹

खारवेल के इस पश्चिमी आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि सातकर्णी यद्यपि पराजित तो नहीं हुआ, फिर भी खारवेल को मूपिक राजधानी हस्तगत करके ही सन्तोष कर लेना पड़ा था। इसको उसने काश्यप क्षत्रियों की सहायता करने के लिए ही हस्तगत किया था।² ये मूपिक ब्रह्म संभव है कि सातकर्णी के अधीन मित्र थे और ऐसा लगता है कि मूपिक देश पंठण और गोंडवाना के बीच में होना चाहिए। जैसे कोसल उड़ीसा के उत्तर पश्चिम में है, वैसे ही मूपिक देश भी उसके पश्चिम में ही लगा हुआ होना चाहिए।

पान्चवीं पंक्ति हमें इसमें अधिक कुछ भी नहीं बताती है कि खारवेल ने तीसरे वर्ष में संगीत, नृत्य आदि ललितकलाओं में प्रवीणता प्राप्त की।³

छठी पंक्ति कुछ महत्व की है। इसी में हम नन्दयुग का कुछ उल्लेख पाते हैं। पहले तो यह कहा गया है कि सातकर्णी और मूपिकों के विरुद्ध अभियान करने के पश्चात् खारवेल ने फिर अभियान पश्चिमी भारत की ओर किया। अपने राज्यकाल के चौथे वर्ष में उसने मराठा देश के राष्ट्रकों और बराड़ के भोजकों को नतशिर कराया जो कि आंध्रों के करद थे।⁴

शिलालेख के अनुसार उसने दक्खन के आंध्र राज्यों पर दो बार अभियान किया था। राज्यकाल के दूसरे वर्ष में उसने अश्व, गज, पैदल और रथों की भारी सेना सातकर्णी के विरुद्ध पश्चिम में भेजी; और चौथे वर्ष में उसने मराठा देश के राष्ट्रकों और बराड़ के भोजकों को जा कि दोनों ही प्रतिष्ठान के आंध्र राजा के अधीन थे, नतशिर कराया।⁵ ये चढ़ाइयां निःसन्देह दक्खण की सार्वभौम सत्ता के चुनौती रूप थीं, परन्तु इन्हें स्वरक्षा की सीमा से बाहर तक नहीं चलाया गया। प्रा. रेप्सन के शब्दों में "हम कल्पना कर सकते हैं कि खारवेल की सेना महानदी की घाटी, और उसकी सीमान्त को पार कर गोदावरी और उसकी शाखा वैपगंगा एवं वर्षा नदी की तराई को पार कर गई थी। इस प्रकार उसकी सेना ने उस क्षेत्र में चढ़ाई की कि जिसे आंध्र राजा अपने राज्य में ही मानता था। परन्तु न तो यह कहा गया है और न ऐसा अनुमान करने का ही कोई आधार है कि कलिंग और आंध्र की सेनाओं की वस्तुतः कोई मुठभेड़ इन दोनों चढ़ाइयों में से किसी में भी हुई अथवा उनसे कोई महत्वपूर्ण राजनयिक परिणाम निकले थे।"⁶

यह हम खारवेल की विजयों की महत्ता कम करने के उद्देश से नहीं कहते हैं इसमें सन्देह ही नहीं है कि अपने समय की राजनयिक घटनाओं में बहादुर योद्धा स्वरूप से उसने खूब ही हिस्सा लिया था, परन्तु इससे अधिक

1. राएभा. बम्बई-शाखा पत्रिका (नई माला) सं. 3, पृ. 49-52।

2. विउप्रा पत्रिका सं. 4, पृ. 398. और सं. 13, पृ. 226।

3. देखो वही। 4. वही, सं. 4, पृ. 399।

5. हैद्राबाद के आरंगनाबाद जिले में गोदावरी के उत्तरी तट स्थित आधुनिक पंठण, साहित्य में राजा सातकर्णी (सातवाहन या शालिवाहा) और उसने पुत्र शक्ति-कुमार की राजधानी रूप से प्रख्यात है।

6. रेप्सन, कैहिर्ड. भाग 1, पृ. 536।

कुछ भी नहीं किया। वह अवश्य ही महान् पुण्यमित्र या महान् शालिवाहन के समक्ष खड़ा हो सकता है, परन्तु जैसा संकेत उसके दूसरे और चौथे वर्ष के अभियानों से मिलता है, यदि उसकी आकांक्षा प्रतिष्ठान के आंध्र राज से सार्वभौम सत्ता छीनने की थी तो उसके ये अभियान विफल ही कहे जाएंगे। वैसा करना उसके लिए सम्भव नहीं था और शिलालेख के उल्लेख का ऐसा अर्थ भी नहीं है।

राज्यकाल के पाँचवें वर्ष में खारवेल उस नहर को जो राजा नन्द के 103 वें वर्ष में खोदी गई थी और तनसुलिय या तोसली के राजमार्ग को¹ कलिंग के नगर तक ले आया।² इस और अनेक अन्य निर्मूल वर्णनों और वर्षकों से जो कि शिलालेख में हैं, फ्लीट, स्मिथ आदि जैसे विद्वानों को यह अनुमान करने को प्रेरित किया कि उड़ीसा में सावधानी से इतिहास रखा जाता था और यह भी कि बिना किसी सम्बत् गणना के इन सब लम्बी अवधियों का हिसाब रखना सम्भव नहीं हो सकता था।³ जिस सम्बत् से समय की गणना यहां की गई है वह नन्द सम्बत् था, यह लेख के पाठ से एक दम स्पष्ट है। यह इतना स्वाभाविक है कि कोई भी राजा विशेष के राज्य-काल से इतने लम्बे समयान्तरों की स्मृति रखने का विचार ही नहीं कर सकता है यदि उस राजा का वह सम्बत् लगातार प्रयुक्त होता नहीं रहा हो। जायसवाल के अनुसार यह राजा सिवा राजा नन्द वर्धन के दूसरा और हो ही नहीं सकता है कि जिसकी तिथि उनकी गणनानुसार ई. पूर्व 450 के लगभग आती है।⁴ जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इस शिलालेख में ऐसा कोई ऐतिहासिक आधार या कोई अन्य संकेत नहीं है कि जिससे हम उक्त पहचान कर सकते हैं। जायसवाल का विश्वास है कि एलवरूनी निर्दिष्ट श्रीहर्ष सम्बत्⁵ के साथ यह सम्बत् मिलता हुआ है और इसलिए जो स्थानीय दन्तकथा एलवरूनी ने हर्ष के विषय में दी है, उमो को जायसवाल ने नन्दी वर्धन⁶ के साथ मूल से जोड़ दी है। इस लेखक की दृष्टि में चिन्तान से पहचान करने की यहां कोई भी समुचित कारण नहीं है। यह कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है कि सम्बत् का प्रारम्भ जैनों का प्रथम नन्द अथवा पुराणों के महापद्य नन्द से हुआ हो। जो कुछ भी हमने पुराणों और प्राचीन वर्णनों से नन्दों के विषय में जाना है, उससे यह निश्चित है कि वह अपने नाम का सम्बत् प्रवर्तन करने जितना महान् अवश्य ही था। इससे हम उक्त सम्बत् को बिना किसी जोखम के उसके द्वारा चलाया हुआ मान सकते हैं। अतः छठी पंक्ति में निर्दिष्ट नहर की तिथि ई. पूर्व 320-307 स्थूलतः होगी जबकि हम महावीर निर्वाण की तिथि ई. पूर्व 480-467 लेते हैं।

सातवीं पंक्ति में जो कुछ लिखा है उससे हमें मालूम होता है कि खारवेल की रानी वज्रकुल⁷ की थी, और जायसवाल कहते हैं कि 'रानी का नाम या तो लेख में दिया नहीं गया है अथवा वह 'घुषित (ता) है।'⁸ यह उसके राज्यकाल का सातवां वर्ष था और ऐसा मालूम होता है कि इस समय उसको पुत्ररुप राजकुमार प्राप्त हो गया था।⁹

1. यह मानना न्याय संगत होगा कि खारवेल की राजधानी तोसली थी जिसकी पड़ोस में हाथीगुंफा और प्राची नदी पाए जाते हैं। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार तोसली व्युत्पत्ति से ढोली हो सकता है जहां कि कलिंग आज्ञालेख का एक सम्प्रदाय आज भी है।—स्मिथ, वही, पृ. 546।
2. देखो बिउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 399।
3. देखो फ्लीट, राएसो पत्रिका, 1910, पृ. 828; स्मिथ, वही, पृ. 545। 4. बिउप्रा पत्रिका, सं. 13, पृ. 240
5. देखो सचाउ, एलवरूनीज इण्डिया, भाग 2, पृ. 5। 6. देखो बिउप्रा पत्रिका, सं. 13, पृ. 240।
7. वज्र-धर-वर्ति घुसितधरिनि...।—वही, पृ. 227। डा. के. आयंगर के अनुसार यह वज्रवंश ही प्राचीन एवं प्रमुख वंश है जो गंगा के इस और के बंगाल का स्वामी था।—सम कांटीव्यूथर्स आफ साउथ इण्डिया टू इण्डियन इतिहास, 39। 8. बिउप्रा पत्रिका, सं. 13, पृ. 227। 9. ...। कुमार आदि—वही।

उसके राज्य के आठवें वर्ष का प्रारम्भ मगध की चढाई से होता है। वह एक बड़ी सेना लेकर गोरठगिरि के सुदृढ़ गढ़ पर घावा बोलता है।¹

लेख की यह आठवीं पंक्ति महत्व की है। इसके विषय में पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। उसमें निर्दिष्ट इण्डो-ग्रीक राजा डिमेट्रियस के उल्लेख ने कलिंग के इतिहास के खारवेल के समय के बहुत उलझन भरे और महत्वपूर्ण प्रश्न को स्पष्टीकरण कर दिया है। उसकी पूर्व की पंक्ति के कितने ही अंश के साथ श्री जयसवाल के पंक्ति के नए वाचन के अनुसार उसका शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार है और इसी को हमने आधार लेकर यहां विवेचन किया—“आठवें वर्ष में वह (खारवेल) गोरठगिरि (गढ़) के सुदृढ़ आहाते (याने दीवाल, बाड) को बड़ी सेना द्वारा आक्रमण करवा कर, राजगृह के चहुं ओर दबाव डालता है (राजगृह पर घेरा डालता है)। इस खबर (हंगामे) के कारण, वीरता के कार्यों से उत्पन्न (याने गोरठगिरि के गढ़ की विजय और राजगृह के आक्रमण), प्रतापी राजा डिमेए (रियस) सेना और परिवहन को खींच याने अपनी सेना और रथों द्वारा अपने को सुरक्षित करता हुआ मथुरा का घेरा उठाकर लौट गया।²

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने राज्यकाल के आठवें वर्ष में खारवेल ने मगध पर आक्रमण किया था। यह स्पष्ट कर देता है कि वह न केवल स्वतन्त्र राजा ही अपितु आक्रामक राजा भी हो गया था। वह गया से पाटलीपुत्र की प्राचीन मड़क पर (गोरठगिरि) बारबर पहाड़ी तक पहुंच जाता है। खारवेल के इस अभियान की बात सुन कर, उत्तरभारत का राजा डिमेट्रियस, पलायन कर जाता है, परिणामतः मथुरा का घेरा उठ जाता है, और जिसके भीतरी आक्रमण और भारत से पलायन का वर्णन बैक्ट्रिया के इतिहास में ऐतिहासिकों द्वारा किया गया है।³

बहुत सम्भव है कि पुष्यमित्र ही उस समय सिंहासन पर था। पुराणों के अनुसार, पुष्यमित्र ने 16 वर्ष तक राज्य किया था और विसेंट स्मिथ के अनुसार पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ को ई. पूर्व 185 में सिंहासन से उतार दिया था।⁴ जायसवाल के अनुसार यह घटना ई. पूर्व 188 में⁵ घटित हुई और इसलिए पुष्यमित्र ने ई. पूर्व 185 से 149 या 188 से 152 तक राज्य किया।

लेख की नौवीं पंक्ति में महत्व की ऐसी कोई बात नहीं है। इसमें ब्राह्मणों के दिए भूमि दान का वर्णन है, और इस प्रकार हिन्दु राज्य में प्रचलित ब्राह्मणों को दिए जाने वाले सामूहिक भूमि दान का यह समर्थन करती है।⁶ हम खारवेल के वैदिक रीत्यानुसार अभिषेक किए जाने का पहले ही कह आए हैं। वैसे ही यहां भी उनका जैन होना सनातन रीति की राष्ट्रीय संविधानिक प्रथा की परिपालना में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं डालती है। दूसरा निष्कर्ष जो हम इससे निकाल सकते हैं वह यह कि आर्यों के मूल संगठन का जनता के सामाजिक जीवन पर स्थायी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा ही था चाहे उनका धर्म कुछ भी रहा हो। महावीर काल का जैन और बौद्धधर्म ब्राह्मणधर्म के प्रचलित आकार के विरुद्ध प्रत्यक्ष क्रांति ही हों, फिर भी ब्राह्मणों के प्रति यथार्थ या दिखावटी मान और अन्य वर्णों से सामाजिक उच्चता का उनका दावा इन क्रांतियों से बिल्कुल ही प्रभावित नहीं हुआ था।

1. महता सेना मह (त-भित्ति)—गोरथगिरि वातापयिता, आदि।—वही, सं. 4, पृ. 399, और स. 13, पृ. 227।

2. विउप्रा पत्रिका सं. 4, पृ. 378, 379 और सं. 13, पृ. 228, 229।

3. मेयेर (एडवर्ड), वही, भाग 9, पृ. 880। 4. पार्जीटर वही, पृ. 70।

5. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 204।

6. विउप्रा पत्रिका सं. 13, पृ. 243। देखो वही, सं. 4, पृ. 400 और सं. 13, पृ. 229

यद्यपि ऐसी बातें व्यक्तिगत उदार भावनाओं पर बहुतांश में निर्भर करती हैं, फिर भी खारवेल अशोक की भांति ही प्रतापी सम्राट होने पर भी धर्मांध सम्राट नहीं था। अशोक के शिलालेखों की भांति इसको यह शिलालेख भी उसे परम उदार और धर्मांध वृत्ति से दूर ही मित्र करता है। सर्वधर्म समभाव उसका गुण था और उसकी उदारवृत्ति और स्वभाव के कारण ही वह स्वयम् को 'सर्व धर्म के लोगों का पूजक' कहता हो।¹

दसवीं पंक्ति कहती है कि खारवेल ने 38,00,000 भिक्के खर्च कर महाविजय (विजय-प्रसाद) प्रसाद बनवाया था।² उसके बाद 'साम दाम और दण्ड' नीति के अनुसार विजय के लिए उत्तर-भारत की ओर उगने प्रयाण किया एवम् जिस पर उसने आक्रमण किया उनसे उसे मूल्यवान भेटें प्राप्त कीं।³ भारतीय राजनीति की तीसरी प्रकार याने भेद नीति का उसने प्रयोग नहीं किया यह एक उल्लेखनीय घटना है और इसका कारण कदाचित यह हो कि खारवेल की नीति के लिए उसका प्रयोग अति नीच और असम्मानिय माना गया था।⁴

इसके बाद की पंक्ति हमारे उद्देश के लिए विशेष उपयोगी नहीं है। गधे के हल द्वारा खारवेल ने कोई मण्ड (मिहामन) उखड़वाया इसका इसमें कहा गया है।⁵ यह भी कहा गया है कि वह किसी नीच या दुष्ट राजा का मिहामन था। इस राजा की नीचता या दुष्टता जैनधर्म विरोधी आचरण ही होना चाहिए। यहाँ जिस मिहामन की बात है वह कोई सजाई हुई बैठक या कोई विद्युत् हुई गादी भी हो सकती है। उस नीच या दुष्ट राजा का ऐसा कुछ भी उल्लेख शिलालेख में नहीं किया गया है कि जिनमें हम उसे पहचान सकें। फिर खारवेल 113 वर्ष पूर्व अथवा 113वें वर्ष बनी हुई सीसे की आकृति या आकृतियों के समूह को नाश करता है। खारवेल के 11वें वर्ष से 113 वर्ष पूर्व की गिनती लगाएँ तो इस सीसे की आकृति या आकृतियों के निर्माण की तिथि ई. पूर्व 285 आती है। परन्तु छठी पंक्ति के अनुसार यदि इसे नन्द संवत् मानते हैं तो तिथि ई. पूर्व 345 आती है।

प्रथम घटना अपराज (दुष्टराज) की है। ऐसा लगता है कि दुष्टराज ने किसी प्रकार का आक्रमण किया होगा। परन्तु दूसरी प्रकार की घटना कुछ भी समझ में नहीं आती है। ये आकृतियाँ जैनों के सिवा अन्य नहीं थीं, यह निश्चित ही लगता है क्योंकि एक तो ऐसा कुछ कहा नहीं गया है और दूसरे उससे उसकी परधर्म उदारता का भी बाधा पहुंचती है। जैसा कि हम आगे मन्त्रहवीं पंक्ति में देखेंगे, खारवेल सब धर्मों का सम्मान करनेवाला था और इसीलिए ऐसा लगता है कि ये आकृतियाँ जैन तीर्थंकरों को उपास्य रूप में दिखाने वाली ही हों।

इस घटना के सिवा इस पंक्ति से यह भी मालूम होता है कि खारवेल ने उत्तरापथ (उत्तर पंजाब और सीमा प्रदेश) पर भी अपनी धाक बैठा दी थी।

फिर बारहवीं पंक्ति भी हमारी दृष्टि से महत्व की है। सिर्फ खारवेल के विषय में ही उसका महत्व हो सो बात नहीं है। 'नन्द और उसके धर्म', 'जैनधर्म और नन्दवंश', 'जैन धर्म की प्राचीनता' और 'जैनों में मूर्तिपूजा' आदि प्रश्नों पर भी इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसमें के अनेक प्रश्नों की चर्चा तो पहले ही की जा चुकी है और शेष की चर्चा आगे यथास्थान की जानेवाली है। यहाँ तो मात्र बारहवीं और इसके पूर्व की पंक्ति के कुछ अंश का शाब्दिक अनुवाद देना ही पर्याप्त होगा :—

'बारहवें वर्ष में (वह) उत्तरापथ के राजों में मय का संचार करता है और मगध की जनता में बड़ा आतंक उत्पन्न कर (वह) अपनी गजसेना को सुगागेय में प्रवेश कराता है, और वह मगध के राजा वहसतिमित्र को अपने

-
1. सब-पासंद-पूजको...। विउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 403।
 2. देखो वही, पृ. 400।
 3. देखो वही और सं. 13, पृ. 230।
 4. देखो वही।
 5. वही।
 6. वही-पृ. 232।
 7. सब-देवायतन-संकारकारको...विउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 403।

चरणों में नमाता है। (वह) उस कलिगजिन की प्रतिमा को जो कि राजा नन्द द्वारा अपहरण कर ली गई थी, पुनः अपने देश में लौटा लाता है और अंग एवम् मगध में दण्ड स्वरूप गृह रत्न भी वह लेता है।¹

इस प्रकार वायव्य सीमा के देशों को वीणीभूत करता है और मगधराजा को उसके चरणों में भेट चढ़ाने को बाध्य करता है। इसमें यह भी जाना जाता है कि मगध को राजा नन्द पाटलीपुत्र को कोई जैनप्रतिमा ले गया था जो कि खारवेल वहमतिमित्र के द्वारा कर अंग एवम् मगध की विजयों के अन्य विजय-चिन्हों सहित उड़ीसा में लौटा लाता है। प्रथम दृष्टि में यह अजीब सा लगता है कि यह प्रतिमा 'कलिगजिन' क्यों कही गई है। इसमें ऐसे किसी तीर्थंकर का भाग नहीं होता है कि जिसकी जीवनलीला कलिग से सम्बन्ध हो, परन्तु ऐसा लगता है, जैसा कि मुनि जिमविजयजी कहते हैं, कि प्रतिष्ठा के स्थान के नाम से प्रतिमाओं को पहचान सदा ही की जाती है।² शतुंजय के प्रथम तीर्थंकर (ऋषभदेव) उदाहरणार्थ शतुंजय जिन कहे जाते हैं।। इसी प्रकार शत्रु की मूर्ति 'शत्रुदजिन' और धुलेवा (मेवाड़) की मूर्ति 'धुलेवाजिन' कहलाती है।³ इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि मूर्ति उमी जिन की हो कि जिसकी जीवनलीला कलिग से सम्बद्ध हो। 'कलिगजिन' को वाक्य से इसलिए इतना ही अभिप्रेत है कि इस जिनमूर्ति की पूजा कलिग अथवा कलिन की राजधानी में हुआ करती थी।

इसके आगे की पंक्ति का विचार करने के पूर्व वहमतिमित्र कौन था, किम प्रख्यात राजा से उसकी पहचान की जा सकती है और कलिग में जैन धर्म कब से प्रचलित था, इन बातों का विचार करना आवश्यक है।

उस काल का समकालिक इतिहास देखने हुए यह बात स्पष्ट है कि यह वहमतिमित्र मुंगराज पुष्यमित्र ही था। पश्चिम के सातवाहनों की भाँति वह ब्राह्मण था और उसने प्राचीन ब्राह्मण विचारों का विप्लव जगा कर मौर्यों को उखाड़ अपने वंश का राज्य स्थापन कर लिया था। इसका इतना ही अर्थ है कि ई. पूर्व दूसरी सदी में उसने ब्राह्मणधर्म की पुनः स्थापना की थी। तारानाथ (ई. 1608, प्राचीन ग्रन्थों के आधार से) कि जिसका शुद्ध अनुवाद स्कीफनर ने किया है, की साक्षी, दिव्यावदान⁴ के मन्तव्य से मिलती है जो कहता है कि पुष्यमित्र पाखण्डियों का मित्र था और उसने विहारों का भ्रम किया एवम् भिक्षुओं को हनन किया था :—

“ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र की अन्य तिथियों के साथ लड़ाई हुई। उसने मध्यदेश में जन्धर तक के अनेक विहार जला कर भूमिसात कर दिए थे।”⁵

पुष्यमित्र के इस धार्मिक विप्लव के पीछे खास राजनैतिक कारण भी होंगे। परन्तु कहना चाहिए कि महान् मौर्य सम्राट अशोक ने यह कदाचित मोचा ही नहीं था कि राजनैतिक सहजज्ञान का उसमें अभाव, उसकी धार्मिक नीति, उसकी सर्वदेव पूजा, और उसका विभाजन मंत्र ने मिल कर उसकी साम्राज्य की जड़े खोखली कर दी हैं। अन्यथा उसकी सुदृढ़ जमाई हुई सैनिक तानाशाही इस महान् भारती नरेश की मृत्यु के पश्चात् 40 या 50 वर्ष में ही लुप्त नहीं हो जाती कि जिस सम्राट का बौद्ध संसार आज भी प्रेम से स्मरण करती है और जो संसार भर में एक उत्तम और भला राजा माना जाता है। उसकी मृत्यु उत्तर-भारत के ब्राह्मणों, दक्षिण के सत्ताशील आंध्रों और भरत के विदेशी दुश्मनों को हिलावह हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् हिन्दूकुश तक की मौर्य सत्ता निर्बल हो

1. सेहि वितासयतो उतरापथराजानो मगधानां च विपुलं भयं जनेतो...अंगमागध-वसुं च नेयाति । —वी, सं 4, पृ. 401, और सं. 13, पृ. 232 । 2. देखो विउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 386 ।
3. वही । 4. देखो कोव्येल एंड नील, वही, पृ. 434 ।
5. स्कीफनरष तारानायूस हिस्ट्री ग्राफ बुद्धीज्म, पृ. 81

गई। वायव्य प्रांत वाले आक्रमण करने को मुक्त हो गए और बैक्ट्रिया, पाथिया आदि ग्रीक प्रान्तों एवम् सीमा-प्रदेश की युद्ध-तत्पर जातियों के लिए भारतवर्ष असीम लालच का स्थान बन गया।

उसके सर्वधर्म समभाव होते हुए भी ब्राह्मण लोग अपने धर्म को भय में देखते थे और इसलिए उसके याने अशोक के प्रति द्वेष रखते थे सम्भव है कि ब्राह्मणों ने अपने स्थापित अधिकारों में से भी अनेक उस काल में खो दिए होंगे। इन्हीं कारणों से मौर्य साम्राज्य के विरुद्ध महान् प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई जिसमें ब्राह्मणों ने पहले छुपे-छुपे भाग लिया और बाद में अन्तिम मौर्य के समय में उनका खुला विरोध ही हो गया। अशोक के उत्तराधिकारी के पास मात्र मगध और ग्राम पास के प्रदेश ही रह गए थे। अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ का उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने (भारतीय मैकव्हेथ ने) नमक हरामी से वध किया।¹ पौराणिक वर्णनों के आधार पर मौर्यवंश 137 वर्ष चला। इसको स्वीकार करते यह कहना होगा कि ई. पूर्व 322 में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण से ई. पूर्व 185 तक मौर्यवंश का राज्य रहा था।² यह समय प्रायः ठीक है। इस प्रकार वह ब्राह्मण वंश कि जिसने बौद्ध मौर्य को उखाड़ फेंका था ई. पूर्व 185 में भारतवर्ष में सत्ता में आया।

इस प्रकार ब्राह्मणों के उकसाने से पुष्य या पुष्यमित्र ने नमक हराम हो कर अपने स्वामी का वध किया मन्त्रियों को कैद किया और राज्य का अपहरण कर उसने आपको राजा घोषित कर सुंग या मित्रवंश का स्थापन किया जिसका कि राज्य लगभग 110 वर्ष चला और जिसने हिन्दू समाज एवम् साहित्य में प्राचीन विचार परम्परा की क्रान्ति फिर से कर दी।³ बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में (ई. शती) इस सैनिक अधिकार का उल्लेख इस प्रकार किया है। “अपने मौर्य राजा बृहद्रथ को कि जो सिंहासनारूढ़ होते समय प्रतिज्ञा को पालन करने में असमर्थ था, सेना बताने के बहाने, सेना का निरीक्षण करते हुए नीच पुष्यमित्र ने कचरघाण निकाल दिया।”

इसी बात पर लिखते हुए ‘दी हिन्दू हिस्ट्री’ ग्रन्थ का लेखक कहता है कि “पुष्यमित्र, जब वृद्ध हो गया था, उत्तर भारत में सार्वभौम राजा की प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ था। पाणिनीय व्याकरण के भाष्यकार अपने गुरु पन्तजलि का प्रमुखता और निर्देशन में इस पुष्यमित्र ने एक राजसूय और एक अश्वमेध यज्ञ बड़ी धूमधाम से किया। इस पुष्यमित्र ने हिन्दूधर्म को पुनरजीवित करने की भरसक चेष्टा की। उसके यज्ञ बौद्धों पर ब्राह्मणों की विजय चिन्ह रूप ही थे, बौद्ध ग्रन्थकारों ने पुष्यमित्र को धर्मांध और अत्याचारी चित्रित किया है। ऐसा दोष मंदा जाता है कि उसने मगध से लेकर पंजाब के जालंधर तक के बौद्ध विहारों को जला कर भूमि सात कर दिया और भिक्षुओं को कत्ल किया। इसमें कुछ सचाई भी हो सकती है। पुष्यमित्र का कहना था कि उसके विरुद्ध जनों और बौद्धों का पड़यन्त्र व्यापक था।”⁴

उपर्युक्त सब बातों को ध्यान में रखते हुए एक बात स्पष्ट है कि अशोक की अन्यायानुसंधित्सु पद्धति को प्रतिक्रिया न सर्व प्रथम तो बौद्धधर्म पर सांघातिक आघात किया और दूसरे अनेक राजनैतिक कारणों से उत्तर भारत में मौर्य प्राधान्य के भी मरणांत पहुँचा दिया। अशोक ने बौद्ध धर्म के और कुछ अंश में जैनधर्म के प्रति असीम उदारता बताई उसके परिणाम स्वरूप ब्राह्मणों के विशेष अधिकारों को भारी क्षति पहुँची। फिर ये लोग रक्त-वलि की बंधी और जासूमी की उत्तेजक कार्यवाहियों से भी अमन्तुष्ट थे। इसलिए ज्यों ही बृद्ध राजा का सुदृढ़

1. मज्जुमदार, वही, पृ. 626। 2. देखो पार्ज़ीटर वही पृ. 27। 3. विउप्रा पत्रिका 10, पृ. 202।

4. यह अनुवाद कोव्यूल एवं टामस के (हर्षचरित, पृ. 193) और व्हूलर (इ. एण्टी सं. 2, पृ. 363) एवं जायसवाल के अनुवादों को मिला कर दिया गया है। देखो स्मिथ, वही, पृ. 268 टि. 1।

हाथ दूर हुआ कि ब्राह्मणों की सत्ता के प्रभाव ने फिर से निर ऊचा किया और विप्लव मचा दिया कि जिसके फल स्वरूप, जैसा कि हमने देख लिया है, सुगवंश, का स्थापना हो गई। सुगों के राज्य विस्तार का विचार करने पर हम देखते हैं कि पाटलीपुत्र, आधुनिक पटना, प्राचीन काल का पालीपोत्रा और उस समय की उत्तर-भारत की राजधानी, सुगों की राजधानी बनी रही और आसपास के प्रदेश भी उनके अधिकार में रहे। दक्षिण में नर्मदा तक उनके राज्य का विस्तार था। बिहार, तिरहूत और आधुनिक उत्तर प्रदेश भी उनके राज्य में था। पंजाब ती परवर्ती मौर्यों के अधिकार में से बहुत पहले ही निकल चुका था अतः वह सुगों के अधिकार में नहीं था।

बृहस्पति और पुष्यमित्र एक ही व्यक्ति हैं, वह सामयिक इतिहास की बात बृहस्पति और पुष्य नक्षत्र के पारस्परिक सम्बन्ध से भी समर्थित होती है। इस पर टिप्पण करते हुए श्री स्मिथ लिखता है कि 'बृहस्पति कुछ सिक्कों और छोटे शिलालेखों का बृहस्पति मित्र ही प्रतीत होता है क्योंकि दोनों ही संस्कृत शब्द बृहस्पति के प्राकृत रूप हैं। फिर ज्योतिष में बृहस्पति ग्रह पुष्य या तिष्य नक्षत्र का कि जो कर्क राशि का ही अंश है, स्वामी कहा गया है। बृहस्पति निश्चय ही पुराणों की बंगाली के सुगवंश का प्रथम राजा पुष्यमित्र का ही विकल्प नाम है।'²

इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए श्री हरप्रसाद शास्त्री इस प्रकार कहते हैं कि 'अशोक वस्तुतः बौद्ध राजा था और वह भी धर्मन्ध...। उसने सारे साम्राज्य में सब प्रकार के पशु-यज्ञ बंध कर दिए थे...। उसकी यह आज्ञा जहां भी ब्राह्मण रहते हो, उनकी विशिष्ट जाति के विरुद्ध ही थी...। इसी आज्ञा के बाद एक दूसरी आज्ञा भी थी जिसमें अशोक ने गर्व के साथ घोषणा की थी कि उसने इस भूमि पर देव माने जानेवाले लोगों को थोड़े ही समय में कुदेव बना दिया है। यदि इसका कोई अर्थ हो तो यही है कि भूदेव माने जानेवाले ब्राह्मणों का उसने परदा फाश कर दिया...। धर्ममहामार्तों की अशोक द्वारा नियुक्तियां भी ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों के प्रति प्रत्यक्ष आक्रमण था। इस प्रकार की गई अपनी हानि को ब्राह्मण चुपचाप सहने वाले नहीं थे। इन सब के कलश रूप, अशोक ने अपने एक आज्ञालेख में अपने समस्त अधिकारों को आदेश दिया था कि वे दण्डसमता और व्यवहारसमता के सिद्धांतों का कड़ाई के साथ परिपालन करें अर्थात् जाति, रंग और वर्ण और धर्म की अवगणना करते हुए समान शिक्षा और समान व्यवहार का अमल करें।... ऐसी परिस्थिति में प्रतिष्ठा-सम्पन्न, महान् विद्वान् और विजिष्ट अधिकार प्राप्त ब्राह्मणों को भी अनार्यों के साथ जेल में रहने, कोड़ों का दण्ड दिए जाने, जीवित ही भूमि में गाड़ दिए जाने अथवा फांसी पर लटकाए जाने के दण्ड अपराधानुसार दिए जा सकते थे और यह उन्हें अमह्य हो गया था। ये सब अपमान वे जब तक कि अशोक का सुदृढ़ बाहु साम्राज्य का संचालन करता था तब तक सहते थे...। परन्तु वे किसी ऐसे सैनिक की खोज में भी रहे कि जो उनके अधिकारों के लिए लड़े, और ऐसा व्यक्ति उन्हें मौर्य साम्राज्य को महासैन्याधिपति पुष्यमित्र के रूप में मिल ही गया। वह रंग-रंग से ब्राह्मण था और बौद्धों से घृणा करता था।'³

संक्षेप में कहें तो यह कि बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र मान लेने में जरा भी कठिनाई या आपत्ति नहीं है और न इससे कोई ऐतिहासिक क्षति ही पहुंचती है।⁴ पश्चान्तर में ऐसा करने से ही उस समय के समसमयी पुरुषों

1. मजुमदार, वही, पृ. 36। 2. देखो बंएसो, कार्याविवरण और पत्रिका, 1910, पृ. 259-262।

3. राएपी पत्रिका, 1918, पृ. 545।

4. शास्त्री, हरप्रसाद बंएसो, कार्यवाही और पत्रिका, 1910 पृ. 259-260।

5. यहां यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार के नाम-विकल्प भारतीय इतिहास में सामान्य बात है—याने विविधा-श्रेणिक, अजातशत्रु-कृणय, अशोक-प्रियदसी, चन्द्रगुप्त-नरेन्द्र, बलमित्र-अग्निमित्र, भानुमित्र-वसुमित्र आदि।

और ऐतिहासिक घटनाओं का पारस्परिक समन्वय और सम्बन्ध बैठ जाता है ।

पुष्यमित्र कट्टर ब्राह्मण था और खारवेल जैन, ये दोनों ही बातें खारवेल को राज्य का जैन इतिहास की दृष्टि से महत्व बढ़ा देती हैं । यदि पुष्यमित्र के ब्राह्मणीय धर्मयुद्ध में जैनधर्म की रक्षा करने वाला खारवेल उस समय न होता तो महावीर की धर्मक्रान्ति भी उसी प्रकार नष्ट हो गई होती जैसी कि बौद्धधर्म की बुद्ध द्वारा की गई क्रान्ति ऐसे व्यक्ति के हाथों बिलकुल नष्ट हो गई कि जिसकी ख्याति 'बौद्ध सिद्धान्त के उन्मूलनकर्ता' नाम से है ।¹

जैसा कि हम पहले ही कह आए हैं, खारवेल ने मगध पर दो बार चढ़ाईयां की थीं । पहली चढ़ाई में वह लगभग पाटलीपुत्र तक पहुंच गया था । उस समय पुष्यमित्र ने युक्तिपूर्वक मथुरा की ओर पीछे हटने और खारवेल ने बराबर टेकरियों (गोरठगिरि) से आगे नहीं बढ़ने में ही होशियारी या समझदारी मानी ।

परन्तु दूसरी चढ़ाई में खारवेल विजयी हुआ । उत्तर-भारत में प्रदेश कर हिमालय की तलेटी तक पहुंच उसने यकायक मगध की राजधानी पर गंगा की उत्तर में धावा बोल दिया । इस नदी को उसने कलिंग के प्रख्यात हाथियों द्वारा पार किया था ।² पुष्यमित्र शरणागत हुआ और विजेता खारवेल ने उसके राज्य के कोश पर अपना अधिकार जमा लिया । उसमें कलिंगजित की प्रतिमा जो महाराज नन्द श्म ले आया था, वह भी थी । उसकी इस विजय का प्रभाव सुगं राज्य की पूर्वी सीमा मात्र पर ही पड़ा । उसने बंगाल एवम् पूर्व बिहार पर भी विजय प्राप्त की होगी जहां कि जैनधर्म के प्रभाव के अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं ।³

खारवेल की इस विजय के विषय में जयगवाल कहते हैं कि "पुष्यमित्र ने लड़ाई के परिणाम पर अपने राज्य सिंहासन का दाव लगाने की अपेक्षा भूतपूर्व तीन सदियों के मगध-कलिंग इतिहास को संक्षिप्त करने वाले पदार्थों को लौटाकर रक्षा की । बहुत संभव है कि मगधराज की सत्ता ने ही इस चढ़ाई के उद्देश को कूट-राजनैतिक विजय की अपेक्षा महत्व का बना दिया क्यों कि भारतवर्ष के उस साम्राज्य सिंहासन पर अधिकार न कर यांही छोड़ देना किमी भी मनुष्य के लिए आसान बात नहीं था ।"⁴

खारवेल पुष्यमित्र का यह सिंहासन अपहरण नहीं कर सका था, यह बात शिलालेख के पाठ से स्पष्ट प्रगट है । उस सीमा तक कल्पना को खींचने की आवश्यकता ही नहीं है । वस्तुतः ऐसा हुआ दीव्यता है कि जैसे सातकर्णों के सम्बन्ध में हुआ था वैसे ही खारवेल का अपने पड़ोसियों पर अपना कुछ अधिक सर्वोपरिता जमा कर ही यहां सन्तोष कर लेना पड़ा होगा, क्योंकि अन्तिम मौर्य राज बृहद्रथ की हत्या के पश्चात् मौर्य साम्राज्य की सम्पत्ति विभाजन कर लेने वाली शक्तियों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्वता से उस समय का राजनीतिक वातावरण लहरा रहा था । महान् राज्य के पतन पर उठनेवाली शक्तियों में गुत्ता के लिए संघर्ष चल रहा था । इस संघर्ष में यह बिना जोखम के कहा जा सकता है कि खारवेल ने भी पूरा पूरा भाग लिया था यही नहीं अपितु जो भी उसे प्राप्त हो सका उसे ले लेने में उसे यश ही प्राप्त हुआ था ।

कलिंग में जैनधर्म की प्राचीनता की दूसरी बात का विचार करते हुए हम देखते हैं कि इस शिलालेख में कलिंगजिन के उल्लेख के अतिरिक्त हमें कुछ भी संकेत नहीं मिलता है जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है उसमें जिस वाक्यरचना का प्रयोग किया गया है उसमें ऐसा लगता है कि उक्त मूर्ति कलिंग अथवा कलिंग की राजधानी

1. दव्यावदान पृ. 433-434 ।

2. मिमथ, वही, पृ. 209 ।

3. मज्जिमदार, वही, पृ. 633 ।

4. विउप्रा, पत्रिका सं. 3, पृ. 447 ।

में पूजा जानेवाली जिनमूर्ति ही होगी। शिलालेख स्पष्ट ही कहता है कि यह मूर्ति राजा नन्द उठा ले गया था याने वह उसे कलिंग से मगध में ले गया होगा। हम यह भी देख आए हैं कि यह राजा नन्द जैनों का नन्द 1म था न कि नन्दिवर्धन जैसा कि श्री स्मिथ ने जायसवाल आदि विद्वानों ने आधार से मान लिया है।¹ यदि ये सब बातें ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक मानी जाएं तो यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि बौद्धधर्म के कलिंग में पांव जमने के बहुत पहले से ही जैनधर्म वहां जम चुका था और जनता में लोकप्रिय हो गया था।

संक्षेप में नन्द 1म की कलिंगविजय के समय वहां जैनधर्म प्रचलित धर्म था। इसे समर्थन करते हुए जायसवाल कहते हैं कि 'शैशुनागवंश को नन्दिवर्धन अर्थात् राजा नन्द के समय में ही जैनधर्म उड़ीसा में प्रवेश कर चुका था...। खारवेल के समय के पूर्व उदयगिरि पहाड़ी पर अर्हतों के मंदिर थे क्योंकि शिलालेख में उनका अस्तित्व खारवेल के समय से पूर्व संस्थानों के रूप में वर्णन किया गया है। ऐसा लगता है कि कुछ सदियों से जैनधर्म उड़ीसा का राष्ट्रीय धर्म था।'²

इसका समर्थन एक जैनदंतकथा से भी होता है जिसमें सुदू ई. पूर्व छठी सदी में उड़ीसा को क्षत्रियों का केन्द्र माना गया है। उस दंतकथा में कहा है कि उड़ीसा में महावीर के पिता का क्षत्रिय मित्र राज्य करता था और महावीर वहाँ गए थे।³

'उड़ीसा एण्ड हर रिमेन्स' ग्रन्थ को लेखक विद्वान कहता है कि 'जैनधर्म की जड़ें इतनी गहरी थी कि हम उसके चिन्ह 16वीं सदी ईसवी तक भी पाते हैं। उड़ीसा का सूर्यवंशी राजा प्रताप रुद्र देव जैनधर्म की ओर बहुत भुका हुआ था।'⁴

लेख की अगली पंक्ति का विचार करने की ओर भुके इसे पहले यह संकेत भर कर देना चाहते हैं कि शिलालेख से इस निष्कर्ष पर पहुंचने के भी अच्छे आधार हैं कि ई. पूर्व पांचवीं सदी के प्रारम्भ जितने प्राचीन समय में ही जैनों में मूर्ति पूजा का प्रचार था। इस मूर्तिपूजा के प्रश्न का विचार विस्तार से आगे इसी ग्रन्थ में हम करेंगे।⁵

शिलालेख की इस बात को दृष्टि में रखते हुए श्री जायसवाल तीन महत्व के निष्कर्ष निकालते हैं जो कि इस प्रकार हैं:— (1) यह कि नन्द जैन था, और (2) यह कि जैनधर्म का उड़ीसा में प्रवेश बहुत ही पहले, सम्भवतः महावीर के बाद ही या उनके समय में ही हो गया था (जैन दंतकथा उनके उड़ीसा में विहार की बात कहती है

1. निर्दिष्ट नन्द राज [पुराणों का नौवां शैशुनाग राजा नन्दिवर्धन लगता है। उसको एवं उसके उत्तराधिकारी महानंदिन 10 वां का नन्द ही उन नौ नन्दों से पृथक कि जो चन्द्रगुप्त और 10वें नन्द के बीच में होते हैं, मानना आवश्यक है। मेरे ग्रन्थ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया के 1914 के तीसरे संस्करण में मैंने नन्दिवर्धन का राज्यारोहण ई. पूर्व 418 के लगभग रखा था। परन्तु अब इसे ई. पूर्व 470 के या इससे भी कुछ पूर्व में रखना चाहिए। स्मिथ, राएसो पत्रिका, 1918, पृ. 547।

2. बिउप्रा पत्रिका, सं. 3, पृ. 448।

3. ततो भगवं मोसलिंगग्रो, ...तत्थ मुमागहो नाम रडुग्रो पियमित्तो भगवग्रो सो ओएइ, ततो,सामी मोसलिंगग्रो...। आवश्यकसूत्र, पृ. 219-220।

4. प्रताप रुद्र देव, गजपति राजों में से एक कि जिसने ई. सन् 1503 से राज्य किया, ने जैनधर्म परित्याग कर दिया...लोग बंसो पत्रिका, सांग 28, सं. 1 से 4 और 5, 1859. पृ. 189।

5. गंगूली, वही पृ. 19।

और शिलालेख की 14वीं पंक्ति भी सूचित करती है कि कुमारीपर्वत (उदयगिरि) वह स्थान था कि जहां धर्म का प्रवर्तन और उपदेश दिया गया था। लेख यह भी प्रमाणित करता है कि (3) लगभग या ई. पूर्व 450 या उससे भी कुछ पूर्व जैनमूर्तियों को खोने का यह अर्थ है कि महावीर निर्वाण की तिथि वह होना चाहिए जो कि हमें उन अनेक जैन कालनिरूपक सामग्रियों का पुराणिक और पाली सामग्रियों के साथ पढ़ कर कि जो सब उसे ई. पूर्व 545 में स्थिर करने एक्य स्थापन करते हैं, प्राप्त होता है (बिउप्रा, पत्रिका, सं. 1, पृ. 99-105)¹ इन तीनों ही निष्कर्षों की चर्चा हमने पहले ही अच्छी तरह कर दी है।

अब हम अनुगामी पंक्ति का विचार करेंगे। इसमें भी एक राजनैतिक घटना दृष्टव्य है—याने उसकी महान् विजय का वर्ष धुर दक्षिण से अतुल धन वर्षा का भी वर्ष था। आदि में यह पंक्ति हमें बताती है कि खारवेल ने भीतर में उत्कीर्ण काम की भव्य मीनारें या स्तम्भ बनवाए थे और 'उस योग्य पुरुष' ने कलिग में पाण्ड्य देश (सिंहल के सामने को धुर दक्षिणी देश) के राजा से अद्भुत और विस्मयोत्पादक गज-वाहन,² चुनौदा अश्व, माणक, मोती आदि अनेक रत्न प्राप्त किए।³

इसमें कलिगाधिपति को पाण्ड्य देश पर आक्रमण का कोई उल्लेख नहीं है। खारवेल की महत्ता, और उसकी आंध्रों एवम् सुगों पर अधिपत्य को देख कर ही ये सब जयहिन्द पाण्ड्यों ने अपने आप खिराज रूप में भेज दिए हों। जैसा कि हम अभी ही देखेंगे कि खारवेल के सैनिक शौर्य के इस वर्णन के अतिरिक्त इस शिलालेख में उसके धर्मकृत्यों का भी अभिलेख किया गया है। इससे यह विश्वास करने का पर्याप्त कारण मिल जाता है कि राजा और उसके परिवार का जैनधर्म की ओर झुकाव था और उसके वंशज उत्तराधिकारी भी प्रत्यक्षतः उसी धर्म के मानने वाले थे।⁴

चौदहवीं से लेकर लेख की अन्तिम पंक्ति तक के अभिलेख से हमें मालूम होता है कि राजा खारवेल निरा नाम का ही जैनी नहीं था अपितु उसने इस धर्म को अपने नित्य नैमित्तिक जीवन में भी उचित स्थान दिया था। वहाँ जो कुछ भी कहा गया है उससे स्पष्ट है कि उसके राज्यकाल के तेरहवें वर्ष में, राज्य विस्तार से सन्तुष्ट हो कर, उसने धार्मिक कार्यों में अपनी शक्ति मोड़ दी थी। वह कुमारी पर्वत⁵ के पवित्र स्थानों पर खूब धन खर्च करता है और गौरव से परिपूर्ण शिलालेख खुदवाता है। व्रतों की समाप्ति पर दिए जाने वाले राजकीय भत्ते उन याप आचार्यों को कि जिनने उस पवित्र कुमारी पर्वत की शरीरावशेषों के भण्डार पर तप करके अपने जन्मान्तरों के क्रम⁶ को समाप्त कर दिया हो देने का आदेश निकाला कि जहाँ 'विजेता का चक्र'⁷ खूब अच्छी

1. बिउप्रा पत्रिका, सं. 13, पृ. 245, 246। 2. सिंहली अपने गजों के निर्यात के लिए विशेष प्रकार नौकाएं बनाते थे। ऐसा लगता है कि शिलालेख निर्दिष्ट 'गजवाहन' इसी जाति के थे।
3. तु जठर-लिखित-वरानिसिंहिरानि नीबेसयति...पंडराजा चक्षनि अनेकानि मुतमणिरतनानि—बिउप्रा पत्रिका सं. 4, पृ. 401 और सं. 13, पृ. 233।
4. बंगाल जिला विवरणिका, पुरी, पृ. 24।
5. वह पवित्र स्थान था क्योंकि वहाँ जैनधर्म की देशना दी गई थी (पंक्ति 14)।
6. परम आदर्श जैन मुनि जिनने तपों द्वारा अपने को (आत्मा को) विमुक्त कर लिया है। जैन दर्शन में यह बहुत ही आदर्श धारणा है। 7. यह सूचित करता है कि जैनों में बद्ध⁸ धर्म विस्तार का भी बिन्दु था। मथुरा के जैन स्तूपों में पाए जाने वाले बद्ध⁹ के प्रतीक से भी यही समर्थित होता है।

रीति से स्थापित हो चुका था। यह भी आगे कहा गया है कि खारवेल ने श्रावक के ब्रतों की पालना कर जीव और देह का सद्विवेक अनुभव कर लिया था।¹

खारवेल की जैनधर्म के प्रति दृढ़ता और पूर्ण श्रद्धा का इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है ? याप आचार्यों और अन्यो को कि जो कुछ ब्रतों का पालन करते दिया जाने वाला दान या भेट, और जैन दर्शनानुसार जीव और पुद्गल (देह) के पारिभाषिक महत्व का अध्ययन करने के प्रति प्रेम स्पष्ट बताता है कि यह अंश जैन नहीं था। उसने अपने धर्म के प्रमुख लक्षणों को पहले जानने समझने का प्रयत्न किया और इस प्रकार अपने धर्म की महत्ता का अनुभव कर वह उन लोगों की सहायता और प्रोत्साहन को सदा ही तैयार रहता था जो कि साधू हो गये या जो भगवान् महावीर के दिव्य संदेश के लिए जीने और मरने के लिए सन्नद्ध थे।

इस पंक्ति में कुछ ऐसे भी उल्लेख हैं जो कि भूतपूर्व दिनों के जैनाचार पर भी महत्व का प्रकाश डालते हैं और एक ऐसे वर्ग का परिचय भी देते हैं जो आज अस्तित्व में नहीं है' याप आचार्यों के वर्ग का उल्लेख बताता है कि उस समय जैनों में ऐसा एक सम्प्रदाय था। इन्द्रभूति के नीतिसार के अनुसार वह एक ऐसा मिथ्यादृष्टि संघ था जिनमें कि दक्षिण का दिगम्बर सम्प्रदाय तब विभक्त था:—

गोपुच्छक ? श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः ।

निःपिच्छकश्चेति पंचेते जैनामासाः प्रकीर्तिताः ॥²

उपरोक्त सूची में यापनीय का नाम सम्मिलित किया जाना एक आश्चर्यकारक बात है क्योंकि चालुक्य राजा, अम्मराज 2य के शिलालेख में उन्हें पवित्र और पूज्य नदी—गच्छ का एक विभाग बताया है और उनके संघ को 'पवित्र यापनीय—संघ'³ कहा गया है। फिर श्रवण बेल्गोल के शिलालेखों में से एक में इस नन्दी-संघ को अर्हदबलि ने रुद्धिचुस्त माना है। उसकी राय में यह संघ 'संसार का नेत्र' था।⁴ नियमों से विपरीत सिताम्बर और अन्य संघों में उसने विभेद करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया है। और यदि कोई सेन, नन्दी देव और सिंह संघों के विषय में ऐसा विभेद करता है, उसको उसने 'मिथ्यात्वी या पाखण्डी' तक कह दिया है।⁵

इस विषय में जायसवाल कहते हैं कि भद्रबाहुचरित में चन्द्रगुप्त के समकालिक भद्रबाहु श्रुतकेवली के तुरन्त बाद के जैनधर्म का इतिहास देते हुए कहा गया है कि भद्रबाहु के शिष्यों में जो कि गुरु की अस्थियों की पूजा करते थे, ही एक सम्प्रदाय यापनीसंघ नाम से उद्भव हुआ और इस संघ ने अन्त में ही दिगम्बर ढरहने का निश्चय कर लिया। यह यापनसंघ दक्षिण में फलाफूला क्योंकि इसका कर्णाटकीय शिलालेखों में प्रमुखतया उल्लेख आता है। अब यह लुप्त है। मुनि जिनविजय का यह मत है कि इस संघ के कितने ही सिद्धांत तो दिगम्बर सम्प्रदाय से मिलते थे और कितने ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय से। इस मत की दृष्टि से यापनसम्प्रदाय जैनसंघ के इन दो स्पष्ट सम्प्रदायों में विभक्त होने से पूर्व का ही कदम होना चाहिए। इस शिलालेख से पता चलता है कि याप जिससे कि इस सम्प्रदाय का नाम पड़ा था, कुछ पवित्र आचारों को कहा जाता था। यदि हम इसका विचार उस अर्थ में करें कि जिसमें बरक—पीड़ा उपशामक या महाभारत 'प्राण-पोषक' में यह प्रयुक्त हुआ है तो याप उपदेष्टा प्राणियों के शारीरिक दुःखों के उपशाम के धर्म पर ही बल देते थे।⁶

1. तेरसमें च बसे सुपवत-विजय-चक्र कुमारीपवते अरहिते यप-रवीण-संसितेहि काय...जीव-देहमिरिका परिखिता ।

बिउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 401, 402, और सं. 13, पृ. 233 ।

2. प्रेमी, विद्वरत्नमाला, भाग 1, पृ. 132 3. हुल्दज, एपी. इण्डि., पुस्त. 9, पृ. 55, श्लो. 18, पृ. 50

4. एपी. कर्णा., पुस्त. 2, एस. बी., 254 । 5. वही ।

6. बिउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 389 ।

फिर. शिलालेख हमें कहता है कि ये याप आचार्य कुमारीपर्वत याने कायानिषीधि पर रहते थे। लेख की पंक्ति से ही प्रमाणित होता है कि यह निषीधि अर्हंतों की ही निषीधि थी। निषीधि या निषीधि जैन साहित्य तीर्थं करो और गुरुओं आदि की पवित्र शोभा समाधियों के लिए जैन साहित्य में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु इसे विश्राम-स्थान ही समझना चाहिए।¹

इस पर ही डॉ. प्लीट कहता है कि “निषीधि शब्द के लिए कि जो निषीधि, निषिधि और निषिदिगे रूप में भी मिलता है—डॉ. के. बी. पाठक मुझे सूचित करते हैं कि यह शब्द आज भी जैनसंघ के प्राचीन का वयोवृद्ध सदस्यों द्वारा प्रयोग किया जाता है, और इसका अर्थ है ‘जैन साधु के अवशेषों पर खड़ी की गई समाधि’ और उसने मुझे ‘उपसर्गकेवलीगलकथे’ से निम्न अंश उद्धृत किया है कि जिसमें यह शब्द प्रयुक्त है—

“ऋषि-समुदायं = गुल्लं दक्षिणापथदि बंदु मट्टारर निषिदियन = एयदिद-आगल, आदि:

“साधुओं का सारा समुदाय दक्षिण के प्रदेश में आकर और परम पूज्य की निषिधि पर पहुंच कर, आदि।”² कुमारीपर्वत पर की निषिधि जहां कि यह शिलालेख खुदा है, कोई शोभा समाधि सी नहीं दीखती अपितु एक यथार्थ स्तूप है, क्योंकि उस शब्द के पहले कायम विशेषण लगा हुआ है कि जिसका अर्थ होता है, ‘शरीरावशेषों का’। शिलालेख पर विचार करते हुए जायसवाल कहते हैं कि “इससे यह मालूम होता है कि जैन अपने स्तूपों और चैत्यों को निषिधि कहते थे। मथुरा में पाया गया जैन स्तूप और भद्रबाहुचरित का यह कथन कि भद्रबाहु के शिष्यों ने अपने गुरु की अस्थियों की पूजा की, इस तथ्य की स्थापना कर देता है कि जैन (कम से कम दिगम्बर जैन तो) अपने गुरुओं के अवशेषों पर स्मारक बनाया ही करते थे।”³ प्रसंगतः यह भी कह दें कि यह प्रथा जैनों और बौद्धों में परिसीमित नहीं थी, अपितु गुरुओं की स्मृति में स्मारक-चैत्य बनाने या खड़े करने की एक राष्ट्रीय प्रथा ही थी।

जैसा कि पहले कह दिया गया है। पन्द्रहवीं पंक्ति हमारे सामने खारवेल का एक श्रद्धालु जैन का रूप प्रस्तुत करती है। साधुओं और एकांतप्रिय तत्वज्ञों के लिए खारवेल ने जो कुछ किया था उसका इसमें वर्णन है। परन्तु इस पंक्ति के कुछ शब्द लुप्त हो गए हैं इसलिए हमारे लिए यह जानना सम्भव नहीं है कि वस्तुतः वे कार्य क्या क्या थे। फिर भी यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि वह कार्य था संघ के नेता और प्रत्येक रीति से दक्ष पुरुष, पवित्र कार्य करने वाले और सिद्ध श्रमणों का।”⁴

इसके सिवा वह यह भी कहती है कि अर्हंत के अवशेषों के संग्रहस्थान के पाम, पर्वत की ढलाई में, राजा खारवेल ने ‘सिंहपुर (= प्रस्थ)’⁵ महल अपनी रानी सिधुदा के लिए बड़ी दूर से अच्छी खानों के लिए हुए पत्थरों से, घंटा लगे स्तम्भों का कि जो नेपाल में खड़े इसी वर्णन के सुन्दर मध्यकालीन स्तम्भों जैसे हैं, और उसमें फिरोजा जड़ा 75 लाख पणों की लागत से जो कि उस समय का प्रचलित पिकका था, बनवाया था।⁶

जायसवाल जी ने इस महल की पहचान उस महान् शिलोत्कीर्णित भवन से जो कि ‘रानी या ‘रानी का महल’ कहलाता है, की है।⁷ यह हाथीगुंफा के पास ही, पर्वत की ढाल में है और यह भी द्रष्टव्य है कि इसकी ममती

1. एपी., इण्डि., पुस्त. 2, पृ. 274।

2. इण्डि. एण्टी., पुस्त. 12, पृ. 99। 3. बिउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 389।

4. सकति समरा-मुविहितानं च सत-दिसानं...तपसि।—वही, सं. 4, पृ. 402 और सं. 13, पृ. 234।

5. देखो ग्रायंगर (के), वही पृ. 75, 76।

6. देखो बिउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 402, और सं. 13, पृ. 234, 235। 7. वही, सं. 13, पृ. 235।

में सिंह भी प्रमुख स्थानों पर रखे हैं। इस प्रकार अवशेष संग्रहक स्मारक-ग्रहत् निषीधि इसी रानी महल के पास कहीं होना चाहिए। जैसा कि शिलालेख में कहा गया है।

अन्तिम कितने ही दशकों से जिसकी विवादास्पद चर्चा चल रही है सोलहवीं पंक्ति का वह अंश अति महत्व का है इसमें खारवेल और उसके जैन इतिहास के संबंध में कुछ भी नहीं है। पूर्व पंक्ति कौं तरह यह भी इसी बात को समर्थन करती है कि खारवेल महान् जैन था। जैन शास्त्र और उनकी सुरक्षितता में उसे कितनी अधिक दिल-चस्पी थी इसी का इसमें स्पष्ट उल्लेख है, क्योंकि इस पंक्ति में कहा गया है कि:—

‘मौर्य राजा के काल में खोए 64 प्रकरण वाले चार खण्ड के अंग-सप्तिका ग्रन्थ का उसने उद्धार किया।’¹

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, डा. फ्लीट का इस पंक्ति की व्याख्या भी बहुत कुछ ऐसी ही है। हम उसे यहां उद्धृत करना उचित समझते हैं ‘सारे वर्गान में कोई भी तिथि नहीं दी गई है, केवल यही कहा गया है कि खारवेल ने मौर्य राजा या राजों के समय में उपेक्षित सात अंगों के संग्रह के 64 प्रकरणों अथवा अन्य विभागों का और कुछ मूल पाठों का उद्धार किया।’²

यहां हमें मगध के महान् दुष्काल का स्मरण हो आता है कि जो बारह वर्ष का था और जिसकी चर्चा पूर्व अध्याय में की जा चुकी है। जैसा कि हम देख चुके हैं इसके परिणाम स्वरूप चन्द्रगुप्त राज्य छोड़कर अपने गुरु भद्रबाहु एवम् अन्य प्रवासियों के साथ दक्षिण में चला गया था। इस दुष्काल की समाप्ति पर पाटलीपुत्र³ में स्थूलभद्र युगप्रधान की प्रमुखता में साधुसंघ एकत्रित हुआ था। ये स्थूलभद्र सब कुछ जोखम उठाकर भी देश के दुष्काल का भीषण दृश्यों को देखने के लिए वहीं रहे थे। इस प्रकार शिलालेख की यह पंक्ति चन्द्रगुप्त काल में कुछ जैन शास्त्रों के नष्ट या लुप्त हो जाने के विवाद की दन्तकथा का समर्थन करती है। कलिग ने बहुत कुछ भद्रबाहु और उनके साथ दक्षिण में गए अनुयायियों का अनुगामी होने से, मगध में एकत्र हुई साधुसंघ की शास्त्र-वाचना या पाठ को स्वीकार नहीं किया यह स्पष्ट है।⁴

शिलालेख की अन्तिम याने सत्रहवीं पंक्ति भी इसके पूर्व की सोलहवीं पंक्ति के साथ ही पढ़ी जानी चाहिए। इस प्रकार पढ़ने पर हम देखते हैं कि उसमें संक्षेप से खारवेल के प्रमुख गुणों का वर्णन होने के साथ साथ, उसकी सत्ता की व्यापकता भी बताई गई है। शिलालेख के इस अंश में विशेष रूप से ही कुछ अतिशयोक्तिकता हो सकती है और ऐसा होना स्वाभाविक है। परन्तु जब हमारे सामने खारवेल का तुलनात्मक अध्ययन करने को और कोई भी साधन नहीं है तो हमें इस पंक्ति को शब्दार्थ से ही सन्तोष करना होगा। जो कि इस प्रकार है—

‘वह वैभव (क्षेम) का राजा, विस्तार (साम्राज्य के) का राजा (या प्राचीन लोगों का राजा) भिक्षुओं को दानी (या राजा होते हुए भी भिक्षु), धर्म का राजा जो हित (कल्याणों को) देखता, सुनता और अनुभव करता है...’

‘राजा खारवेल-श्री, महान् विजेता, राजर्षियों के वंश में अवतरित हुआ हो, उसने वह जिसका साम्राज्य विस्तार पाया है, जिसके साम्राज्य को रक्षा साम्राज्य (या सेना) नायकों द्वारा सुरक्षा की जाती है, वह जिसके रथ

1. वही, पृ. 236 । 2. राएसो पत्रिका, 1910, पृ. 826-827 ।

3. आधुनिक पटना। इनके संघ के वृत्तों में ऐतिहासिक महत्व का स्थान और उस समय मौर्य साम्राज्य की राजधानी।

4. इस परिषद ने जैनों के पवित्र ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के आगम साहित्य को निश्चित किया था ।

और सेना का अवरोध नहीं किया गया है, वह जिसने प्रत्येक मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया है, वह जो प्रत्येक धर्म का सम्मान करता है, वह जो विशिष्ट गुराणों के कारण कुशल है... ।¹

यहां कलिंग का महान् सम्राट, भिक्षुराज खारवेल और जैनधर्म के महान् समर्थक राजों में से एक की आत्मकथा समाप्त हो जाती है। प्रथम पंक्ति में ही किया अर्हंतों और सिद्धों का मंगलाचरण, जैन श्रमणों के लिए निर्मित मन्दिर और गुफाएं, याप आचार्यों को भूमि एवम् अन्य आवश्यक पदार्थों का दान, राजा नंद द्वारा अपहृत कलिंगजिन प्रतिमा की पुनः प्राप्ति आदि सब बातें प्रतीत कराती हैं कि खारवेल जैन था, ई. पूर्व 183 में चौबीस वर्ष की अवस्था में वह राज्यगद्दी पर आया था। बत्तीस वर्ष की अवस्था में उसने मगध पर पहली और 36 वर्ष की अवस्था में दूसरी चढ़ाई की थी। श्री जायसवाल के अनुसार उसकी मृत्यु संभवतः ई. पूर्व 152 में हुई थी।²

वह एक ऐसा सम्राट था कि जिसके वंश के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते हैं और जिसकी जीवनलीला के विषय में इस शिलालेख के कि जिसके ऊपर काल का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका है, सिवा अन्य कोई भी साधन हमें प्राप्त नहीं है। फिर भी हम इतना तो यहां अवश्य ही कहेंगे कि वह कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी कि किसी सुदिन कोई पुरातत्त्वज्ञ विद्वान को 'राजर्षियों की परम्परा के इस प्रख्यात वंशज या उत्तराधिकारी' धर्मराज के विषय में इससे अच्छा और अधिक विवरण वाला अभिलेख प्राप्त ही हो जाए। यह निःसंदेह ही आश्चर्य है, ही नहीं अविश्वासनीय है कि जैनों के पास ऐसे व्यक्ति के विषय में कहने का कुछ भी नहीं है कि जिसका जैन इतिहास में योगदान किसी से भी कम नहीं था।

खारवेल के राज्य का परिणाम और उसके सिंहासनासीन होने के पश्चात् उसकी की हुई नई विजयों का परिचय देनेवाला ऐतिहासिक अथवा अन्य कोई भी समकालिक अभिलेख हमें उपलब्ध नहीं है। यह तो हमसे दूसरी ही दुनियां की उस ध्वनि जैसा ही है कि जो हमें कहती है कि अत प्राचीन काल में कलिंग का खारवेल नाम का एक महान् सम्राट था और उसको तुम्हें मान लेना चाहिए और उसके स्मृति चिन्ह रूप में हाथीगुफा के शिलालेख से मिलने वाली सूचनाओं के आधार पर ही समसामयिक ऐतिहासिक व्यक्तियों में से एक उसे भी मान लेना चाहिए।

शिलालेख कहता है कि उसने उत्तर में महान् सुंग राजा पुष्यमित्र को हराया था। यह समाचार सुन कर इण्डो-ग्रीक राजा डिमेट्रियस मथुरा का धेरा उठा कर अपने देश को लौट गया था। उसने दक्षिण में सातकर्णों और उसके करद राज्यों को आधीन किया और उसकी इन विजयों की कथा सुन कर धुर दक्षिणांत के पाण्ड्य राजा ने उसे बहुत और अमूल्य भेटें भेजी थीं।

तुलना के साधनों के अभाव में इस शिलालेख की कौनसी बात स्वीकार की जाए और कौन नहीं, अथवा उसे किस रूप में समझी जाए, यह एक बड़ी कठिनाई है। यह कठिनाई उस समय और भी जटिल हो जाती है जब कि ऐसे सैनिक अभियान जिनका इस शिलालेख में प्रचुर प्रमाण मिलता है, ऐसे समाज में कि जिसमें युद्ध एक व्यवसाय है और उस व्यवसायी जाति का परम्परागत सदस्य सैनिक है, एक सामान्य नियम हो जाता है और जहां अपने राज्य की सीमा विस्तार करने की आकांक्षा, जैसा कि हमारी स्मृतियां कहती हैं, ही राजत्व का एक प्रमुख

-
1. खेमराजा स बढराजा...अनुभवंतो...कलारानि सव-पासंड-पूजको...खारवेलसिरि । बिउप्रा पत्रिका, सं. 4, पृ. 403 और सं. 13, पृ. 236 ।
 2. बिउप्रा पत्रिका, सं. 13, पृ. 243 ।

गुण है।² प्राचीन और मध्यकालीन भारत के जीवन का यह प्रमुख लक्षण राजों की विरदावलियों में सुस्पष्ट है और इसी से शिलालेखों के अधिकांश भाग कि जो आधुनिक काल तक प्राप्त हुए हैं, भरे हैं, हम चाहे जितनी भी उदारता उन्हें देखें फिर भी हमें स्वीकार करना ही होता है कि ये सब प्रशस्तियां राज-कवियों या कृतज्ञ उपहार प्रापकों की उपज मात्र है जिनका लक्ष्य अपने आश्रयदाता का गौरवगान ही होता था न कि उसके राज्य का भावी संतति के लिए यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करना। यह स्पष्ट है कि सफलताएं अतिरंजित की जाती थी और असफलताएं चुप्पी साध उपेक्षा कर दी जाती थीं। शिलालेखों और प्रशस्तियों के वक्तव्य बहुतांश में पूर्वग्रहों साक्षियों के ही हैं और उनका हमें मूल्यांकन भी उसी दृष्टि से करना चाहिए यदि हम काल सुरक्षित ऐतिहासिक साक्षियों के इन कतिपय अंशों का सच्चा मूल्यांकन करना चाहते हैं। हाथीगुंफा के शिलालेख में खारवेल की सफलताएं अतिरंजित हैं और सर आसुतोष भुकरजी के शब्दों में कहे तो “उड़ीसा के सम्राट खारवेल का कि जिसका नाम देण के इतिहास में से लुप्त हो कर एक दम विस्मृत ही हो गया था, हालांकि भारतवर्ष में ई. पूर्व की दूसरी सदी में ऐसा महा नगर कदाचित् ही कोई था कि जो उसके नाम ही से नहीं तो, कम से कम उसकी शक्तिशाली सेना के दर्शन मात्र से ही कांपता था, पाषाण ही हमें पूर्ण ब्यौरे वार वृत्तान्त प्रस्तुत करता है।”¹

जो भी हो, फिर भी इसमें संदेह नहीं है कि खारवेल अपने समय का एक प्रमुख व्यक्ति था और नैतिक दृष्टि से वह उतनी ऊंचाई पर पहुंच गया था कि वह सुरक्षित था, और जहां वह खड़ा था वहां से फिसलने का ही नहीं था। संक्षेप में वह अपने समय का महान् व्यक्ति था, जिसने अपनी महानता के अनेक प्रमाण उस समय दिए भी जब कि देव ने उसे भारतीय इतिहास की अव्यवस्थित और परीक्षात्मक घड़ी में इस महान् निर्देशन का अवसर प्रस्तुत किया।

1. अनु अध्याय 9, श्लो. 251; अध्याय 10, श्लो. 119 आदि।

2. बिउप्रा पत्रिका, सं. 10, पृ. 8।

पांचवां अध्याय

मथुरा के शिलालेख

खारखेल का हाथीगुंफा का शिलालेख उत्तर-भारत के जैन इतिहास का जैसे पहला भूमिचिन्ह है, मथुरा के जैन शिलालेखों से वैसे ही उस इतिहास के दूसरे युग के भूमिचिन्ह प्रारम्भ होते हैं। इन दोनों के बीच का अर्थार्थ ई. पूर्व 150 से 16 तक का समय एकदम कोरा है ऐसा मान लेना आवश्यक नहीं है क्योंकि कलिग के जैन राजा के पश्चात् उससे भी अधिक सुप्रसिद्ध उज्जयिनी का विक्रमादित्य हुआ था जिसको जैन अपनी सम्प्रदाय का रक्षक मानते हैं। वहाँ प्राप्त प्राचीन लेखों की साक्षी के संक्षेप में सर्वेक्षण करने के पश्चात् कलिग और मालवा के अतिरिक्त मथुरा के जैनधर्म की एक बड़ी बस्ती हो गई थी इसका विचार करेंगे।

महावीर-निर्वाण समय की चर्चा करते हुए ई. पूर्व 57 या 56 में प्रारम्भ होनेवाले विक्रम संवत् का भी निर्देश किया जा चुका है। 'विक्रमचरित' का जैन प्रतिस्करण कहता है कि जैन मुनि सिद्धसेन दिवाकर का उपदेश सुन कर, विक्रम ने अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के लिए सारी पृथ्वी को ऋणमुक्त किया, और (ऐसा करके) उसने वर्धमान के संवत् में परिवर्तन (जिससे परिवर्तन की सूचना हो) कर दिया।¹ उसी से परवर्ती भारतवर्ष को अपना सर्व प्रथम अविचलित युग याने संवत् प्राप्त हुआ कि जो आज तक भी उत्तर-भारत का सामान्य युग या संवत् है। एडगर्टन के शब्दों में 'मात्र [जैनों का ही नहीं अपितु समस्त हिन्दुओं का अनेक सदियों से ऐसा विश्वास रहा है।'²

यह महान् अवन्तीपति जिसके कि गौरवमय दिनों की और अतिमानवीय गुणों की जैन एवम् ब्राह्मण दोनों ही साहित्यों में विस्तार से कीर्ति गाई गयी है, अपने को विक्रमादित्य जिसका व्युत्पन्न अर्थ 'पराक्रम में सूर्य समान होता है, कहने लगा। उसके परवर्ती अनेक राजाओं को यह विरुद इतना अधिक आकर्षक हुआ कि अनेक ने, उस महान् वंश से कुछ भी सम्बन्ध न रखने पर भी, अपने नाम के साथ यह विरुद लगा लिया। इससे प्रतीत होता है कि प्रथम विक्रमादित्य अवश्य ही एक अति महान् राजा होना चाहिए क्योंकि ऐसा नहीं होता तो इस विरुद का इतना अधिक आकर्षण किसी को हो ही नहीं सकता था।

यह वही विक्रमादित्य है कि जिसे जैनों के कथा-साहित्य में जैन कहा गया है। उसके पूर्वज गर्दामल्ल के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि महान् जैनाचार्य कालकसूरि ने, अपनी भगिनी साध्वी के उसके द्वारा अपहरण किए जाने से अपमानित हो कर, सिथियन राजों में से एक को अपने पक्ष में किया और उसकी सहायता से उनसे

-
1. एडगर्टन, विक्रमाज एडवेंचर्स, भाग 1, प्रस्ता. पृ. 58। देखो प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. 11 आदि; शंतुजय महात्म्य, सर्ग, 14, गाथा 103, पृ. 808।
 2. एडगर्टन, वही, प्रस्ता. पृ. 59।

सफलता पूर्वक इस अपमान का बदला लिया।¹ डा. शार्पेटियर कहता है कि यह दन्तकथा ऐतिहासिक रस की तनिक भी नहीं हो सो बिल्कुल बात नहीं है क्योंकि इसमें यह उल्लेख है कि कैसे जैनाचार्य कालक, उज्जैन के राजा गर्दीमल्ल द्वारा जो कि, अनेक दन्तकथाओं के अनुसार सुप्रख्यात विक्रमादित्य का पिता था, अपमानित किए जाने पर उससे प्रतिशोध लेने की दृष्टि से शकों के देश को जिसका कि राजा साहानसाही² कहलाता था, गए। यह विरुद्ध, ग्रीक और भारतीय रूपों में, निश्चय ही पंजाब के शक राजों मीएस एवम् उसके उत्तराधिकारियों द्वारा जो कि इम युगे के हैं, वहन किया जाता था। उनके उत्तराधिकारी कुषाण राजों के सिक्कों पर शाश्वतानो शाश्वो रूप में यह वस्तुतः पाया जाता है: इसलिए यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा उचित ही है कि दन्तकथा किसी अंश में अवश्य ही ऐतिहासिक है। जो भी हो, कथा आगे चल कर कहती है कि कालक ने कितने ही शक सत्रपों को उज्जैन पर चढ़ाई और गर्दीमल्ल वंश का उच्छेद करने को तैयार कर लिया। परन्तु उसके कुछ वर्ष बाद ही उसके पुत्र विक्रमादित्य ने आक्रामकों को वहां से निकाल भगाया और अपने पूर्वजों की गद्दी फिर से प्राप्त कर ली।³ इस दन्तकथा का ऐतिहासिक आधार क्या है यह सर्वथा अनिश्चित है। सम्भव हो कि इसमें ई. पूर्व पहली सदी में हुए पश्चिमी भारत में सिथियन राज्य की घुंघली स्मृति ही हो। तथ्य जो भी हो, परन्तु यह जैनों का उज्जैन के साथ सम्बन्ध का निःसन्देह एक और प्रमाण प्रस्तुत करता है। यही बात उनके विक्रम संवत् के प्रयोग से भी कि जो मालवा देश में जिसकी कि राजधानी उज्जैन थी, प्रचलित हुआ था, सूचित होती है।⁴

जैनाचार्य कालक के सम्बन्ध में दूसरी बात यह कहने की है कि वे दक्खन के प्रतिष्ठानपुर के राजा सातयान के पास भी गए थे। राजा इन्द्रमहोत्सव के कारण भाद्र शुक्ला पंचमी को पशुपरा जैन वर्ष की समाप्ति का धार्मिक पर्व में भाग लेने में अग्रगण्य था। अतः गुरु ने एक दिन पूर्व याने भाद्र शुक्ला चतुर्थी को वह पर्व उसके लिए मनाया। तभी में समस्त जैन समाज चौथ का सम्बत्सरी व्रत करने लगा हालांकि परवर्ती काल में बहुत वर्षों के बाद अनेक गच्छों के उद्भव होने के कारण यह चौथ उसी माह की पंचमी में फिर से बदला गई है।⁵ यह घटना यदि सत्य

1. कालिकाचार्य-कथा, गाथा 9-40, पृ. 1-4। देखो कोनोव, एपी. इण्डि., पुस्त. 14, पृ. 293। 'गर्दीमल्लो-च्छेदक कालकसूरि वीरात् 453 में हुए थे।'—क्लाट, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 11, पृ. 251। देखो वही, पृ. 247; शार्पेटियर, कैहिंद, भाग 1, पृ. 168; श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 75, मसूर आकियालोजिकल रिपोर्ट, 1923, पृ. 11।
2. वशीकृत: सरिवरै: स साहि।—कालिकाचार्य-कथा, गाथा 26, पृ. 2; साहानसाहि: स च मण्यतेडंत्र। --वही, गाथा 27, पृ. 3। देखो...। जैन ग्रंथ कालिकाचार्य-कथानक में कहा है कि उनके राजा साही कहे जाते थे।¹ रायचौधरी, वही, पृ. 274; याकोबी, जेडडीएमजी, सं. 34, पृ. 262। देखो कोनोव, वही, पृ. 293।
3. उम (विक्रमादित्य) ने राष्ट्र और हिन्दूधर्म, सिथियनों को पूर्णतया हराकर, की रक्षा की कि जिनका राजनीतिक महत्व और विदेशीय आचार-विचार भारतवासियों को अखर रहा था। मजुमदार, वही, पृ. 63। देखो वही, पृ. 638 भी। 'विक्रमादित्य ने शकों को निकाल भगाया एवं राजा बन गया, जिसके पश्चात् उसने अपना ही युग याने संवत् प्रवर्तन किया।'—कोनोव, वही और वही स्थान।
4. शार्पेटियर, वही और वही स्थान।
5. ततश्चतुथ्यां क्रियतांनृपेण, विज्ञप्तमेयं गुरुणा नुमेने।—कालिकाचार्य-कथानक. गा. 54, पृ. 5। देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 76। जैसा कि क्लोट कहता है इसका समर्थन तपागच्छ पट्टावली से भी होता है (इण्डि. एण्टी., पुस्त. 9, पृ. 251)। पक्षान्तर में खरतरगच्छ पट्टावली में कहा है कि कालक जिनने पशुपरा पर्व तिथि में परिवर्तन किया, वीरात् 993 में हुए और यह कि इनके पूर्व इसी नाम के दो आचार्य और हो चुके थे जिनमें से एक वीरात् 453 में हुए और यही गर्दीमल्ल ने सम्बन्धित थे।—इण्डि. एण्टी., पुस्त. 11, पृ. 247।

हो तो दो दृष्टियों से महत्व की है। एक तो वह दक्षिण में श्वेताम्बरों का सम्बन्ध बताती है और दूसरे दक्षिण के ऐसे जैन राजा का वह उल्लेख करती है कि जिसका कालकाचार्य जैसे महान् गुरु तक इतना मान रखते थे और जिसका पञ्जुषण जैसे महान् जैन धार्मिक पर्व की तिथि परिवर्तन कराने में प्रमुख भाग था।¹

गर्दीमल्ल के उत्तराधिकारी विक्रमादित्य का विचार करते हुए जैनों के उल्लेखों से हमें पता चलता है कि जैन साहित्य के इतिहास में प्रखर ज्योतिर्धर श्री सिद्धसेन दिवाकर उसके दरबार में उस समय रहते थे और उन्हीं ने महान् राजा विक्रम को और श्रीमती स्टीवन्सन के अनुसार 'कुमारपुर के राजा' देवपाल को भी।² जैनधर्मी बनाया था,³ इसी समय के लगभग दो और घटनाएँ भी घटित हुई कही जाती हैं। पहली तो यह कि मरूच में जैन साधू स्नामक वादी आर्य खपुट द्वारा बौद्धों की वाद में हार।⁴ और दूसरी यह कि जैनों के परम पवित्र शत्रुजय तीर्थ के पास पालीताणा नगर की स्थापना यावसाहर।⁵

खरतरगच्छ पट्टावली कहती है कि महावीर के पाट से सोलहवें श्री वज्रस्वामी (वी.सं. 496-584) ने दक्षिण की ओर बौद्धों के प्रदेश में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया था।⁶ पालीताणा स्थापना की दूसरी घटना का सम्बन्ध पादलिप्ताचार्य से है जो कि विक्रम महान् को समकालिक थे।⁷ जैनों के अनुसार पादलिप्ताचार्य को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध थी।⁸ इस पर टिप्पण करते हुए श्रीमती स्टीवन्सन कहती हैं कि "शत्रुजय की स्थापना एक जैनाचार्य ने की थी कि जिनमें आकाशगामिनी विद्या थी और जिनके एक शिष्य को सुवर्णसिद्धि प्राप्त थी। इन दो शक्तियों के प्रभाव से वहाँ संसार का अद्वितीय मन्दिर नगर बस गया।"⁹ इस तीर्थ के सम्बन्ध में खरतरगच्छ पट्टावली में कहा है कि वीरात् 570 में वह जीर्ण हो गया था और विक्रम के समकालिक

1. राजा सातयान पक्का जैन था, यह कालकाचार्य-कथा (गाथा 50-54, पृ. 4-5) से यद्यपि स्पष्ट है परन्तु वह कौन था, इसका कुछ भी पता नहीं है। प्रतिष्ठानपुर सातवाहनों की पश्चिमी राजधानी थी, इससे हम अन्वगत हैं। जैन दन्तकथा इस वंश के राजा हल को भी जैनी ही कहती है। देखो ग्लैसन्यप डेर जैनिस्मस, पृ. 53; भवेरी, निर्वाणकलिका प्रस्तावना पृ. 11। 2. देखो, श्रीमती स्टीवन्सन, वही और वही स्थान।
3. उस (सिद्धसेन दिवाकर) ने विक्रमादित्य को वीरात् 470 में जैनधर्मी बनाया था। —'क्लाट, वही, पृ. 247। देखो वही, पृ. 251; एडगटन, वही, पृ. 251 आदि; श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 77; टानी, वही, पृ. 116 आदि; मंसूर आर्कियालोजिकल सर्वे, 1923, पृ. 10।
4. विद्यासिद्धा आर्यखपुटा आचार्याः...मृगुकच्छे...बुद्धो निर्गतः, पादयोः पतितः। —आवश्यक सूत्र पृ. 411-412। देखो भवेरी, वही और वही स्थान। 5. देखो वही, प्रस्ता. पृ. 19; श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 77-78।
6. देखो क्लाट, वही, पृ. 247; हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 12, श्लोक 311, 388; आवश्यक सूत्र, पृ. 295।
7. क्लाट, वही, पृ. 247, 251। "(पादलिप्त) पालित्तसूरि पालीताणा की नींव से निःसन्देह सम्बन्धित हैं। भवेरी, वही, वही स्थान। 8. पादलिप्त ने पैरों में औषधि लगाकर उड़ने की यह गगनवाहिनी विद्या प्राप्त की थी और वे रोज शत्रुजय, गिरनार या रेवतगिरि सहित पांच तीर्थों की यात्रा किया करते थे। —वही प्रस्ता. पृ. 11। देखो टानी, वही, पृ. 195।
9. श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 78. टिप्पण 1। "नागार्जुन...पादलिप्तसूरि का शिष्य...स्वर्णसिद्धि प्राप्त करने को प्रयत्नशील था।...आदि।" —भवेरी, वही, प्रस्ता. पृ. 12।

मावड़ के पुत्र जावड़ ने उसका उद्धार कराया था ।¹ जैन-दन्तकथानुसार यह राजा और जावड़ दोनों प्राचीनताशा यात्रा के लिए गए और दोनों वहाँ रहे उस भ्रम में उनने तीर्थ की रक्षा के लिए बहुत धन खर्च किया था ।²

दक्षिण के साथ श्वेताम्बरों के सम्बन्ध के विषय में कालक की भांति ही पदालिप्त की भी गणना होना चाहिए । हरिभद्रसूरि की सम्यात्वसप्तति में लिखा है कि ये महान् आचार्य मान्यखेट गए थे ।³ और इन सब स्थानों में 'सद्गुणों सम्पन्न जैनसंघ' थे । इस प्रकार पादलिप्त और कालक की दन्तकथाएं स्पष्टतः सूचित करती हैं कि ई. पूर्व पहली शती में दक्षिण में श्वेताम्बर जैनों की ही प्रमुखता थी ।⁴ सम्यात्वसप्तति के अनुसार प्रतिष्ठानपुर का राजा शालिवाहन पादलिप्त को 'सब बुरी धार्मिक पद्धतियों' का अन्त कर देने वाला कहता है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शालिवाहन भी पादलिप्त के ही सम्प्रदाय का याने श्वेताम्बर जैन होना चाहिए ।⁵

विक्रम समय की इन सब बातों को विचार करते हुए कहा जा सकता है कि ये सब बहुतांश में पट्टावलियों पर ही आधारित है जो कि "बहुत कुछ काल्पनिक और सदिग्ध है और जैनसंघ के आधुनिक गच्छों या उपभेदों द्वारा सुरक्षित रखी गई हैं ।"⁶ इसके सिवा इनका आधार वह साहित्य भी है जो उस काल का रचित है जिसकी हमारी प्रतिपाद्य अवधि से जरा भी मेल नहीं है । देखने की बात यह है कि इन सब संयोगों पर से क्या हम ऐसे निश्चय पर आ सकते हैं कि जैन दन्तकथा एकदम निराधार है और यह कि मध्यकालीन भारत के तथा कथित प्रख्यात वीरों में का यह विक्रमादित्य एकदम दन्तकथाओं का ही राजा है ?

इस सम्बन्ध के भिन्न-भिन्न विद्वानों के मन्तव्यों की यथासम्भव सूक्ष्म परोक्ष एड्गर्टन ने अपने ग्रंथ 'विक्रमस एड्वेंचर्स'⁷ की प्रास्तावना में की है । उन मन्तव्यों के निरसन में प्रस्तुत किए इस विद्वान के तर्कों की पुनरावृत्ति किए बिना ही यह कहना पर्याप्त होगा कि विक्रमादित्य की बात को अलग रख दे तो भी प्राचीन भारत की अनेक व्यक्तियों के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है हालांकि उनकी ऐतिहासिकता अभिलेखों या सिक्कों सेवारा निर्विवाद है । कोई भी कारण नहीं है कि "इस हिन्दू आर्थर राजा"—सच्चे राजा के लिए अनुकरणीय आदर्श, की सत्यता में अविश्वास किया जाए जब कि उसका आधार "जैन और ब्राह्मण दोनों ही ग्रन्थों" में है । एड्गर्टन के शब्दों में कहा जा सकता है कि "ऐसा लगता है कि जैन युगप्रधानाचार्यों की सूचियों

1. जावड़. सौराष्ट्र के एक व्यापारी ने चीन और पूर्वी द्वीप समूहों को एक जहाजी बेड़ा भेजा था जो बारह वर्ष बाद सुवर्ण से लदा हुआ लौटा था । जावड़ का पिता विक्रम का समकालीन था...।" —मजुमदार, वही, पृ. 65 । देखो शत्रुंजय माहात्म्य, सर्ग 14, गा. 104, 192 आदि, पृ. 808, 816 आदि; ऋवेरी, वही प्रस्तावना पृ. 19 । 2. देखो शत्रुंजय माहात्म्य सर्ग 14, गाथा 280 पृ. 824 ।
3. मान्यखेट या मान्यक्षेत्र आज का मालाखेड़ा ही कहा जाता है जो कि निजाम राज्य में है । —देखो ज्योग्राफिकल डिक्शनेरी, पृ. 126 । यह मालाखेड़ा या मान्यखेट जहां पादलिप्तसूरि गए थे, परवर्ती सदियों में राष्ट्रकटों की राजधानी रूप से प्रख्यात हो गया था कि जिनमें जैनधर्म के संरक्षक और मानने वाले राजा कुछ ही नहीं थे ।
4. सम्यक्त्वसप्तति, श्लोक 96, 97 । देखो मैसूर आर्कियालोजिकल रिपोर्ट. 1923, पृ. 10-11 । "जीवन का अधिकांश समय पादलिप्तसूरि मानखेटपुर में ही रहे थे ।" —ऋवेरी, वही, प्रस्ता. पृ. 10 ।
5. सम्यक्त्वसप्तति, गाथा 158 । देखो मैआरि, 1923, पृ. 11; ऋवेरी, वही, प्रस्ता. पृ. 11 ।
6. शार्पेटियर, वही, पृ. 167 ।
7. एड्गर्टन, वही, प्रस्ता. पृ. 58 आदि ।

याने पट्टावलियों भारतीय इतिहास के अन्य साधनों जितनी ही सत्य और विश्वस्त हैं ऐसा कहना निःसन्देह अतिशयोक्तिक नहीं माना जाना चाहिए)...मुझे यह ज्ञात नहीं है कि जैनों के इतिवृत्तों को बिलकुल ही अमान्य कर देने का कोई भी निश्चित और सुस्पष्ट कारण है और यह सुस्पष्ट कह देने का कि विक्रम नाम का कोई राजा ई. पूर्व 57 वर्ष में हुआ ही नहीं था। क्या हम उस सदी का इतिहास पर्याप्त जानते हैं कि जिससे हम यह कह सकें कि मालवा को स्थानीय उन नामों में से किसी भी नाम के राजा ने कि जिनसे विक्रम पहचाना जाता है, मध्यभारत में अपना राज्य इतना व्यापक नहीं कर लिया होगा (हालांकि हिन्दू अतिशयोक्तियां उसे सार्वभौम चक्रवर्ती ही मानती हैं परन्तु वैसा सर्वभौम उसे स्वीकार करने की हमें जरूरत भी आवश्यकता नहीं है ?”¹

एड्गर्टन के सिवा अन्य विद्वान जैसे कि व्हूलर और टानी भी जैन इतिवृत्तों की ऐतिहासिकता की रक्षा करते हैं। डॉ. व्हूलर कहता है कि “विशेषरूप से यह स्वीकार करना ही चाहिए कि प्राचीन और हाल की वर्णनात्मक कथाओं की व्यक्तियां यथार्थ ही ऐतिहासिक हैं। यद्यपि कभी कभी ऐसा भी हुआ है कि कोई व्यक्ति जिस समय वह हुआ उससे पूर्व अथवा परवर्ती काल में रख दी गई हो और उसके विषय में कितनी ही एकदम असंभवसी बातें कह दी गई हैं, फिर भी ऐसी बात कोई नहीं है कि जिससे हम निश्चयता से यह कह सकें कि इन वृत्तों में उल्लिखित व्यक्ति एकदम काल्पनिक ही है। पश्चान्तर में, प्रत्येक प्राप्त होने वाला नया शिलालेख प्रत्येक प्राचीन पुस्तक संग्रह और प्रत्येक यथार्थतः ऐतिहासिक ग्रन्थ जो प्रकाश में आता है, उनमें वर्णित एक या दूसरे व्यक्ति के अस्तित्व का समर्थन ही मिलता है। इसी प्रकार उनकी दी हुई तिथियां भी हमारी विशेष सावधानी की अपेक्षा रखती हैं। इस वर्ग के दो ग्रन्थों से उनका जब समर्थन हो जो कि एक दूसरे से बिलकुल ही स्वतन्त्र हैं तो बिना द्विचकिचाहट के उन्हें ऐतिहासिकरूप से सत्य मान लेना ही उचित है।”²

डॉ. स्टेन कोनेव तो इससे भी बढ़कर कहता है कि “विक्रम की दन्तकथाओं के प्रति अब विद्वान न्यून अपेक्षा रखने वाले होते जा रहे हैं। वह महान् सन्त ‘कालकाचार्य-कथानक’ को और उसके अजमानादि की बातों का उचित ही स्वागत करता है। उसके शब्द ही इस सम्बन्ध में उद्धृत करना ठीक है। वह कहता है कि “मैं जानता हूँ कि अनेक यूरोपीयन विद्वान, यद्यपि उनमें से अधिकांश भारतीय दन्तकथा को ससम्मान वर्णन करते हैं, फिर भी सामान्यतया उनका कोई विचार ही नहीं करते हैं। परन्तु ऐसा उनके करने का कारण मेरी समझ में ही नहीं आता है। कालकाचार्य-कथानक के वृत्तांत को अविश्वास हम करें इसका मुझे कोई भी कारण नहीं मालूम देता है। मैं ने अन्यत्र यह सिद्ध किया है कि प्राचीन काल में मालवा में राजा विक्रमादित्य का होना मानने के हमारे सामने अनेक कारण हैं।” आदि।³

इस प्रकार शार्पेटियर, एड्गर्टन, व्हूलर, टानी और स्टेन कोनेव के प्रमाणानुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैनों का दन्तकथा साहित्य ऐतिहासिक माने जाने का यथार्थतः अधिकारी है, और विक्रम और उसके सम्बन्ध की वास्तविकता अस्वीकृत नहीं की जानी चाहिए। बिसेंट स्मिथ का आधुनिकतम मत भी कुछ ऐसा ही है क्योंकि वह कहता है कि “ऐसा कोई राजा हुआ हो, यह सम्भव है।”⁴ फिर, जैसा कि हम पहले ही देख आए हैं, भवन्ती अथवा मालवा का राज्य महावीर के दिनों में भी जैनधर्म का केन्द्र रहा था। मौर्यों के समय में वह और भी अधिकाधिक आगे आया और अन्त में उनके अन्तिम दिनों के पश्चात् जैन जैसे धीरे-धीरे मगध राज्य

1. वही पृ. 64 ।

2. व्हूलर, उबर डस लेवेन डे सजैन-मूकस हेमचन्द्र पृ. 6 । देखो टानी, वही, प्रस्ता. पृ. 6-7; वही, पृ. 5 आदि ।

3. कोनेव, वही, पृ. 294 । 4. स्मिथ माक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 51 ।

से अपना स्थान खान्ते गए, वैसे ही भारत के पश्चिमी प्रदेशों में प्रवासी होते गए जहाँ वे स्थायी रूप से बस गए और उनकी वह वसाहत वहाँ आज तक कायम है।¹ इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर-भारत के जैनधर्म के उस काल के इतिहास में कलिंग का अपना ही खास योगदान है, परन्तु फिर भी जैनों की तब सामान्य वृत्ति पश्चिम की ओर हो गई थी और ई. पूर्व दूसरी सदी के मध्य से जिस दूसरे स्थान में जैनों की बस्ती सुदृढ़ जम रही थी, वह मथुरा था। चन्द्रगुप्त के दिनों में और उसके पश्चात् सम्प्रति और खारवेल के दिनों में भी जैनों का फैलाव असाधारण रूप से वीर्यवान रहा हो ऐसा लगता है। इन महान् सम्राटों के धार्मिक दृष्टिकोण और भावों की बात जाने भी दें तो भी जैनों के असाधारण वीर्यवान प्रसारण की साक्षी हमें उन अनेक जैन कुलों और शाखाओं में मिलती है कि जिनके जैनसंघ में होने का हम ई. पूर्व लगभग दूसरी सदी से प्रारम्भ होने वाले की तिथियों के मथुरा के शिलालेखों से परिचय मिलता है।

मथुरा के ये शिलालेख हमें उत्तरी-भारत के इण्डोसिथियन राज्य काल तक ले आते हैं। हम यह तो देव ही आए हैं कि चन्द्रगुप्त ने अपने को मेसीडोनी जुड़े के नीचे कराह रहे, उन भारतीयों का नेता बना लिया था और अत्येकजण्डर के प्रत्यागमन पश्चात् उसकी सेना को दूरा कर भारत के गले पर से "दासता का वह जूड़ा" दूर फेंक दिया था। अत्येकजण्डर के प्रत्यागमन पश्चात् ही देश में कौसी घटनाएं घटी इसका स्पष्ट परिचय हमें नहीं है। "महान् अत्येकजण्डर की मृत्यु के पश्चात् तुरन्त ही भारत की घटनाओं ने क्या मार्ग लिया था उस पर अंधकार का घनाकोहरा छाया हुआ है।"² फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि उसकी मृत्यु के लगभग एक सदी पश्चात् तक मौर्य सम्राटों की सुदृढ़ बाहुओं ने भारत को भारतियों के लिए सभी आक्रान्तों से बचाए रखा था और उनके यवन पड़ोसियों के साथ भी समान वर्ताव ही किया गया था।³

मौर्यों के पश्चात् मगध का ब्राह्मण सुगों का राजतन्त्र और उत्तर-पश्चिम का ग्रीक तंत्र खारवेल के नेतृत्व में हुए चेदियों के प्रचण्ड आक्रमणों के सामने झुकते जा रहे थे, यह हम देख आए हैं। डिमेट्रियस और युक्नेटिडस की आपसी लड़ाइयों में ग्रीक शक्ति को कितनी निर्बल बना दिया था कि यह भी हम उल्लेख कर चुके हैं। बैक्ट्रिया के यवनों के अन्य भारतीय दुश्मनों का और सुगों के विरुद्ध किए सातवाहनों के प्रचण्ड आक्रमणों का विचार करने का हमारा कोई इरादा नहीं है। परन्तु इतिहास की सलगता की दृष्टि से इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि 'ई. पूर्व दूसरी और पहली सदी में काफिरस्तान और गंधार के भागों में यवनों का राज्य उत्थापित होकर उनके स्थान में शकों का राज्य स्थापित हो गया था।'⁴ रेक्सन के शब्दों में 'भारत की राजनैतिक विच्छिन्नता, सिथियनों द्वारा ई. पूर्व लगभग 135 में बैक्ट्रिया की विजय से और रोम एवम् पार्थिया के लम्बे संघर्ष से जिसका कि प्रारम्भ ई. पूर्व 53 में हुआ था समाप्त हो चुकी थी।'⁵ इन शक राजों में के एक मुरण्ड नाम के राजा के साथ पादलिप्ताचार्य का प्रगाढ़ परिचय था। जैनों के दन्तकथा साहित्य के अनुसार यह मुरण्ड पाटलीपुत्र का राजा हो ऐसा लगता है। उसके दरबार में पादलिप्त का प्रभाव पूरा-पूरा जमा हुआ था।⁶ इस महान् आचार्य ने इस

1. देखो शार्पेटियर, वही और वही स्थान। 2. मैकडोन्येल्ड, केहिंद, भाग 1, पृ. 427

3. देखो स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 253।

4. रायचोषरी, वही, पृ. 273। 5. रेम्सन, केहिंद, भाग 1, पृ. 60।

6. पाटलीपुरे...राजास्ति मुरण्डो नाम...स...हुतान्तः करणां नृपः सुरेबलस्य प्रादानां प्रणामेच्छु रवेरिव।—
प्रभावकचरित, पादलिप्तप्रबंध, श्लोक 44, 61। देखो सम्यक्त्व सप्तति, गाथा 48; मैग्यारि, 1923, पृ. 11;
ऋषेरी, वही, प्रस्ता. पृ. 80।

राजा की भयंकर शिरपीड़ा को शांत किया था प्रभावकचरित नामक ग्रन्थ में इस घटना का इन शब्दों में वर्णन किया गया है:—

‘पादलिप्त ज्यों ही अपनी अंगुली उसके घुटने पर लगाते हैं कि तुरन्त ही राजा मुरण्ड की शिरोवेदना दूर हो जाती है ।’¹

बैक्ट्रिया के सिथियन (शक) आक्रामकों के बाद यूची आए। जब ई. पहली सदी में इन यूचीयों के प्रमुख कबीलों, कुषाण, ने तुर्किस्तान और बैक्ट्रिया सहित उत्तर-पश्चिम भारत तक अपना साम्राज्य विस्तार कर लिया तो यह कुषाण साम्राज्य भारत और चीन के बीच में शृंखला रूप हो गया और आपसी व्यवहार का एक सफल साधन भी वह बना जिसका परिणाम लाभप्रद ही हुआ। पिछले कुछ वर्षों की खोजों ने प्रमाणित कर दिया है कि भारतीय संस्कृति, भारतीय भाषा और भारतीय अक्षर चीनी तुर्किस्तान में स्थापित हो गए थे। और ना. चि. महत्ता के शब्दों में फिर कहें तो चीनी तुर्किस्तान के गुहा-मन्दिरों के चित्र-कार्य में जैन विषयों का उपयोग किया गया है। भारतीय सामान्य इतिहास की इस रूपरेखा के बाद मथुरा के शिलालेखों की ओर हम आएँ और जैनधर्म के साथ उनके सम्बन्ध के महत्व की परीक्षा करें। कनिष्क के निम्न शब्दों की अपेक्षा उनका ऐतिहासिक महत्व दूसरा कोई भी अच्छी तरह से नहीं बता सकता है:—इन शिलालेखों से मिलने वाले तथ्य भारतीय प्राचीन इतिहास के लिए विशेष महत्व के हैं। इन सह लेखों का सामान्य अभिप्राय एक ही है याने अमुक व्यक्तियों द्वारा अपने धर्म की प्रतिष्ठार्थक लिए, और अपने एवम् अपने माता-पिताओं के लाभार्थ दिए दानों-भेटों का अभिलेख करना। जहाँ शिलालेख केवल इस साधारण बात का ही विज्ञापन करता हो तो उसका कुछ महत्व नहीं होता, परन्तु जब इन मथुरा के अभिलेखों में, जैसा कि अधिकांश में देखा जाता है, दाताओं ने उस काल में राज्य करते राजा का नाम, दान देने की तिथि और सम्बन्ध दे दिए हैं, वहाँ ये नष्ट इतिहास के रूपरेखा पृष्ठों की वस्तुतः उतनी ही पूर्ति कर देते हैं।² जो सीधी सूचना इनसे प्राप्त होती है, वह एक प्राचीन एवम् अति महत्व के युग की-याने ईसवी सन् के प्रारम्भ के कुछ ही पूर्व और परवर्ती काल की है जब कि, जैसा कि हम चीनी साधारणों से जानते हैं, भण्डो-सिथियनों ने समस्त उत्तर-भारत को जीत लिया था हालांकि उनके विजित क्षेत्र का विस्तार बिल्कुल ही अज्ञात है। इसलिए इन उपलब्ध शिलालेखों का महत्व यह है कि हमें इनसे पता लगता है कि मथुरा पर स्थाई अधिकार सम्बन्ध 9 के कुछ ही पूर्व हो गया था जबकि भण्डो-सिथियन राजा कनिष्क उत्तर-पश्चिमी भारत वर्ष और पंजाब पर राज्य करता था।³

मथुरा के अनेक जैन शिलालेख कंकाली टीले से ही प्राप्त हुए हैं जो कि कटरा से आधी मील दूर दक्षिण में है। कटरा मथुरा के पुराने किले से पश्चिम की ओर एक मील पर है। यह कंकाली टीला बहुत फैला हुआ रहा हो ऐसा लगता है। इससे प्राप्त हुई सभी आकार बड़ी से बड़ी और उससे छोटी, की मूर्तियों की संख्या को जेल टेकरी से प्राप्त बौद्ध मूर्तियों की संख्या हालांकि वे भी बहुत है फिर भी, नहीं पहुंची है।⁴ आज जहाँ वह टीला है,

1. प्रभावक चरित, श्लोक 59। देखो सम्यक्त्व-सप्तति, गाथा 62; मैग्रार, 1923, वही ओर वही स्थान।
2. मथुरा के बौद्धधर्म के शिलालेख भी गौली और विषय में जैनों के शिलालेखों जैसे ही हैं। देखो डालन, राएसो पत्रिका (नई माला), सं. 5 पृ. 182। 3. कनिष्क, आसई, पुस्त. 3, पृ. 38-39।
4. देखो वही, पृ. 46। “कंकाली टीला क्या तो मूर्तियों में और क्या शिलालेखों में बहुत ही उर्वर रहा है और ये सब...विशुद्ध जैन स्मारक हैं। ऊंचाई की भूमि पर एक बड़ा जम्बू स्वामी का उत्सर्गित जैन मन्दिर है... उस स्थान पर वार्षिक मेला लगा करता है...—वही, पृ. 19। यह मन्दिर चौरासी टीले के निकट है कि जो स्वयम् एक अन्य जैन स्थापत्य का स्थान है।”—देखो वही पुस्त. 17 पृ. 112।

वहाँ किसी समय दो ग्रन्थ मन्दिर रहे होंगे। अनेक लेख तो खड़ी और बैठी नग्न मूर्तियों के पादपीठ पर खुदे हुए हैं, जिनमें से कुछ मूर्तियाँ चौमुखी यानि चतुर्मुख हैं। डॉ. बहलरे के अनुसार नीचे का लेख उनमें प्राचीनतम है।

समन्स माहरखितास आतेवासिस वछीपुत्रस सावकास (सावकास) उत्तरदामक पासादोतोरन ॥
“महारखित (माघरक्षित) मुनि के शिष्य, वछी के पुत्र (वात्सी माता और) श्रावक उत्तरदामक (उत्तरदासक) के मन्दिर के उपयोग के लिए प्रासाद तोरण (भेट)।”¹

एक दम प्राचीन अक्षर और ग्रन्थ भाषायी विशिष्टताओं के कारण वह विद्वान मानता है कि यह लेख इसवीं पूर्व दूसरी शती के मध्य का होना चाहिए।² इसके परवर्ती काल में वे दो शिलालेख आते हैं कि जिनका सम्बन्ध मथुरा के क्षत्रियों से है। इनमें से एक तो पूर्ण है और दूसरा ‘भा’ से प्रारम्भ होने वाले किसी क्षत्रप महाराज का नाम मात्र देता है।³ पहला शिलालेख महाक्षत्रप शोडास के 42वें वर्ष और हेमन्त ऋतु के दूसरे महीने का है। इसमें आमोहिनी नाम की किसी स्त्री के पूजा की गिला उत्सगित कराए जाने का उल्लेख है।⁴ इस लेख में किस संवत् का उपयोग किया गया है, यह स्पष्ट नहीं है।

कंकाली टीले के इसी राजा के नाम वाले दूसरे शिलालेख पर से महाक्षत्रप शोडास का पता सबसे पहले कनिधम ने खोज निकाला था।⁵ आजेज (Azes) के सिक्कों से मिलते जुलते इसके सिक्कों पर से उस विद्वान ने इसका समय लगभग 80-57 ई. पूर्व माना था और यह अनुमान लगाया था कि वह मथुरा के दूसरे क्षत्रप राजुबल अथवा रंजुबल का ही पुत्र हो।⁶ इस अनुमान का समर्थन मथुरा के सिंहध्वज से भी होता है कि शोडाम को छत्रव (क्षत्रप) और महाछत्रव राजूल (रंजुदुल) का पुत्र कहता है।⁷ प्रो. रेप्सन कहता है कि “महा क्षत्रप राजूल, जिसका हमारे लेखों में राजुबल नाम भी मिलता है, निःसंदेह ही वह रंजुबुल है कि जिसने पूर्व पंजाब में राज्य करते हुए यवनराज स्ट्रेटो I म और स्ट्रेटोशय की नकल क्षत्रप और माहक्षत्रप नाम से सिक्के पाड़े थे। वह शोडास का पिता था कि जिसके समय में इस स्मारक का निर्माण हुआ था। इसके बाद मथुरा की आमोहिनीवाली शिला में शोडास स्वयम् महा क्षत्रप रूप से उल्लिखित है और उसका समय 42 वें वर्ष की हेमन्त ऋतु का दूसरा महीना है।”⁸

शिलालेख में किस संवत् का उल्लेख हुआ है इस सम्बन्ध में मत विभिन्नता है;⁹ परन्तु जिस शैली से इसमें तिथि दी गई है उससे यह बहुत ही सम्भव प्रतीत होता है कि उसमें किसी भारतीय संवत् का ही प्रयोग हुआ है।¹⁰ यदि यह मान्य हो, जैसा कि सम्भव लगता है, तो वह विक्रम संवत् ही (ई. पूर्व 57) है, और इसलिए शिलालेख

1. बहलर, एपी. इण्डि., पुस्त. 2, लेख सं. 1, पृ. 198-199। 2. वही, पृ. 195।

3. देखो बहलर, एपी, इण्डि., पुस्त. 2, लेख सं. 3, पृ. 199।

4. देखो वही, लेख 2, पृ. 199। 5. देखो कनिधम, वही, पृ. 30, लेख सं. 1।

6. देखो वही, पृ. 40-41। “रंजुबुल, रजुबुल या राजूला का परिचय शिलालेखों और सिक्कों दोनों से ही मिलता है। मथुरा के निकटस्थ मोरा के ब्रह्मी अक्षरों के एक शिलालेख में उसे महाक्षत्रप कहा गया है। परन्तु ग्रीक दन्तकथा उसके कुछ सिक्कों पर उसे ‘राजों का राजा, रक्षक’ कहती हुई यह बताती है कि सम्भवतः उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी थी।” —रायचौधरी, वही, पृ. 283।

7. वही। 8. रेप्सन, कैहिद्, भाग 1, पृ. 575।

9. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 283 आदि; स्मिथ, वही, पृ. 241, टि. 1।

10. देखो रेप्सन, वही, पृ. 575-576।

की तिथि ई. पूर्व 16-15 होना चाहिए डा. कोनोव ने शोडास के शिलालेख में विक्रम संवत् उल्लिखित किए जाने के वास्तविक कारण दिखाए हैं ।¹ उसका कहना है कि 'मुझे लगता है कि उस समय तक चार महानों की एक ऋतु और तीन ऋतुओं के अनुसार तिथि देने की पद्धति ही बाद में विक्रम संवत् का खास लक्षण माना जाने लगा था । प्राचीनतम शिलालेखों से जिनमें कि इस संवत् का उल्लेख है, सूचित होता है कि वह मालव संवत् कहा गया है । इस संवत् के प्रयोग के दो प्राचीनतम उदाहरण याने-नरवर्मन काल के मन्दसोर के और दूसरे कुमार-गुप्त 1म काल की वही के लेख में ऋतुए स्पष्ट रूप से दी गई हैं । इस प्रकार मैं मानता हूँ कि शोडास ने अपने शिलालेख में विक्रम संवत् का ही व्यवहार किया है और यही संवत् कनिष्क और उसके वंशजों ने समस्त भारत वर्ष की अपनी तिथियों के लिए स्वीकार किया है क्योंकि प्रजाकीय गणना के लिए उत्तर-भारत में वही संवत् व्यवहृत होता था ।'²

इन दो क्षत्रप शिलालेखों के बाद वैसे शिलालेखों का समूह आता है जिन्हें 'आर्ष' (Archaic) शीर्षक के नीचे वर्गित किया गया है और जो बहूलर के अनुसार कनिष्क के पूर्व के युग या काल के हैं ।³ इन में से नीचे का एक उल्लेख योग्य है :—

'अर्हत् वर्धमान को नमस्कारः शकों और पाथेयों को काले नाग के समान गोतिपुत्र (गुप्तिपुत्र) की कौशिक गोत्र की पत्नि शिवमित्रा ने पूजा की एक शिला कराई थी ।'⁴

डा. बहूलर के अनुसार गोतिपुत्र और कौशिक शिवमित्रा दोनों ही राजकुल के थे; और 'गोतिपुत्र, पाथेयों और शकों को एक काले नाग के समान' वाक्य उसके वीर जाति के होने की सूचना देते हैं । वह विद्वान कहता है कि 'इससे जिन युद्धों का निर्देश होता है वे या तो कनिष्क के पूर्व सिथियनों ने मथुरा जीता उसके पूर्व के हों अथवा उनकी सत्ता हट जाने के बाद के भी हो सकते हैं । लेख के अक्षर जो कि विशेष रूप से पुरानी परिपाटी के हैं और सम्भवतया ई. पूर्व 1वीं सदी के हो सकते हैं, पहले विकल्प का पक्ष ही समर्थन करते हैं । यदि शिलालेख सिथियन विजय से पहले का लिखा हुआ हो तो वह जैन मन्दिर की प्राचीनता का मूल्यवान प्रमाण भी प्रस्तुत करता है जहाँ कि लेख उपलब्ध हुआ था ।'⁵

इनके बाद कालक्रमानुसारी लेखों का वह समूह आता है कि जिनमें तिथियाँ दी हैं और जो कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का उल्लेख करते हैं । इनके अतिरिक्त भी तिथि वाले लेख हैं जिन्हें भी उन्हीं के समय का कहा जाता है हालांकि उनमें उक्त कुषाण राजों में से किसी के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है । स. 11 से 24 के लेखों का समूह, डा. बहूलर कहता है कि, 'भी तिथि वाले लेखों का है कि जो मेरी राय में कनिष्क, हुविष्क, और वासुदेव के काल के ही हैं । परन्तु उनमें से एक में भी राजा का नाम नहीं दिया हुआ है । फिर भी मेरा विश्वास है कि जो कोई इन राजों के नाम वाले तिथ्यांकित लेखों से सावधनी के साथ इन्हें मिलाएगा, वह किसी अन्य निष्कर्ष पर नहीं आएगा ।'⁶

ये तिथीवाले कुषाण लेख संवत् 4 से संवत् 98 की ज्ञात सीमा के हैं ।⁷ यह संवत् विक्रम है या अन्य कोई, यह ठीक ठीक कहना सम्भव नहीं है । 'इस युग की काल गणना भारतीय इतिहास की अत्यधिक उलझी हुई समस्या रही है और अब भी इसका कोई हल निकल आया हो ऐसा नहीं कहा जा सकता है । कहने का

1. देखो कोनोव, एपी. इण्डि., पुस्त. 14, पृ. 139-141 ।
2. देखो कोनोव, वही, पृ. 139, 141 ।
3. बहूलर, वही, पुस्त. 2, लेख सं. 4-10, पृ. 196 ।
4. वही, लेख, सं. 23, पृ. 396 ।
5. वही, पृ. 394 ।
6. बहूलर, एपी. इण्डि., पुस्त. 196 ।
7. देखो वही; कनिष्क, वही, पृ. 14 ।

तात्पर्य यह है कि अनुमान आज भी शंका स्पष्ट ही है।¹ कुषाण काल गणना की महत्वपूर्ण बात के विषय में आज बहुत मत विभिन्न उठता है।² फिर भी, अनेक गणमान्य विद्वानों के साथ हम भी कह सकते हैं कि इन लेखों में प्रयुक्त सम्वत् ई. 78 से प्रारम्भ होने वाला शक सम्वत् ही है।³

कंकाली टीले को जैन पादपीठ को एक शिलालेख इस प्रकार का है—

“सिद्ध महाराजस्य कनिष्कस्य संवत्सर नवमे...मासे प्रथ...दिवसे 5,” यदि⁴ यद्यपि शोडास और अन्य कुषाण शिलालेखों की भांति एवम् प्राचीन मालव-विक्रम-संवत्⁵ की रीति अनुसार यहाँ भी ऋतु, मास और दिन क्रमानुसार की तिथि उल्लेख करने की भारतवर्ष की प्राचीन पद्धति ही हम देखते हैं, फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि कुषाण राजों ने किसी भी संयोग में शक सम्वत् का उपयोग नहीं किया था। पक्षान्तर में प्राचीन विक्रम संवत् की इस लाक्षणिकता का कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों ने अपने ब्राह्मीलिपिक अभिलेखों में उपयोग किया हो तो वह कुछ भी अनहोनी बात नहीं है और हम यह जानते ही हैं कि कुषाणों में एक राजा का नाम वासुदेव था जो कि विशुद्ध भारतीय नाम है।⁶

फिर कुषाणों के सम्बन्ध में विक्रम संवत् स्वीकार कर लेने से मथुरा के क्षत्रपों के उत्तराधिकारियों की स्थिति का निश्चय करना कठिन हो जाता है। हमारी यह कठिनाई उस समय और भी बढ़ जाती है जब कि हम जानते हैं कि कनिष्कवंशजों के समय में मथुरा भी उसी एक साम्राज्य का अंश था।⁷ अन्त में तक्षशिला के प्राचीन खण्डहरों की खुदाई में सर जाह्न मार्शल को मिले अवशेषों से यह निश्चित होता है कि कनिष्क का समय ईसवी पहली सदी के अन्त का होना चाहिए और इसको चीनी इतिहासकारों के वर्णनों से तुलना करते हुए और उसके साथ इन शिलालेखों की तिथि का मेल बिठाते यह निश्चय होता है कि ईसवी 78 में प्रारम्भ होता प्रख्यात शक सम्वत् कनिष्क ने प्रवर्तन किया ही होगा।⁸ इस प्रकार कुषाण शिलालेखों में निर्दिष्ट संवत् 4 से 98 का समय ई. लगभग 82 से 176 का आता है।

कुषाण शिलालेखों में के दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें का एक साम्प्रदायिक इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है जो इस प्रकार है :—

“79 वर्ष की वर्षा ऋतु के चौथे महीने के बीसवें दिन...की स्त्री श्राविका, दिना (दत्ता) द्वारा भेट दी गई मूर्ति देवों के निर्मित बौद्ध मूप में स्थापना की गई थी।”⁹

1. रेप्सन, वही, पृ. 583।
2. कनिष्क के काल सम्बन्धी विभिन्न मतों के लिए देखो रायचौधरी, वही, पृ. 295 आदि।
3. फर्ग्युसन, ग्रील्डनबर्ग, टामस, बैनरजी, रेप्सन आदि विद्वानों के अनुसार कनिष्क ने ई. 78 में प्रारम्भ होने वाले सम्वत् का जो पीछे शक सम्वत् कहलाया, प्रवर्तन किया था।—वही, पृ. 297। देखो हरनोली उवासगदसाओ, प्रस्ता. पृ. 11। इस बात में बहुत मतभेद है कि शक सम्वत् का प्रवर्तक वास्तव में कौन था, यद्यपि यह तो निश्चित ही है कि कोई विदेशी शासक ही इसका प्रवर्तक होना चाहिए। जैसा कि पं. ओम्भा कहते हैं कि इस सम्वत् के पीछे कौन व्यक्ति है इसका निर्विवाद रूप से निर्देशन करना नहीं है, देखो, ओम्भा, प्राचीन लिपिमाला, 2 य संस्करण, पृ. 172-173।
4. कनिष्क वही, लेख सं. 4, प्लेट 13, पृ. 31।
5. कोनोव, वही, पृ. 141।
6. देखो कनिष्क, वही, पृ. 41।
7. देखो रायचौधरी, वही, पृ. 284।
8. रेप्सन, वही, पृ. 583।
9. बहलर, वही, लेख सं. 20, पृ. 204।

इस शिलालेख पर से हम देख सकते हैं कि मथुरा में एक प्राचीन स्तूप था जो व्हूलर के अनुसार ई. 157 (शक 79) में देव-निर्मित माना जाता था. अर्थात् वह इतना प्राचीन था कि उसके निर्माण की सत्य कथा ही भुला गई थी।¹ दूसरा शिलालेख कुषाण राजों के इतिहास के लिए महत्व का है। इसमें 'महाराज देवपुत्र हुक्ष (हुष्क या हुविष्क)'² का नाम है। इससे हम निश्चय ही जान सकते हैं कि राजतरिगिणी में उल्लिखित और काश्मीरी गांव उष्कर हुष्कपुर के नाम में सुरभित हुष्क शब्द सत्य ही प्राचीन समय में हुविष्क के पर्याय रूप ही प्रयोग होता था।³

इन कुषाण शिलालेखों के बाद कालक्रम से कोई तीन शिलालेख आते हैं जो डा. व्हूलर के अनुसार गुप्त-काल के हैं।⁴ एक अन्य शिलालेख जो वहां मिला है, वह ई. 11वीं सदी का⁵ है। इस प्रकार लगातार लगभग एक हजार वर्ष से कुछ अधिक जैनों का धार्मिक केन्द्र-स्थल रूप से मथुरा रहा लगता है।⁶ गुप्तकाल के शिलालेखों की चर्चा हम आगे के लिए छोड़ देते हैं। जहां कि उस काल में जैनधर्म की स्थिति का विस्तार से विचार किया जाएगा। यहां तो इन सब शिलालेखों की जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से क्या उपयोगिता है, उसी का विचार करेंगे क्योंकि राजकीय दृष्टि से तो विचार इनका ऊपर हो ही गया है। इस दृष्टि से इन लेखों की महत्ता दो प्रकार या कारणों से है। पहली तो जैनधर्म या जैनसंघ के इतिहास के विशिष्ट भावों की दृष्टि से और दूसरा उत्तरीय जैनों के इतिहास की सामान्य महत्ता की दृष्टि से।

पहला कारण ही हम लें। इस सम्बन्ध में दो बातें हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती हैं। एक तो यह कि अन्तिम तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों को इनमें नमस्कार किया गया या अंजलि अर्पित की गई है; दूसरा यह कि शिलालेखों में एक से अधिक तीर्थंकरों का उल्लेख है। पार्श्व और उनके पुरोगामी तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता का विचार करते हुए इसका विचार किया ही जा चुका है। फिर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुछ अभिलेख इस प्रकार समाप्त होते हैं: 'सर्व प्राणियों के कल्याण और सुख के लिए हो।' जैन अहिंसा के आदर्श का विचार करते हुए इसका निर्देश कर ही चुके हैं इन कुछ बातों के अतिरिक्त कि जिनकी विवेचना पहले की जा चुकी है, इन मथुरा के शिलालेखों सम्बन्धी अत्यन्त महत्व की बात यह है कि इनमें जैन साध्वियों के नाम एवम् उनकी महान् प्रवृत्तियों का भी निर्देश है।⁷ इसमें जरा भी शंका नहीं की जा सकती है कि आर्या संगमिका और आर्या वसुला कि जिनका नाम निम्न शिलालेख में आया है, साध्वियां ही हैं: ...अयसिङ्गमिकये शिशीनिनं अर्यावसुलये निर्वर्तनं...आदि। (पूज्य संगमिका की शिष्या पूज्य वसुला के उपदेश से...)।⁸ यह बात उनकी उपाधि 'अर्या' (पूज्य), उनकी शिशीनि (शिष्या) और वक्तव्य से उनके निर्वर्तन याने मांगने अथवा उपदेश से दिया गया दान, पर से स्वतः सिद्ध होता है। इतना निश्चय हो जाने पर यह मानने में कठिनाई होती ही नहीं है कि मथुरा के शिलालेख वहां के जैनों में साध्वियों का अस्तित्व बताते हैं।

इस प्रकार श्वेताम्बर चतुर्विध संघ में साधू, साध्वी, श्रावक और श्राविका का अस्तित्व इसवी युग के प्रारम्भ

1. वही, पृ. 198। देखो शार्पेटियर, वही, पृ. 167। 2. व्हूलर, वही, लेख सं. 26, पृ. 206।

3. वही, पृ. 198। 4. व्हूलर, वही, लेख सं. 38-40, पृ. 188।

5. वही, सं. 41, पृ. 198। 6. देखो ग्राजे, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 6, पृ. 219।

7. व्हूलर, एपी. इण्डि., पुस्त 1, लेख सं. 2, 5, 7, 12, 14, आदि, पृ. 382, 384-386, 388-389।

8. वही, लेख सं. 2, पृ. 382।

तक बताया जा सकता है¹ और इसका समर्थन वह जैन, शिलालेख भी करता है कि जो कनिष्क को मथुरा में एक दूरी शिला पर मिला था और जिसमें चतुर्वर्ग संघ पढ़ा जाता है।²

साध्वियों के अस्तित्व के विषय में विशिष्ट बात यह है कि कोई साध्वी किसी श्राविक को उपदेश करती मालूम होती है। ऐसा यह एक ही उदाहरण मिला है। यहां साध्वी पूज्य कुमार मित्रा अपनी संसारी पुत्री कुमारमट्टि को वर्धमान की मूर्ति कराने का उपदेश देती है।³ अन्य शिलालेखों में साध्वियां संघ की श्राविकाओं को समष्टि रूप से ही दान देने की प्रेरणा करती हैं। उक्त कुमारमित्रा विधवा या सधवावस्था में पति के साथ ही साध्वी बनी यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि दोनों ही बातें सम्भव हैं। कदाचित् यह भी हो सकता है कि उसने अपने पति की जीवितावस्था में अकेले ही उसकी आज्ञा से दीक्षा ली हो।⁴ डॉ. बहूलर उसको विधवा मानता है और कहता है कि “आज के समय में भी जैन साध्वियों का अधिकांश भाग विधवाओं का ही होता है, ...जो, बहुतेरी जातियों के सामान्य नियमानुसार, पुनर्विवाह नहीं कर सकती हैं और उन्हें सिर मुंडी साध्वी बनाकर बड़ी सरलता से उद्धार के मार्ग पर लगा दिया जाता है।”⁵

मथुरा के शिलालेखों में निर्देशित साधू-कुलों और शाखाओं के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनमें कितने ही नाम ऐसे आए हैं कि जिनका जैनों की दन्तकथा साहित्य में आने वाले नामों के साथ मेल खा जाता है।⁶ जैन साधुओं के इन विभागों में अन्य शाखाओं की अपेक्षा कोट्टिय-कांटिक गण के साधू ही मथुरा में अधिक संख्या में होंगे। डॉ. बहूलर के अनुसार “यह द्रष्टव्य है कि यही एक गण चौदहवीं सदी ईसवी तक परम्परागत चलता रहा था। उसकी इतनी दीर्घ आयु और उसकी शाखाओं की जैसी कि ब्रह्मदासिका कुल, उच्चनागरी शाखा⁷ और श्रीगृह जिला जाति आदि की दीर्घ आयु का लेख सं. 4 से समर्थन होता है। इस शिलालेख की अन्तिम सम्भव तिथि सम्बत् 59 याने ई. सन् 128-129 है। तब वर्तमान पूज्य आचार्य सीह चार पुरोगामी अपने गुरुओं का नाम गिनाते हैं जिनमें से सर्व प्रथम ईसवी काल के प्रारम्भ में ही हुए होंगे। यह गण, जैसा कि लेख से प्रकट होता है, उस पुरातन काल में भी इतना विभक्त हो गया था, और यह बात उसके ई. पूर्व 250 में प्रारम्भ होने की दन्तकथा को पुष्ट करता है।”⁸

1. यह विशिष्ट जैन सिद्धान्त है कि श्रावक और श्राविकाएं भी जैनसंघ के भाग होते हैं। इस विषय में जैन बौद्धों से बहुत ही स्पष्टतया विभिन्न हैं।
2. उक्त शिलालेख का हमारा अक्षरान्तरीकरण इस प्रकार है—नमो अरहंतानं नमो सिद्धानं सं. 62 गृ. 3 दि.5... शिष्या चतुर्वर्गस्य संघस्य...वापिकाये दे-त्ति। यह अभिलेख स्पष्ट नहीं है। कुछ स्वर-संकेत और अक्षर ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सकते हैं। इसकी तिथि सम्बत् 92 है, और इसमें कुए के विषय में सम्भवतः चतुर्वर्ग समुदाय के लिए, कहा गया लगता है। तिथ्यांश और दानोल्लेखन बहुत-कुछ पठनीय है। दाता कोई स्त्री शिष्या सी लगती है, लेख के लिए देखो कनिष्क, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 20, लेख सं. 6 प्लेट 13। देखो बहूलर, वही, पृ. 380।
3. देखो वही, लेख सं. 7, पृ. 385-386; वही, पृ. 380।
4. देखो बर्ग्येस, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 13, पृ. 278।
5. बहूलर, वही, पृ. 380।
6. देखो वही, पृ. 378-379।
7. यह भौगोलिक नाम ऊंचनगर के गढ़ के अनुरूप ही लगता है कि जो उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर में है। देखो कनिष्क, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 14, पृ. 147।
8. बहूलर, वही, पृ. 379-389। देखो क्लॉट, वही, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 11, पृ. 246। कोट्टियगण के सम्प्रदायों की बात कुछ भी कठिनाई उपस्थिति नहीं करती है क्योंकि वे सब कल्पसूत्र में दिए तदनुकूल नामों से मिलते हुए हैं। देखो याकोबी, कल्पसूत्र पृ. 82।

इन शिलालेखों की भाषा, शब्द और रूप, मिश्र अर्थात् अर्ध-प्राकृत-संस्कृत है। ऐसा होते हुए भी कुछ शिलालेख पाली शैली की विभुद्ध प्राकृत में असिलिखित कहे जाते हैं। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है उनमें अक्षर बहुत ही प्राचीन है और केवल इसी आधार पर उन्हें ई. पूर्व दूसरी और पहली सदी का माना जाता है। सर ए. कनिंघम संग्रह के कुछ शिलालेखों में पूव्वीये या पूव्वीये रूप जो कि जैन प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत के हैं, प्रयुक्त हुए हैं।¹ यह निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि इन अभिलेखों की भाषा को किसने प्रभावित किया था जब तक कि हमें इसवी पहली और दूसरी सदी में मध्य-भारत में प्रयुक्त भाषा का ठीक-ठीक परिचय न हो। फिर भी ऐसा लगता है, जैसा कि डॉ. ब्रूलर कहता है, कि “कितनी ही बातों में वह पाली और अशोक के आज्ञापत्रों तथा आंध्र के प्राचीन शिलालेखों की भाषा की अपेक्षा जैन प्राकृत और महाराष्ट्री के बहुत अनुरूप है।”²

डा. भण्डारकर³ एवम् अन्य विद्वानों की भांति ही यह विद्वान भी इस मिश्र भाषा के मूल के विषय में कहता है कि ‘अर्धदश प्रजा के लेखन-वाचन के परिणाम से ही ऐसा हुआ होगा क्योंकि जिनको संस्कृत का अपूर्ण ज्ञान रहता था और इसीलिए जो उसे सामान्यतया प्रयोग करने के अभ्यासी नहीं थे, वे ही ऐसी भाषा लिख सकते हैं। इसमें शंका ही नहीं है कि मथुरा के सब शिलालेख गुरुओं और उनके शिष्यों द्वारा लिखे गए हैं क्योंकि किसी पर उनके लिखने वालों का कोई भी नाम नहीं है। परन्तु इस परिणाम पर हम इसलिए पहुंचते हैं कि उसी प्रकार के परवर्ती अनेक अभिलेखों में उन यतियों के नाम दिए गए हैं जिनने उनकी रचना की है या लिखे हैं। पहली और दूसरी सदी में यतिलोग, जैसा कि आज भी करते हैं, अपने उपदेशों और धर्मशास्त्रों की व्याख्याओं में समकालिक बोलचाल की लोकभाषा का प्रयोग ही करते थे और धर्मशास्त्र प्राकृत में ही लिखते थे। यह स्वाभाविक ही था कि उनके संस्कृत लेखन के प्रयास अधिक सफल नहीं थे। इस सिद्धान्त का इस बात से प्रबल समर्थन होता है कि प्रत्येक अभिलेख में प्रायः अपभ्रंशों की संख्या और लक्षण असमान हैं और अनेक वाक्यों से जैसे कि वाचकस्य आर्य्य-बलदिनस्य शिष्यो अर्या-भात्रिदिनः तस्य निर्व्वर्त्तना, ऐसा ही प्रमाणित होता है। उक्त वाक्य का अंतिमांश नए नवसिखिए की लिखावट ही लगता है।’⁴

उत्तर-भारत के जैन इतिहास की दृष्टि से मथुरा के शिलालेख ई. पूर्व तथा पश्चात् के इण्डो-सिखिक समय में जैनधर्म की सम्पन्नतावस्था के अचूक प्रमाण हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। महावीर और अन्य तीर्थंकरों के मन्दिर एवम् प्रतिमाएँ बनाने वाली और उनको पूजने वाले चुस्त जैन समाज को अस्तित्व का ये सब लेख पुरा-पुरा भान कराते हैं। खारवेल के हाथी गुंफा के शिलालेख के पश्चात् मथुरा का कंकाली टीला ही हमें इस बात का सम्पूर्ण एवं सन्तोष जनक प्रमाण प्रस्तुत करता है कि इसवी युग के प्रारम्भ में जैनधर्म भी बौद्धधर्म जितना ही महान् सम्पन्न और समृद्ध था।

1. कनिंघम, आर्कियालोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, सं. 3, लेख सं. 2, 3, 7 और 11, पृ. 30-33।

2. ब्रूलर, वही, पृ. 376। 3. देखो भण्डारकर, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 12, पृ. 141।

4. ब्रूलर, वही, पृ. 377।

छठा अध्याय

गुप्त काल में जैनधर्म की स्थिति

मथुरा के शिलालेख हमें बहुत कुछ कुषाण काल के अन्त तक ले आते हैं। इस समय की दन्तकथाएं, स्मारक और शिलालेख यह सिद्ध कर देते हैं कि जैनों की सत्ता उत्तर-पश्चिमी भारत से लेकर दक्षिण में लगभग विंध्या-चल तक और पामीर की घाटियों से दूर प्रदेशों तक में थी। कनिष्क के राज्य से लेकर वासुदेव के समय में कुषाण सत्ता बिहार पर भी थी ऐसा मानने के पर्याप्त कारण हैं।¹ उत्तर-भारत की यह सार्वभौम सत्ता वासुदेव के मरते ही टूट गई। कुषाण युग का यही अन्तिम राजा था और इसकी अधीनता में भारतवर्ष का बहुत व्यापक क्षेत्र था।

स्मिथ कहता है कि यह तो स्पष्ट ही है कि कुषाण सत्ता वासुदेव के लम्बे राज्यकाल के अन्त में निर्बल पड़ गई थी और उसकी मृत्यु के पूर्व अथवा पश्चात् ही तुरन्त पौराणिक साम्राज्यों की जो दशा सामान्यतया होती है वही, कनिष्क के महान् साम्राज्य की भी हुई। अर्थात् थोड़े ही समय तक सुन्दर संगठन का अनुभव कर वह भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त हो गया। अनेक राजों ने अपनी स्वतन्त्रता का दावा किया और उनमें चाहे वह थोड़े ही समय के लिए हुआ हो परन्तु फिर भी अपने पृथक-पृथक राज्य स्थापन कर लिये। परन्तु तीसरी सदी के इतिहास के साधन एकदम ही अप्राप्य होने के कारण यह कहना प्रायः असम्भव है कि ये स्वतन्त्र राज्य कितने और कैसे थे ?²

तीसरी और चौथी सदी के प्रारम्भ में पंजाब के अतिरिक्त उत्तरीय भारतवर्ष के राज्य वंशों का निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। कुषाण साम्राज्य के अवसान और गुप्त साम्राज्य के उद्गम के बीच की एक सदी का समय भारतवर्ष के इतिहास का अन्धकारतम अन्तरिम काल है।³ फिर भी गुप्तों के उदय के साथ ही अन्धकार का वह पड़दा उठ जाता है और भारतीय इतिहास ऐक्य और रसका अनुभव करता है।

गुप्तों के आगमन के साथ ही मगध फिर आगे आता है। 'इतिहास में दो बार उसने साम्राज्य की स्थापना की, मौर्य साम्राज्य ई. पूर्व चौथी और तीसरी सदी में, एवम् गुप्त साम्राज्य ई. चौथी और पांचवी सदी में।'⁴ छह सदी पहले के अशोक काल के साम्राज्य की विशाल सत्ता की अपेक्षा भी इस गुप्त साम्राज्य की सत्ता अधिक

1. देखो स्मिथ, वही, पृ. 274, 276; जायसवाल, त्रिपुरा पत्रिका सं. 6, पृ. 22।

2. स्मिथ, वही, पृ. 288, 290।

3. यह काल प्रत्यक्षतया अत्यन्त उलझन का था, यही नहीं अपितु उत्तर-पश्चिम से विदेशी आक्रमण भी तब हो रहे थे। इस स्थिति का दिग्दर्शन आमीरों, गर्दीमल्लों, शकों, यवनों, बाल्हीकों और अन्य प्रख्यात राज्यवंशों के कि जिन्हें आंध्रों के उत्तराधिकारी बताया गया है, पुराणों के विभ्रान्त वर्णनों से होता है। वही, पृ. 290।

4. रेप्पन, वही, पृ. 310।

थी। इसमें उत्तर भारत के अत्यन्त घनी बस्तीवाले और उर्वर प्रदेश सभी आ गए थे। पूर्व में ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिम में जमना और चम्बल नदी तक, और उत्तर में हिमालय की तलेटी से दक्षिण में नर्मदा तक वह साम्राज्य फैला हुआ था। इस विस्तृत सीमा के आगे भी आसाम और गंगेय (डेल्टा) व द्वीप के सीमान्त प्रदेश और हिमालय की दक्षिणी ढाल के राज्य, एवम् राजपूताना और मालवा के स्वतन्त्र कबीले उस साम्राज्य से सहायक संधियों द्वारा संलग्न थे। पश्चान्तर में दक्षिण के प्रायः सारे राज्यों में सम्राट की सेना छारखार कर उनसे अपनी सार्वभौम सत्ता और अपराजेय शक्ति मनवा आई थी।¹

गुप्त काल में धर्म की स्थिति क्या थी इस विषय में इतना तो निश्चित है कि इस वंश के राजा प्रत्यक्षतः ब्राह्मणधर्मो हिन्दू थे और उनकी विष्णु के प्रति विशिष्ट भक्ति थी। परन्तु वे भी सर्व धर्म के प्रति आदर की प्राचीन भारत की रूढ़ि का ही पालन करते थे। विशेष प्रीति नहीं होते हुए भी बौद्ध एवम् जैनधर्म दोनों ही को इनने फलने फूलने दिया था। अनुपान होता है कि वैष्णवधर्म के प्रति विशिष्ट समादर दिखाते हुए सर्वधर्म सहिष्णुता और परधर्मों में हस्तक्षेप नहीं करना ही उनका लक्ष्य था।² उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य या चन्द्रगुप्त त्य, गुप्तवंश का पाँचवा सम्राट, “बौद्ध और जैनधर्म के प्रति सहिष्णु होते हुए भी, स्वयम् सनातनी हिन्दू और विष्णु का परम भक्त था।”³

गुप्त राजों को सर्वदर्शनसार संग्राहक नीति के सिवा भी, जैनों के प्रति उनका विशिष्ट आदर, जैसा कि पहले कहा ही जा चुका है, मथुरा के शिलालेखों से प्रमाणित होता है। उन जैन शिलालेखों में तीन, डॉ. बहलर के अनुसार, गुप्तकाल के हैं।⁴ उनमें से एक जो कि नीचे लिखे अनुसार है, के विषय में तो कोई शंका ही नहीं है क्योंकि वह एक बँठी मूर्ति पर खुदा हुआ है और कुमारगुप्त के राज्यकाल का है। वह लेख इस प्रकार है—

जय हो ! 113 वें वर्ष में, महान् राजों के महाराजा और चक्रवर्ती कुमारगुप्त के विजयी राज्य काल में, बीसवें दिन (शीत-मास कार्तिक के)—उस दिन मट्टिमव की पुत्री (और) दागी ग्रहमित्रपालित की गृहपति सामाढ्या (श्यामाढ्या) ने एक प्रतिमा स्थापन कराई कि जिसको यह आज्ञा (उत्सर्ग कराने की) कोट्टियगरा (और) विद्याधरी शाखा के दत्तिलाचार्य (दत्तिलाचार्य) ने दी।”⁵

दूसरे दोनों शिलालेखों में से एक अच्छी स्थिति में नहीं है। इसलिए उसका संलग्न अनुवाद देना संभव नहीं है। परन्तु उसमें मन्दिर बनवाने या मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाने का अभिलेख ही हो ऐसा लगता है।⁶ तीसरा लेख लिपि की दृष्टि से, बहलर, के मतानुसार, गुप्तकाल का ही लगता है। यह शिलालेख एक छोटी मूर्ति या पूतले के पावपीठ पर खुदा हुआ है, इस प्रकार है :—

“सत्तावनवें 57 वें वर्ष में, शीत काल के तीसरे महीने में, तेरहवें दिन में, (उपर्युक्त विशेष दिन) दिन को...।”⁷

1. देखो स्मिथ, वही, पृ. 303। 2. “मानासर, इसलिए, गुप्तयुग का संकेत करता लगता है...; समस्त भारत-व्यापी साम्राज्य का अस्तित्व; ... ब्राह्मणधर्म की लोकप्रियता और विशेषतः वैष्णव सम्प्रदाय की और झुकाव एवं बौद्ध व जैनधर्म के प्रति सहिष्णुता और विरोधाभाव...।” —आचार्य, इण्डियन आर्किटेक्चर अकाडिग टु मानासार शिल्पशास्त्र, पृ. 394। 3. स्मिथ, वही, पृ. 309।
4. देखो बहलर, एपी. इण्डि., पुस्त. 2, लेख सं. 38-40, पृ. 198।
5. बहलर, वही, लेख सं. 39, पृ. 210-211। 6. वही, लेख सं. 40, पृ. 211।
7. वही लेख सं. 38, पृ. 210।

उसी विद्वान के शब्दों में “लिपि को आकार, और विशेषतः ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के चिन्हित करने की विशिष्ट शैली—याने दीर्घ की मात्रा व्यंजन के दाईं ओर एवम् ह्रस्व की मात्रा बाईं ओर लगाना—लेख सं. 38 को इससे पूर्व का समय देने के असम्भव, मेरे विचार से, बनाती है।”¹

गुप्त सम्बत् 113 और 57 की तिथि वाले उपरोक्त दोनों लेखों के यथार्थ काल का निर्णय करने के लिए हमें गुप्तों के प्रवर्तित सम्बत् का विचार करना आवश्यक है। गुप्तकाल ‘गुप्तवर्ष’ जैसे शब्द को गुप्त राजों के उत्कीर्णित लिपिक और अन्य अभिलेखों में आते हैं, उनसे ऐसा लगता है कि वह सम्बत् उस वंश के किसी राजा ने अवश्य ही प्रवर्तित किया होगा। परन्तु इसका कोई लिखित प्रमाण आज तक तो उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु इलाहाबाद के समुद्र गुप्त के शिलालेख से जाना जाता है कि चन्द्रगुप्त 1म, जो कि उसका पूर्वज था, ही ऐसा राजा है कि जो अपने को ‘महाराजाधिराज’ कहता है। उसके पूर्वज, गुप्त और घटोत्कच दोनों ही राजा, केवल ‘महाराज’ कहलाते थे।² यह और इसके साथ ही समुद्रगुप्त के और चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय के शिलालेखों के उल्लेख जो कि गुप्त संवत् 82 से 83 तक³ के हैं, पर से विद्वानों ने गुप्त सम्बत् का प्रवर्तन-काल चन्द्रगुप्त 1म के राज्य काल में निश्चित किया है।

स्मिथ कहता है कि ‘पौरात्य पद्धति से उसके राज्यारोहण समय में जबकि उसे साम्राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया गया और जिस समय दन्तकथानुसार पाटलीपुत्र पर अधिकार किया गया तब संवत् प्रवर्तित करने जितना ही उनका राजकीय महत्व भी था। गुप्त संवत् जो कि कितनी ही सदियों तक भिन्न-भिन्न प्रदेशों में चलता रहा था, का पहला वर्ष ता : 26 फरवरी सन् 320 से ता , 13 मार्च सन् 321 तक का था। इसकी पहली तारीख या तिथि चन्द्रगुप्त 1म के राज्यारोहण की तिथि रूप ली जा सकती है।’⁴

गुप्त संवत् के प्रवर्तन की ई. 319--320 तिथि एलबरूनी के वक्तव्य के आधार पर निश्चित की गई है जो कहता है कि शक सम्बत् के 241 वर्ष पश्चात् गुप्त संवत् का प्रवर्तन हुआ था। तदनुसार यह ई. सन् 319--320 आता है। अरब पर्यटक का यह वक्तव्य सत्य सिद्ध

- वही, पृ. 198। यह ग्रौसे का सं. 5 (इण्डि. एण्टी., पुस्त. 4, पृ. 219) है। इसकी विवेचना करते हुए विद्वान पण्डित कहता है कि “यदि यह तिथि उसी संवत् का 57 वां वर्ष है जो कि कनिष्क और हुविष्क के लेखों में है, तो यह इस क्षेत्र में मिलने वाली प्राचीनतम् जैन मूर्ति है। परन्तु मैं यह विश्वास नहीं कर सकता हूँ। मेरे विचार से यह मूर्ति अपेक्षाकृत आधुनिक है...।” —ग्रौसे, वही, पृ. 218।
- “जो (समुद्रगुप्त) मानव के प्रतिपालनार्थ आचार्यों की प्रतिमालनोःसव करने वाला प्रत्यलोक का मानव ही था, (परन्तु अन्यथा इस भूमि पर रहता हुआ अवतार, —जो प्रख्यात गुप्त महाराजा के पोत्र का पुत्र था; जो प्रभावित चन्द्रगुप्त 1म महाराजाधिराज का पुत्र था,” आदि आदि। —फ्लीट, कारपस इंसक्रिप्शनम् इण्डिकोरम, सं. 3, लेख सं. 1, पृ. 15-16। देखो ओम्हा, वही, पृ. 174।
- देवो स्मिथ, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 31, पृ. 265; ओम्हा, वही और वही स्थान।
- स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 296। देखो ओम्हा, वही, पृ. 175; बार्न्येट, एण्टीक्विटीज ऑफ इण्डिया, पृ. 46।
- गुप्तकाल के सम्बन्ध में लोग कहते हैं कि गुप्त बड़े दुष्ट और शक्तिशाली थे और जब उनका अस्तित्व मिट गया तो यह तिथि एक युग प्रवर्तन की मान ली गई। ऐसा मालूम होता है कि वल्लभ इनका अन्तिम सम्राट था क्योंकि गुप्त युग का संवत्, वल्लभी युग के संवत् की भाँति ही, शक काल के 241 वर्ष बाद ही शुरू होता है।” —सचाओ, एलबरूनीज इण्डिया, भाग 2, पृ. 7।

हुआ है,¹ और फ्लीट के अनुसार मंदसौर का शिलालेख इसका समर्थन करता है।²

इस प्रकार गुप्त संवत् का प्रारम्भ ई. सन् 319 में लेने से मथुरा के ये दो शिलालेख कि जो वर्ष 57 और 113 के हैं, अनुक्रम से ई. सन् 376 और 432 के कहे जा सकते हैं स्वीकृत गुप्तवंश के कालक्रमानुसार पहला शिलालेख चन्द्रगुप्त 2 य का और दूसरा शिलालेख में कहे अनुसार कुमारगुप्त 1म का समय का है।³ जैसा कि पहले से ही कहा जा चुका है गुप्तों का प्राचीनतम शिलालेखी अभिलेख सं. 82 से प्रारम्भ होता है और इससे डा. ब्रूलर का यह कहना सत्य ही है कि पहला शिलालेख जैसे कि चन्द्रगुप्त 2य के समय का हम कह चुके हैं, यदि उसके विषय में उसका अनुमान स्वीकार कर लिया जाता है तो 'उसकी तिथि, संवत् 57, गुप्त संवत् का सर्व प्रथम उल्लेख है जो कि अब तक मिल सका है।'⁴

इन दो मथुरा शिलालेखों के सिवा भी जैनों से सम्बन्ध रखने वाले दो गुप्त सम्बन्धी अभिलेख और भी हैं। उनमें कालक्रमानुसार पहला उल्लेख उदयगिरि गुफा का शिलालेख है जिसमें स्पष्टतः राजा के उल्लेख के स्थान में प्रारम्भ के गुप्त राजों की वंशावली दी हुई है। उसकी तिथि पर से यह भी कुमारगुप्त 1म के समय का ही लगता है। उसमें तिथि शब्दों में दी गई है जो वर्ष 106 (ई. सन् 425-426) के कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की पांचवें सूर्य दिवस की है।⁵ उस शिलालेख के उस अंश का अनुवाद कि जिससे उसका जैन होना स्पष्ट प्रगट होता है इस प्रकार है : उसने (याने शंकर जिसका नाम 6ठी पंक्ति में है) जिसने (आध्यात्मिक) रिपुओं को जीत लिया है, (और) जिसने शांति और संयम साध लिये हैं, (इस) गुफा के मुख में, जिन की यह मूर्ति, नाग की विस्तृत फलों और परिचारिका देवी (भरपूर सजी हुई) सहित, (और) जिनों में सर्वोत्तम ऐसे पार्श्व के नाम वाली, निर्मित (और स्थापित) कराई। वह निश्चय ही संत आचार्य गोशर्मन...का शिष्य है' आदि।⁶

इस प्रकार उदयगिरि गुफा के शिलालेख का उद्देश गुफा के मुख पर पार्श्व या पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापना का उल्लेख करना मात्र है। जिस दूसरे शिलालेख की ऊपर बात कही गई है वह है कुमारगुप्त 1म के पश्चात् होने वाले स्कन्दगुप्त का कहाउं⁷ का पाषाण स्तम्भ पर का लेख।⁸ खाखी रेतिये पत्थर का यह स्तम्भ जिस पर कि

1. "अब तक में ने यही बताया है कि पहले पहले की गुप्त तिथियां और, उनके साथ ही अन्य भी जो कि उसी सम श्रेणी की सिद्ध की जा सकती हैं, सब ई. 319-328 या उसके आसपास के युग की मानी जानी चाहिए जैसा कि एलबर्नी ने ध्यान खींचा है और जो वीरावल के शिलालेख, बल्लभी संवत् 945 के से समर्थित है।" प्लीट, वही, प्रस्ता. पृ. 16 आदि।
2. देखो वही, प्रस्तावना पृ. 23।
3. देखो स्मिथ, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 31, पृ. 265-266। चन्द्रगुप्त का राज्यकाल ई. लगभग 380 से ई. लगभग 412 तक रहा था और कुमार गुप्त का ई. लगभग 413 से ई. लगभग 455 तक। देखो वही; स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 345-346; भण्डारकर, वही, पृ. 48-49; बान्यर्ट, वही, पृ. 47-48।
4. ब्रूलर, वही और वही स्थान। 5. देखो प्लीट, वही, लेल सं. 61, पृ. 258।
6. वही, पृ. 259। देखो हुल्ट्ज, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 11, पृ. 310।
7. "इस शिलालेख का प्राचीन काकुम या काकुमग्राम, और आज का कहाउं या कहां उत्तर-पश्चिम प्रांत जिसका कि अब नाम उत्तर-प्रदेश है, के गोरखपुर जिले की देवरिया या देओरिया तहसील सलमपुर-माहोली परगना का प्रमुख नगर, सलमपुर-महोली के दक्षिण से पश्चिम की ओर पांच मील दूर स्थित एक गांव है।" -प्लीट, वही, पृ. 66। देखो भगवानलाल इन्द्रजी, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 10, पृ. 125।
8. देखो स्मिथ, वही, पृ. 346। कहा जाता है कि कुमारगुप्त 1म के बाद ई. लगभग 455 में यह राजसिंहासन पर बैठा था। देखो वही; बान्यर्ट, वही पृ. 48।

लेख खुदा हुआ है, कहाउं गांव के उत्तर में कुछ दूर पर है। उस लेख में प्राचीन गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त के राज्य का निर्देश है। उसकी तिथि शब्दों में दी हुई है जिसके अनुसार वह है, 141 वां वर्ष (तदनुसार ई. सन् 460-461) और ज्येष्ठ मास ।¹ लेख का उद्देश उसके नीचे उद्धृत अंश से स्पष्ट होता है :

‘उसने (अर्थात् मद्र ने, जिसका नाम लेख की 8वीं पंक्ति में उल्लिखित है), इस समस्त संसार को (सदा ही) परिवर्तनों की परम्परा से गुजरता देख भयभीत हो, अपने लिए बहुत धर्म कमाया (और अपने से),—अन्तिम सुख के लिए (और) (सब) जीवित प्राणियों के कल्याण के लिए, पांच सुन्दर (प्रतिमाएं²), पाषाण की बनी, उनकी कि जिनने अर्हंतों के मार्ग में जो कि धार्मिक क्रियाएं करते हैं, अनुसरण किया है, स्थापित करके—उस भूमि में फिर यह अत्यन्त सुन्दर पाषाण स्तम्भ, जोकि मेरू पर्वत के शिखर की चोटी के समान लगता है, (और) जो (उसकी) कीर्ति प्रदान करता है, रोपण किया ।’³

शश कहाउं शिलालेख यह अभिलेख करता है कि मद्र नाम के किसी व्यक्ति ने आदिकीर्तियों याने तीर्थंकरों की प्रतिमाएं प्रतिष्ठापित कराई थी, और यह स्तम्भ पर की मूर्तियां द्वारा भी समर्थित होता है। इन मूर्तियों में की अत्यन्त महत्व की पांच खड़ी नग्न मूर्तियां हैं कि जो डा. भगवानलाल इन्द्रजी के अनुसार आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पाश्र्व और महावीर, इन पांच लोकप्रिय तीर्थंकरों की हैं ।⁴

गुप्तों और जैनों का सम्बन्ध बताने वालों शिलालेखी इन साक्षियों के अतिरिक्त, हम मुनि जिन विजय⁶ के अत्यन्त आभारी हैं कि जिनका कुवलयमाला⁵ का इसके विद्वतापूर्ण विवेचन गुप्तकाल के जैन-इतिहास पर बहुत ही प्रकाश डालता है। जैनों के इस कथासाहित्य के रचयिता विद्वान उद्योतनसूरि ने स्वयम् को इस ग्रन्थ में ही इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि जो उस काल की कि जिसमें वे हुए और प्रवृत्ति की थी, यथार्थता का प्रतीक है। हमें यह कहा गया है कि यह रोचक प्राकृत कथा शक सं. 700 याने ई. सन् 779 में समाप्त हुई थी ।⁷ इस काल में अनेक अमर रचनाएं हुई थी, परन्तु उनके लेखकों ने उनमें अपना नाम देने की जरा भी चिन्ता नहीं की है फिर भी कुवलयमाला कि जिसमें ऐतिहासिक दृष्टि बराबर अन्तर्निहित हुई है, उस काल की एवं उन परिस्थितियों की

1. देखो प्लीट वही, लेख सं. 15, पृ. 96; भगवानलाल इन्द्रजी, वही और वही स्थान ।

2. प्लीट, वही, पृ. 68; भगवानलाल इन्द्रजी, वही, पृ. 126 ।

3. लेख के इस अंश के यथार्थ शब्द इस प्रकार हैं : नियमवतामर्हतामादिकर्तन् पंचेन्द्रस्था पयित्वा...आदि । डॉ. इन्द्रजी ने इसको इस प्रकार अनदित किया है। “तपस्वी अर्हंतों के मार्गनुसारी पांच प्रमुख आदिकर्तृ (तीर्थंकरों)...की स्थापना कर ।” —इण्डि. एण्टी., पुस्त. 10, पृ. 126 । इस अनुवाद पर विद्वान पण्डित ने इस प्रकार टिप्पण दिया है। “आदिकर्तृ—मूलस्थापक, वह जिसने पहले पहल मार्ग बताया, परन्तु यह विशेषण तीर्थंकरों के लिए सामान्यतः प्रयोग किया जाता है। देखो कल्पसूत्र, शक्ररत्न, नमोस्तुं समणस्स भगवओ महावीरस्स... चरमतिथयरस्स । इसका संस्कृत इस प्रकार है। नमोस्तु श्रमणाय भगवते महावीरायादिकर्तं चरमतीर्थकराय— ।” वही, पृ. 126, टिप्पण 16 । 4. वही, पृ. 126 । देखो प्लीट, वही, पृ. 66 ।

5. जिन विजय, जैसासं. 3, पृ. 169 आदि ।

6. यह 8वीं सदी का जैनों के वर्णनात्मक साहित्य का एक ग्रन्थ है। आज मारवाड़ में, परन्तु एक समय गुजरात का ही अंश माने जानेवालों जाबालीपुर (जालौर) में यह पूर्ण किया गया था ।

7. सगकाले बोलीणे वरिसाब सहि सत्तहि गएंहि । एगदिणेपुणेहि रइया अबरणह्वेलाए ॥—वही, गाथा 36, पृ. 180 ।

जिनमें उसकी रचना हुई और उसके रचियता सूरि की गुरुपरंपरा का यथार्थ चित्र बहुत कुछ हमारे सामने प्रस्तुत करती है। प्रास्ताविक गाथाओं में हमारे लिए उपयोगी कुछ गाथाएं इस प्रकार हैं ;—¹

- (1) अत्थि पुहईपसिद्धा दोणिया यहा दोणिए चैय देस त्ति ।
तत्थात्थि प्हं आमैण उत्तरावहं बहुजणाइण्णं ॥
- (2) सुहृच्चिअचारुसोहा विअसिअकमलाण्णया विमलदेहा ।
तत्थत्थिजलद्विदइअ सारिअ अह चंछाभाय त्ति ॥
- (3) तीरम्मि तीय पयडा पव्वइया णाम रयणसोहिला ।
जत्थत्थि ठिए भुत्ता पुहइं सिरितोरराएण ॥
- (4) तस्स गुरू हरिउत्तो आयरिअो आसि गुत्तबंखाओ ।
तीय णायरीय दिण्णो जेण णिवेसो तहिं काले ॥
- (5) तस्स वि सिस्सो पयडो महाकई देवउत्तणामो त्ति ।²

इन गाथाओं का भावार्थ यह है। “विश्व में दो मार्ग और दो ही देश हैं (दक्षिणापथ और उत्तरापथ) कि जो सब प्रख्यात हैं। इनमें से उत्तरापथ विद्वानों से भरा पूरा देश माना जाता है। उस देश में चन्द्रभागा नाम की नदी बहती है, जो ऐसा लगती है कि मानो सागर की प्रिया ही हो। उस नदी के तट पर फवइथा नामक सुप्रसिद्ध और सम्पन्न नगर बसा हुआ है। जब वह यहाँ था तब श्रीतोरराय पृथ्वी पर राज्य भोगता था। आचार्य हरिगुप्त, जिनका गुप्तवंश में जन्म हुआ था, इस राजा के गुरू थे, और उस समय वह भी वहाँ रहते थे। देवगुप्त जो एक महा कवि था, इन आचार्य का शिष्य हो गया था।”

उद्योतनसूरि की ये प्रस्ताविक गाथाएं उत्तर भारत की जैन समाज और सामान्य भारतीय इतिहास दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्व की हैं। राजा तोरमाण या तोरराय जिसका तीसरी गाथा के उत्तरार्ध में निर्देश किया गया है, हूणों³ के प्रख्यात सरदार के सिवा और कोई नहीं है कि जिसके नेतृत्व में उत्तर-पश्चिमीय घाटियों में

1. जिनविजयजी सूचित करते हैं कि इस कुवलयमाला की दो ही हस्तप्रतियां अभी तक उपलब्ध हुई हैं। एक पूना के सरकारी संग्रह में और दूसरी जैसलमेर के जैन भण्डार में। दोनों प्रतियां न केवल छोटी छोटी बातों में ही अपितु अति महत्व की ऐतिहासिक बातों में भी एक दूसरे से भिन्न हैं। विद्वान् पण्डित इन भेदों को मूल लेखक कर्तृक ही मानता है और विश्वास करता है कि दोनों ही प्रतियों में ये मतभेद मूल श्रोतों से ही आए हैं। देखो, वही, पृ. 175।

2. देखो वही, पृ. 177। पूना की प्रति में उपर्युक्त पहली दो गाथाएं नहीं मिलती हैं। वह प्रति तीसरी गाथा से ही प्रारम्भ होती है। फिर प्रस्ताविक गाथा भी इस प्रति की जैसलमेर के प्रति की गाथा से एक दम भिन्न है। वह गाथा इस प्रकार है :—अत्थि पयडा परीणं। तोररायेण के स्थान में पूना प्रति में तोरमाणेण लिखा हुआ है। पांचवीं गाथा के प्रथमार्ध के स्थान में हम पूना प्रति में निम्नलिखित सम्पूर्ण गाथा पाते हैं :—

(तस्स) बहुकलाकसलो सिद्धान्तयवयाणओ कई दक्खो ।

आयरिय देवगुत्तो ज(स्स)ज्जवि विज्जरए कित्ती ॥—वही ।

3. हूण मध्य-एशिया में आर्यों की ही एक जाति थी। उनसे गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया था और कुछ समय तक भारतवर्ष के एक बड़े भाग पर उनका आधिपत्य भी रहा था। हूणों का राज्यतोरभाण के उत्तराधिकारी मिहिरकुल की पराजय और मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया था। इसको छठी सदी ईसवी के मध्य के लगभग रखा जा सकता है। हूणों के विशेष परिचय के लिए देखो श्रीका, राजपूताना का इतिहास, भाग 1, पृ. 53 आदि, 126 आदि।

हो कर हूणों के टोले के टोले उत्तर-भरतवर्ष में प्रलय की भांति सब ओर फैल गए थे । इस तोरराय को हूण सरदार तोरमाण मान लेने में कोई भी ऐतिहासिक मूल नहीं है क्योंकि समस्त भारतीय इतिहास में केवल एक ही पृथ्वीभोक्ता तोरमाण है । वह अपने समय का एक अति प्रख्यात व्यक्ति ही था क्योंकि, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, वही हूणों के आक्रमण और परिणामतः गुप्त साम्राज्य के विघटन का प्रधान नायक था । मध्य एशिया को त्याग कर वह अपने अनुयायियों सहित भारतवर्ष में घुस आया और पंजाब एवं दिल्ली को विजय कर वह मध्य-भारत के मालवा देश तक भीतर में पहुंच गया था । विसैंट स्मिथ कहता है कि “भारतवर्ष के इस आक्रमण का कि जो कितने ही वर्षों तक निःसंदेह ही चलता रहा था, नेता तोरमाण नाम का सरदार था कि जिसने मध्य-भारत के मालवा प्रदेश तक अपना अधिकार ई. सन् 500 के पहले ही जमा लिया था ऐसा कहा जाता है । उसने अपने लिए ‘महाराजों का राजा’ का भारतीय विरुद्ध धारण किया था; और मानुगुप्त एवम् वल्लभी का राजा व अन्य अनेक राजों को उसने अपने करद राज्य बना लिये होंगे ।”¹

स्वभावतः मध्यएशिया के आर्यों के नेता, इस हूणाधिपति, ने भारतवर्ष की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों में भारी क्रांति ही ला दी होगी । उसके आधिपत्य का समय निःसंदेह अल्पकालीन था, परन्तु जिस समय उसकी मृत्यु हुई —ई. छठी सदी के प्रथम दशक में उसका जमाया हुआ भारतीय साम्राज्य इतना शक्तिशाली था कि वह उसके पुत्र एवम् उत्तराधिकारी मिहिरकुल को मिल सका ।² परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि पुरातत्वज्ञों को उसकी राजधानी कहां थी इसका असंदिग्ध रूप से पता अभी तक भी नहीं लग पाया है । अनेक आधारों से हम इतना तो जानते हैं कि पंजाब का, शाकल, आधुनिक सियालकोट, उसके उत्तराधिकारी मिहिरकुल की राजधानी थी ।³ फिर भी कुवलयमाला के कथानुसार, तोरमाण की राजधानी चन्द्रभागा आज की चिनाव, नदी के तट पर की पव्वइया नगरी थी ।

इस पव्वइया को जिसका कि संस्कृत रूपान्तर पर्वतिका या पार्वती है, उत्तरी-भारत में निश्चित करना कठिन है । युयानब्वांग के ‘भारतवर्ष का पर्यटन याने ट्रैवल्स इन इण्डिया’ ग्रन्थ में हमें मौ-लो-सन-पू-लू याने मुलतान से लगभग 700 ली उत्तर-पूर्व के पो-फा-टो⁴ देश में उसके जाने का पता चलता है । ‘इस लेखांश का पो-फा-टो,’ वाटर्स कहता है कि ‘शब्द सम्भवतया पो-ला-फो-टा याने पर्वत का ही पर्याय मालूम होता है ।’⁵ इससे क्या हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चीनी पर्यटक का पर्वत नगर ही तोरमाण की राजधानी पव्वइया नगरी था ? विद्वान इस सम्बन्ध में सब एक मत नहीं हैं ।⁶ इसलिए हम इतना ही कह सकते हैं कि, जैनों के

1. स्मिथ, वही, पृ. 335 । देखो वान्येंट, वही, पृ. 49 ।
2. देखो स्मिथ, वही और वही स्थान । ओफ्ला, वही, पृ. 128 ।
3. देखो स्मिथ वही और वही स्थान; ओफ्ला, वही, पृ. 129; वान्येंट, वही, पृ. 50 ।
4. देखो वाटर्स, युयानसांस ट्रैवल्स इन इण्डिया, भाग 2, पृ. 255; बील, सी-यू-की, भाग 2, पृ. 275 ।
5. वाटर्स, वही और वही स्थान । देखो बील; वही और वही स्थान ।
6. विसैंट स्मिथ के अनुसार पो-फा-टो (पर्वत) काश्मीर राज्य जैसा कि वह आज संगठित है, के दक्षिण स्थित (जम्मू) जम्मू का राज्य होना चाहिए । देखो वाटर्स, वही, पृ. 342 । कनिंघम शोरकोट को ही पो-फा-टो कहता है, यद्यपि वह यह भी मानता है कि पर्यटक निर्दिष्ट स्थिति तो चेनाब पर के भंग के स्थान से मिलती है । कनिंघम, एंशेंट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, पृ. 233-234 । डा. फ्लीट के अनुसार, पो-फा-टो प्राचीन नगर हड़प्पा के सिवा दूसरा कोई हो ही नहीं सकता है । फ्लीट, राएसों पत्रिका, 1907, पृ. 650 ।

अनुसार, तोरमाण को राजधानी पव्वड्या नगरी थी और अब यही देखना शेष रह जाता है कि इस नगरी को उत्तर-भारत के नक्षेत्रों में किस स्थान पर ठीक ठीक स्थिरीकरण किया जा सकता है ।

हमारे लिए यहां महत्व की बात तो यह है कि कोई हरिगुप्त नाम के जैनाचार्य इस महान् तोरमाण के गुरु थे । कुवलयमाला का यह कथन वस्तुतः अति ही महत्व का है । कुछ ही शिलालेखों को छोड़ कर, कि जिनका हमने ऊपर निर्देश किया हुआ है, अभी तक कोई भी ऐसी व्यवहारिक बात नहीं मिली थी कि जो गुप्त काल में जैनधर्म की स्थिति पर प्रकाश डाल सकती थी । तोरमाण जैसे विदेशी और विजयी राजा का गुरु एक जैनाचार्य का होना जैन इतिहास में कोई कम महत्व की घटना नहीं कही जा सकती है । कितनी ही नगण्य इसे मानी जाए, फिर भी इससे हम इतना निष्कर्ष का आशय तो मान ही सकते हैं कि शैशुनागों, नन्दों और मौर्यों के काल की ही भांति भारतीय इतिहास के इस सुवर्ण युग में भी जैनाचार्य राजगुरु पद पर रहे थे ।

आचार्य हरिगुप्त का विचार करने पर ऐसा लगता है कि वे उस समय के महान् आचार्य होना चाहिए । उनका परिचय हमें गुप्तवंशी कह कर ही कराया गया है । यह कहना अति कठिन है कि वे गुप्त राज्यवंश के ही व्यक्ति थे अथवा इसी नाम के किसी अन्य वंश के । हमारे सामने ऐसी कोई भी साक्ष्य नहीं है कि जिससे हम इस विषय में कुछ भी कह सकते हैं । परन्तु जिनविजयजी के अनुसार,¹ यह कहा जा सकता है कि जैन साधुओं में यह एक सामान्य प्रथा थी जब किसी प्रख्यात वंश या कुल का कोई व्यक्ति साधु बनता था तो इसका उल्लेख धर्म की प्रभावना की दृष्टि से बड़ी सावधानी से अवश्य ही किया जाता था । संघ के श्रावकों के समक्ष उपदेश देते हुए जैन साधु सामान्यतया अपने गुरुओं के इतिहास की ऐसी बातें कह कर श्रोताओं के मन पर भगवान् महावीर के धर्म और अनुयायियों की महत्ता की छाप बैठाना कभी नहीं भूलते थे । इस पर से यह अनुमान यदि हम करें कि आचार्य हरिगुप्त का वंश जिसके कि विषय में तोरमाण और उसके गुरु के तीन शताब्दियों बाद होने वाले श्री उद्योतनसूरि ने उल्लेख किया है, अवश्य ही एक शक्तिशाली और सम्मान्य होना चाहिए तो वह कुछ भी अतिशयोक्तिक या ऐतिहासिक दृष्टि से अशोभन नहीं है । फिर इन हरिगुप्ताचार्य का हूण सम्राट के साथ सम्बन्ध भी इस अनुमान को समर्थन करता है । गुप्तों के राज्यकुटुम्ब को कोई व्यक्ति जैन साधु हो जाए, यह भले ही विस्मयकारी और अविश्वस्त सा लगता हो, परन्तु ऐसा मान लेने का ही कोई कारण नहीं है । फिर उन उद्योतनसूरि की प्रस्ताविक गाथाएँ यह भी सूचित करती हैं कि इन हरिगुप्त आचार्य के एक शिष्य महाकवि देवगुप्त था । इस देवगुप्त के उद्योतनसूरि ने आगे की प्रस्ताविक गाथा में गुप्तवंश का राजर्षि कहा है ।² इससे यह स्पष्ट है कि देवगुप्त गुप्त राजवंश की ही कोई व्यक्ति होना चाहिए । ये सब तथ्य ऐतिहासिक सत्य मान लिये जाएँ इससे पूर्व निःसन्देह हमें और समकालिक निश्चित साक्षियों की आवश्यकता है कि जो परिणाम का समर्थन करें । फिर भी इस प्रकार की किसी ऐतिहासिक संरचना के लिए ऐसे तथ्यों की उपयोगिता और सार्थकता से इन्कार ही नहीं किया जा सकता है ।

इस पृष्ठभूमि से जब हम यहां तक पहुंच ही गए हैं तो एक कदम आगे बढ़ कर यह भी देखें कि क्या गुप्त राज्यवंश के किसी व्यक्ति से हरिगुप्त और देवगुप्त की समानता सम्भव भी होती है ? गुप्तों के विषय में जो भी ऐतिहासिक ग्रन्थिलेख अब तक संग्रह किए जा चुके हैं, उनमें हमें हरिगुप्त का कोई नाम नहीं मिलता है । फिर भी 1894 में कनिंघम ने अहिच्छत्रा में एक ऐसा तांबे का सिक्का प्राप्त किया था कि जिसके एक ओर पीठ पर रखा

1. जिनविजयजी, वही, पृ. 183 ।

2. सो जयइ देवगुप्ता वैसे गुप्ताण रायरिसी—चतुरविजय, कुवलयमाला—कथा (जैन आत्मानन्द समा), प्रस्तावना, पृ. 6 ।

हुआ कलश या और दूसरी ओर ये शब्द: "श्री महाराजा हरिगुप्त"¹ उसके अक्षरों के आकार और घाट से और उसमें दिए नाम की तुलना से सिक्का-विज्ञानवेत्ताओं का मानना है कि यह सिक्का गुप्तवंश के किसी राजा द्वारा ही पाया गया होगा।² फिर भी इस हरिगुप्त का गुप्तवंश के किसी राजा के साथ सम्बन्ध बैठाया नहीं जा सकता है। प्राचीनलिपिशास्त्र के अनुसार ऐसा लगता है कि इस सिक्के में वर्णित हरिगुप्त विक्रम की छठी सदी के मध्य में होना चाहिए।³ इस प्रकार तिथि और स्थान जहां कि यह सिक्का पाया गया था, और इस सिक्के पर का वर्णन जैन हरिगुप्त के साथ ठीक बैठ जाता है। सिक्का पंजाब के कियी जिले से मिला है और 'हरिगुप्त' तोरमाण का समकालिक होने से वह भी विक्रम की छठी सदी के मध्य का होना चाहिए। इस प्रकार तिथि, स्थान, नाम और वंश इन सब बातों की समानता को दृष्टि में लेते हुए इस सिक्के का और जैनों का हरिगुप्त एक ही व्यक्ति माना जाए तो उसमें कोई भी भूल नहीं है।

अब देवगुप्त का विचार करें। इसके विषय में भी वैसी ही कठिनाइयां हैं फिर भी बाण के हर्षचरित से जो कि ऐतिहासिक रोमांच कथा का सर्व प्रथम प्रयास कहा जाता है⁴, हमें पता लगता है कि थागेश्वर और कन्नौज के महाराजा के ही काल में मालवा के सिंहासन पर एक राजा था जिसे हर्षवर्धन के बड़े भाई राज्यवर्धन ने हराया था क्योंकि मालवा राज कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मन कि जिसे हर्षवर्धन की मगिनि ब्याही गई थी, का वैरी घोषित कर दिया गया था।⁵ मालवा के इस राजा को डा. व्हूलर ने मधुवन शिलालेख को ही देवगुप्त ही माना है।⁶ अब प्रश्न उठता है कि क्या जैन दन्तकथा का देवगुप्त हर्षचरित में जिसे मालवा का राजा बताया गया है, वही है। इस विषय में कठिनाई केवल दोनों देवगुप्तों के समय के समन्वय की है।

तोरमाण की अनेक तिथियों में से सब ने बाद की तिथि ई. लगभग 516 की है। यदि इसे मान लिया जाए तो 75 वर्ष का रहनेवाला अन्तर केवल इसी कल्पना पर ठीक बैठाया जा सकता है कि तोरमाण की मृत्यु ई. लगभग 516 के कुछ ही बाद हुई होगी; हरिगुप्ताचार्य अपने इस कृपालुराजा की मृत्यु के बाद भी बहुत

1. देखो एलन, कंटेडेलोग आफ इण्डियन काइन्स गुप्ता डाइनेस्टीज, पृ. 152 और प्लेट 26, 16; कनिंघम, काइन्स आफ मैडोवल इण्डिया, पृ. 19, प्लेट 2, 7 चत्र 6। यहां यह भी कह देना चाहिए कि कलश, जैसा कि जिनविजयजी ठीक ही कहते हैं, जैनों का एक लोकप्रिय प्रतीक है। देखो जिनविजयजी, वही, 184।
2. देखो कनिंघम, वही, पृ. 18-19 'अक्षर 'ह' का आकार गुप्तों का विशेष प्रकार का है।' वही, पृ. 19।
3. उनकी लिपि के अनुसार हरिगुप्त के सिक्के 5वीं सदी के मालूम होते हैं। एलन, वही, पृ. 105।
4. कोव्यूल और टामस, हर्षचरित, प्रस्तावना, पृ. 8।
5. देखो वही, प्रस्ता. पृ. 11-12 '...प्रख्यात राज्यवर्धन जिसके द्वारा, युद्ध में अपना दण्ड चलाते देवगुप्त आदि राजा जो दुष्ट अश्वों के समान थे, भ्लान मुख हो, वश हो गए।' व्हूलर, एपी. इण्डि., पुस्त. 1, पृ. 74। देखो वान्येंट, वही, पृ. 52; मुकर्जी राधाकुमुद, हर्ष, पृ. 16-19, 53।
6. बाण के वर्णन की सत्यता को स्वीकार करते हुए...यह कहा जा सकता है कि देवगुप्त मालवा के राजा का नाम था। वही प्रमुख रिपु था और उसके राज्य की विजय, बाण के इस वर्णन से भी समर्थित होती है कि मण्डिन जो राज्यवर्धन के साथ गया था, मालवा की लूट हर्षवर्धन के पास उस समय लाया कि जब हर्ष कुमार मास्करवर्मन के राज्य में राजा गौड़ से प्रतिशोध लेने के अभियान में पहुंचा था। मैं यहां कह दूँ कि मालव शब्द न तो यहां और न श्री हर्षचरित में अन्य उल्लेखों में ही मध्यभारत के मालव के लिए प्रयुक्त हुआ है। पंजाब में भी एक दूसरा मालव, थानेश्वर के निकटतम था और कदाचित् वही यहां अभिप्रेत है। व्हूलर, वही, पृ. 70। देखो मुकर्जी, राधाकुमुद, वही, पृ. 25, 50 आदि।

काल जीवित रहे होंगे और देवगुप्त ने अपने गुरु के अन्तिम दिनों में ही जैनदीक्षा ली होगी। तथ्य जो भी हो, हमें इस कल्पना पर अधिक भार देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तब हम उस कालावधि के बाहर के विचार में उतर जाएंगे कि जिसका हमने अपने निबन्ध के लिए प्रतिबन्ध किया हुआ है। फिर उद्योतन सूरि की कथा के विषय में भी हम उस समय तक अधिक कुछ नहीं कह सकते हैं जब तक कि पुरातत्विक अधिक खोजें इसका कोई अन्तिम उत्तर नहीं दें। इस प्रकार का यह तथ्य कि गुप्तयुग में भी जैनधर्म एक क्रियाशील धर्म रहा था, अब तक के किए उपरोक्त विवेचन से प्रमाणित होता है। शिलालेखों के समूह से जो प्रायः समस्त या तो बौद्ध हैं या जैन और 'गुप्त राजों की' बौद्ध एवम् जैनधर्म दोनों ही धर्मों के प्रति परम सहिष्णुता नीति से भी ऐसा ही स्पष्ट होता है।¹

अब एक बात और विचारने की रह जाती है और वह यह कि ई. 5वीं सदी के अन्त में वल्लभी वंश का उद्भव कैसे हुआ? इस वंश का उद्भव डेढ़ सौ वर्ष के गुप्तों के सुवर्ण राज्य के अन्तिम समय में ही हुआ कहा जा सकता है। कुमारगुप्त 1म की मृत्यु ई. 455 में निश्चय ही हो गई थी और तभी से उस साम्राज्य का पतन भी प्रारम्भ हो गया था। कुमारगुप्त 2य के राज्यकाल में इस साम्राज्य का निश्चय ही अन्त हो गया था।²

सौराष्ट्र द्वीपकल्प की पूर्व में आई हुई वल्लभी में इस वंश की जो कि ई. 770 तक चलता रहा था, स्थापना किसी भट्टारक नाम के सरदार ने की थी जो कि "मैत्रिक नाम के विदेशी कुल का एक सदस्य था।"³ वल्लभीवंश के इस भट्टारक के चार पुत्र थे और इन चारों को ही वल्लभीवंश ने राजाओं की सूची में कप्तान विलबरफोर्स-ब्यैल एवं अन्य विद्वानों ने गिनाया है। इस सूची का चौथा राजा ध्रुवसेन 1म, इस वंश के संस्थापक का तीसरा पुत्र⁴ होना चाहिए। हम उसका विशेष रूप से उल्लेख इसलिए करते हैं कि जैन-श्वेताम्बर-संघ के आचार्य देवर्षिगण का वह समकालिक था, और ये दोनों ही उत्तर-भारत में जैनधर्म के शास्त्रों के अनभिलेखित युग के अंत होने के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त श्री स्मिथ हमें यह भी विश्वास दिलाते हैं कि "वल्लभी के पहले-पहले के राजा स्वतन्त्र सत्ताधीश रहे हों ऐसा नहीं मालूम होता है। उन्हें हूणों को निःसन्देह खिराज देनी पड़ती होगी।"⁵ इस प्रकार यह ध्रुवसेन भी हूणों का करद राजा ही होना चाहिए क्योंकि उसका राज्यकाल शापेटियर और अन्य

1. स्मिथ, वही, पृ. 318, 320।
2. वही, पृ. 346। "...गुप्तों की शक्ति और प्रतापकम होता ही गया था और राज्य एवं अधिकार से वंचित होते-होते ई. छठी सदी के अन्त तक बिलकुल ही उनका अन्त हो गया था।"—विलबरफोर्स-ब्यैल, दी हिस्ट्री ऑफ काठियावाड़, पृ. 37।
3. स्मिथ, वही, पृ. 332। "ई. लगभग 470 के, सौराष्ट्र के इतिहास में एक और परिवर्तन हुआ। इस वर्ष स्कन्दगुप्त की मृत्यु हुई, और चारणों का कहना है कि उस समयमेव वंश को भट्टारक नाम का जो व्यक्ति सेना का महासेनाधिपति था। यह व्यक्ति सौराष्ट्र में पहुंचा, और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर, उसने एक वंश स्थापित कर लिया जो कि आगे 300 वर्ष तक चलता रहा था।—विलबरफोर्स-ब्यैल वही और वही स्थान। देखो बान्नेट, वही, पृ. 49।
4. देखो विलबरफोर्स-ब्यैल, वही, पृ. 38-39; बान्नेट, वही, पृ. 49-50।
5. स्मिथ वही और वही स्थान। "यह वंश प्रारम्भ में गुप्तों का मातहत था। फिर यह हूणों का मातहत हुआ और अन्त में स्वतन्त्र हो गया।"—बान्नेट, वही, पृ. 49।

विद्वान् ई. 526 में पूरा हो जाना दिखाते हैं।¹ स्मिथ और विलबरफोर्स-ब्यैल के अनुसार भटार्क ने ई. 490 में इस वंश की स्थापना की थी।² भटार्क और ध्रुवसेन के बीच में होने वाले राजा दो माइयों ने अल्प काल तक ही राज्य किया होगा, और इस प्रकार ध्रुवसेन 1 म ई. 526 में वल्लभी की गद्दी पर आया होगा। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि वल्लभी वंश का सातवां राजा धरसेन 2 य ई. 569 में उस गद्दी पर आया था।³

वल्लभीपति ध्रुवसेन की संरक्षकता में एकत्र हुए जैन भ्रमणसंघ की चर्चा आगे के अध्याय में की जाएगी। यहाँ तो बस इतना ही कह देना पर्याप्त है कि जैनधर्म के मूल शास्त्र और अन्य साहित्य इस युग में लिख कर पुस्तकारूढ़ किए गए थे और जैन इतिहास में स्मृति परम्परा का युग तभी से समाप्त हो गया। जैन इतिहास की इस महत्वपूर्ण घटना का सम्बन्ध गुप्तवंश के साथ ही है, यह भी द्रष्टव्य है। इस समय तक जैनधर्म सारे भारत-वर्ष में बहुत कुछ फैल गया था और इस तथ्य को किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। जैन जाति का उल्लेख करते शिलालेख ई. छठी सदी और उसके बाद संख्या में बढ़ जाते हैं। गुप्त साम्राज्य के अन्त हो जाने के पश्चात् भारत वर्ष का भ्रमण करनेवाले चीनी पर्यटक ह्यूएनत्सांग ने भारत और उसकी सीमा के बाहर भी जैनधर्मको फैला हुआ देखा था।⁴ जैनधर्म के विषय में ऐसी बिखरी सूचनाओं का अनुसरण करना निःसंदेह बड़ा ही रोचक होगा, परन्तु ऐसा करना हमारे क्षेत्र के बाहर याने विषयांतर ही होगा। उद्धृत अभिलेख इस कथन का समर्थन करने के लिए पर्याप्त हैं कि महावीर निर्वाण के बाद की प्रथम पांच सदियों में बौद्ध दन्तकथा और यथार्थ ऐतिहासिक प्रमाण दोनों ही इस बात की साक्षी देते हैं कि बौद्धधर्म से बिल्कुल ही स्वतन्त्र रूप में प्रमुख धर्म रूप से देश में जैनधर्म अस्तित्व भोग रहा था। ऐतिहासिक प्रमाणों में कुछ ऐसे भी हैं कि जो इस शंका का बिल्कुल निरसन कर देते हैं कि जैनों की दन्तकथाएं स्वयम् ही झूठी ठहरती हैं।

1. ध्रुवसेन 1 म, वल्लभी का मैत्रक राजा, ई. 526-540 में राज्य करता था। —बार्नेट, वही, पृ. 50। “अब चूंकि वल्लभी का यह ध्रुवसेन 1 म ई. 526 में राजगद्दी पर बैठा कहा जाता है...।” —शार्पेटियर, उत्तराध्ययनसूत्र, प्रस्ता. पृ. 16। विद्वान् पण्डित की यह तिथि महावीर निर्वाण ई. पूर्व 467 पर और जैन शास्त्र-वाचना की तिथि वीरात् 993 पर आधारित है। वाचना की दूसरी तिथि वीरात् 980 है और इस गणना से वह ई. 514 के लगभग आती है। देखो याकोबी कल्पसूत्र, प्रस्ता. पृ. 15। फार्कहर, रिजीजसलिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ. 163। इन दोनों तिथियों में अन्तर इसलिए है कि वीरात् 980 में जैनायम निश्चित रूप में लिपिबद्ध हुए थे और वीरात् 993 में ध्रुवसेन प्रथम के आश्रम में आनन्दपुर के जैनसंघ के सामने कल्पसूत्र पहले पहल पढ़ा गया था। नवशताशीतितमवर्ष कल्पस्य पुस्तके लिखनं नवशतत्रिनवतितमवर्षे च कल्पस्य पर्षद्वाचनेति।—कल्पसूत्र, मुबोधिका-टीका, सूक्त 148, पृ. 126। वीरात् 980 और 993 की दोनों तिथियों के लिए देखो सेबुई, पुस्त. 22, पृ. 270 भी।
2. देखो स्मिथ, वही और वही स्थान; विलबरफोर्स-ब्यैल, वही, पृ. 38।
3. देखो वही, पृ. 39। “धरसेन 2 य...ई. 573-589 तक राज्य करता था।” —बार्नेट, वही, पृ. 51।
4. ह्यूएनत्सांग का दिग्म्वरों या निर्ग्रन्थों के कैपिशी में देखे जाने का उल्लेख...इस तथ्य का द्योतक है कि वे, कम से कम उत्तर-पश्चिम में तो, धर्मप्रचार भारतवर्ष की सीमा से परे करने लग गए थे। व्हूलर, इण्डियन स्वीट ग्राफ दी जैनाज, पृ. 3-4, टि. 4; बील, वही, भाग 1, पृ. 55।

सातवां अध्याय

उत्तर का जैन साहित्य

जैनों ने सदा सर्वदा साहित्य के क्षेत्र में प्रसन्न प्रवृत्ति का विकास किया है। “यह साहित्य अत्यन्त ही विस्तृत और रस से ओतप्रोत है। भारतीय और यूरोपीय ग्रन्थालय जैन हस्तप्रतियों के ऐसे भारी संग्रह से भरे हैं। जिनका अभी तक भी कोई उपयोग नहीं किया गया है।”¹ जैन ग्रन्थकार अधिकांश साधुवर्ग के ही हैं। ये साधु चौमासे के चार महीने ग्रन्थ लेखन में उपयोग करते थे जब कि उनका भ्रमण करना धर्म से निषिद्ध है और इसलिए उन्हें एक स्थान में स्थिर निवास करना होता है। ग्रन्थ-रचयिताओं में साधुओं के ही अधिकांशतः होने के कारण साहित्य में भी उनकी वृत्ति की छाया विषय और आशय दोनों में ही स्पष्ट मालूम होती है। प्रमुख बातों में वह साहित्य धार्मिक लक्षण वाला है और इस विषय में वह बौद्ध एवं ब्राह्मणीय साहित्य से मिलता हुआ है। ईश्वरवादी और दार्शनिक ग्रन्थ, सन्तों की कथाएं, धार्मिक पुस्तिकाएं, और तीर्थंकरों की स्तुति के स्त्रोत इस साहित्य के प्रमुख अंग हैं। विज्ञान, नाटक, काव्य, चम्पू और शिलालेख आदि सांसारिक विषयों के इनके ग्रन्थों में भी धार्मिक वातावरण ही गूँजता है।

जैन इतिहास के जिस काल का हम यहां विचार कर रहे हैं, उसका सम्बन्ध साहित्य लिखे जाने के पूर्व काल से ही है। देवर्षिगण एक दीपस्तम्भ के समान खड़े हैं और वे उस काल का अन्त कि जिसमें सिद्धान्त कहा जाने वाला जैनों का आगमिक साहित्य ही प्रमुखतया है, अंकित करते हैं। फिर भी जैनों के समस्त साहित्य की प्रस्तावना रूप से यहां यह कह देना उचित है कि इस अपार साहित्य में भी रचित विषय अत्यन्त विविधता के है। “सर्व प्रथम तो सिद्धान्त और उस पर लिखी गई टीकाओं का समूह है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक साहित्य भी अनेक प्रकार का है। सिद्धान्त, न्याय और दर्शन की विशिष्ट पद्धति का विकास जैनों ने किया है। फिर उनसे ब्राह्मणीय विद्वानों का भी बड़ी सफलता से विकास किया है। संस्कृत और प्राकृत दोनों ही के व्याकरण और कोश की उनसे रचना की है। यही क्यों, गुजराती को भी कुछ कोश और व्याकरण उनके रचित मिलते हैं और फारसी का एक कोश भी। काव्य, अलंकार, छन्द और नीति की दोनों शाखाएं याने राजनीति एवम् सामान्य नीति के भी अनेक जैन ग्रन्थ हैं। नीति ग्रन्थों में जीवन के कुशल निर्वाह के नियम दिए गए हैं। राजकुमारों की शिक्षा के लिए जैनों ने गजशास्त्र, शालिहोत्र, युद्ध-रथों, और धनुष शास्त्र एवम् कामशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। राजकुमारों से अतिरिक्त जनता के उपयोग के लिए उनसे मंत्र-तन्त्र और ज्योतिष, चमत्कार याने जादू, शकुन-अपशकुन और स्वप्नविचार पर ग्रन्थ लिखे हैं कि जिनका भारतीय जीवन में सदा ही महत्वपूर्ण भाग रहा है। उनके रचित वस्तुशास्त्र, संगीत, राग और वाद्य, सुवर्ण, रत्न आदि पर भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं...। संक्षेप में बहुव्यापक लोकप्रिय साहित्य के रचयिता जैन हैं।”²

1. हर्टल, आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज आफ गुजरात, पृ. 4।

2. हर्टल, वही, पृ. 5-6।

इस संक्षिप्त प्रास्ताविक कथन के बाद अब हम जैनों के पवित्र धर्मग्रन्थ याने सिद्धान्त का विचार करें कि जो उनकी मान्यतानुसार उसी युग का है जिसका कि हम यहां विचार कर रहे हैं हम पहले भी देख चुके हैं और आगे इसी अध्याय में फिर देखेंगे कि उनके साहित्यिक वारसे के विषय में जैनों की दन्तकथा का हम अविश्वास नहीं कर सकते हैं । फिर भी यहां हम मात्र सिद्धान्त ग्रन्थों की एक सूची देते हैं कि जिनका स्वीकार ब्यौर,¹ विट्टरनिट्ज,² शार्पेटियर,³ आदि ने थोड़े बहुत अंश में कर लिया है :—

1. चौदह पुन्वा या पूर्व (आज अनुपलब्ध) :

- | | |
|--|--|
| 1. उप्पाय (उत्पाद) । | 2. अग्नेरिण्य अथवा अग्गाणिय (? अग्गायणीय) ⁴ |
| 3. वीरियप्पवाय (वीर्यप्रवाद) । | 4. अत्थिनत्थियप्पवाय (अस्तित्नास्तित्प्रवाद) । |
| 5. नाराप्पवाय (ज्ञानप्रवाद) । | 6. सच्चप्पवाय (सत्यप्रवाद) । |
| 7. आयप्पवाय (आत्मप्रवाद) । | 8. कम्मप्पवाय (कर्मप्रवाद) । |
| 9. पच्चक्खाराप्पवाय (प्रत्याख्यानप्रवाद) । | 10. विज्जिणुप्पवाय (विद्यियानुप्रवाद) । |
| 11. अबंभ (अबंध) । | 12. पाणाउम (प्राणायुः) । |
| 13. किरियाविसाल (क्रियाविशाल) । | 14. लोगविदुसार (लोकविदुसार) । |

2. बारह अंग :

- | | |
|--|---|
| 1. आयार (आचार) । | 2. सूयगड (सूत्रकृत) । |
| 3. ठाण (स्थान) । | 4. समवाय |
| 5. वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति), जो सामान्यतया भगवती कहा जाता है । | |
| 6. नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथाः) । | 7. उवासगदसाओ (उपासकदशाः) । |
| 8. अंतगडदमाओ (अंतकृतदशाः) । | 9. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अणुत्तरोपपातिकदशाः) । |
| 10. पण्हावागरणाई (प्रश्नव्याकरणानि) । | 11. विवागसूयम् (विपाकसूत्रम्) । |
| 12. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद), आज उपलब्ध नहीं है । | |

3. बारह उपांग (बारह अंगों के अनुरूप) :

- | | |
|-------------------------------------|--|
| 1. उववाइय (औपपातिक) | 2. रायपसेरिण्ज (राजप्रश्नीय) । |
| 3. जीवामिगम । | 4. पन्नवरणा (प्रज्ञापना) । |
| 5. सूरियपण्णत्ति सूर्यप्रज्ञप्ति | 6. जंबूद्वीपपण्णत्ति (जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति) । |
| 7. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति) । | 8. निर्यावली । |
| 9. कप्पावदंसिआओ (कल्पावतंसिकाः) । | 10. पुष्पी आओ (पुष्पिकाः) । |
| 11. पुष्पचूलि आओ (पुष्पचूलिकाः) । | 12. वण्हिदसाओ (वृष्णिदशाः) । |

1. देखो ब्यौर, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 17, पृ. 279 आदि, 339 आदि; पुस्त. 18, पृ. 181 आदि, 369 आदि; पुस्त. 19, पृ. 62 आदि; पुस्त. 20, पृ. 170 आदि, 365 आदि; और पुस्त. 21, पृ. 14 आदि, 106 आदि, 177 आदि, 293 आदि, 327 आदि, 369 आदि ।

2. देखो विट्टरनिट्ज, गेशिष्ट डेर इण्डिशन लिटरेटूर, भाग 2, पृ. 291 आदि ।

3. देखो शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 9 आदि; बेल्वलकर, ब्रह्मसूताज आफ बादरायाण, पृ. 107 आदि ।

4. देखो शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 12 ।

4. दस पहण्ण अथवा प्रकीर्णानि :

- | | |
|-------------------------------------|-------------------------------------|
| 1. चउसरण (चतु : शरण) । | 2. आउरपच्चक्खण (आतुरप्रत्याख्यान) । |
| 3. भक्तपरिण (भक्त परिज्ञा) । | 4. संथार (संस्तर) । |
| 5. तंडुलवेयालिय (? बण्डुलवैतालिक) । | 6. चंदाविउभमा (चन्द्रवेध्यक) । |
| 7. देविदत्थव (देवेन्द्रस्तव) । | 8. गरिणविज्जा (गरिणविद्या) । |
| 9. महापच्चक्खण (महाप्रत्याख्यान) । | 10. वीरत्थव (वीरस्तव) । |

5. छह छेद सूत्र :

- | | |
|------------------------|--|
| 1. निसीह (निशीथ) । | 2. महानिसीह (महानिशीथ) । |
| 3. व्यवहार (व्यवहार) । | 4. आयारदसाओ (आचारदशाः), यादेसामुयस्कंध (दशाश्रुतस्कंध) । |
| 5. बृहत्कल्प । | 6. पंचकल्प । |

6. चार मूल सूत्र :

- | | |
|------------------------------|--|
| 1. उत्तरउभयण (उत्तराध्ययन) । | 2. आवस्सय (आवश्यक) । |
| 3. दशवेयालिय (दशवैकालिक) । | 4. पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति) । |

7. दो सूत्र :

- | | |
|------------------------------|--|
| 1. नन्दीसुत्त (नन्दीसूत्र) । | 2. अणुयोगदारसुत्त (अनुयोगद्वारसूत्र) । |
|------------------------------|--|

उपरोक्त सब सिद्धान्त ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही हैं क्योंकि दिगम्बरों ने इन्हें अस्वीकार कर दिया है। दिगम्बरों की यह दन्तकथा उस भीषण दुष्काल से सम्बन्धित है कि जो मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य काल में पड़ा था। भद्रबाहु और उनके शिष्यों के दक्षिण-प्रवास के पश्चात् जैनधर्म के पवित्र सिद्धान्त ग्रन्थों का विस्मरण द्वारा नाश होने का भय उपस्थित हो गया और स्थूलभद्र एवम् उसके शिष्यों ने एक परिषद उन साधुओं निमंत्रित की कि जो उधर ही रह गए थे। यह परिषद ई. पूर्व तीसरी सदी में मौर्य साम्राज्य की राजधानी एवम् जैनसंघ के इतिहास में प्रसिद्ध पाटलीपुत्र में एकत्रित हुई थी। जैनों की इस परिषद ने जैसा कि डा. शार्पेटियर कहता है, 'बहुत कुछ वही कार्य किया होगा कि जो बौद्धों की पहली संगीति याने परिषद ने किया था।'¹ इस परिषद ने अंगों और पूर्वों दोनों का ही पाठ स्थिर किया और यही से सिद्धान्त की प्रथम भूमिका प्रारम्भ हुई।² परन्तु दक्षिण से लौटने वाले मुनियों को सिद्धान्त के इस प्रकार स्थिर किए पाठ से सन्तोष नहीं हुआ। उनसे इस सिद्धान्त को मानने से इन्कार ही नहीं किया अपितु यह भी घोषित कर दिया कि पूर्व ज्ञान और अंग ज्ञान दोनों ही विच्छेद

1. शार्पेटियर, वही, प्रस्तावना पृ. 14।

2. 'इस प्रकार, स्थूलभद्र की दन्तकथानुसार, पहले दस पूर्व और अंगों का सिद्धान्त और अन्य शास्त्र जो कि भद्र-बाहु रचित थे जैसे कि कल्पसूत्र, स्थिर हुए।'-वही। इसलिए पाटलीपुत्र में एक परिषद बुलाई गई जिसमें ग्यारह अंग संकलित किए गए और 14 पर्वों में से बच रहे पूर्व का 12 वां अंगद्विद्विवाय नाम को संग्रहित हुआ।'-विटर्निट्ज, वही, पृ. 293। देखो फार्कहर, रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ. 75; याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्ता. पृ. 11, 15। पाटलीपुत्र की परिषदे का हेमचन्द्र के वर्णन के लिए देखो परिशिष्टपर्वत्, सर्ग 9, श्लोक 55-76, 101-103।

चला गया है।¹ दिगम्बरों की इस मान्यता का कि जो आज सिद्धान्त रूप से उपलब्ध है, वह मूल रूप से नहीं है, यही आधार है। हम आगे थोड़ी ही देर बाद देखेंगे कि उनकी यह दन्तकथा श्वेताम्बर मान्यता के कारणों के विचार दृष्टि से कुछ भी महत्व की नहीं है।

परन्तु इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व हम दूसरी परिषद का भी कि जो देवधिगण के नेतृत्व में वल्लभी में गुजरात देश को एकत्रित हुई थी। उल्लेख कर देना चाहते हैं। इस देवधिगण का जैन साहित्यक इतिहास में वैसा ही स्थान है जैसा कि बौद्ध साहित्य के इतिहास में बुद्धघोष का है। यह जैन परिषद ई. छठी सदी के प्रारम्भ में मिली थी। मगध की पहली परिषद के पश्चात् काल व्यतीत होते होते श्वेताम्बर सिद्धान्त फिर से अव्यवस्थित हो गया, यही नहीं अपितु उसके सम्पूर्णतया नष्ट हो जाने का भी पूरा पूरा भय हो गया। इसलिए जैसा कि हम पहले ही देख आए हैं, महावीर निर्वाण के पश्चात् 980 अथवा 993वें वर्ष में एक देवधिगण नाम के महान् जैनाचार्य ने जो कि क्षमाश्रमण कहलाता था, यह देख कर कि सिद्धान्तलुप्तप्रायः होता जा रहा है क्योंकि वह लिख नहीं लिया गया है, दूसरी बड़ी परिषद वल्लभी में एकत्रित की।² बारहवां अंग तो जिसमें कि चौदह पूर्वी का ज्ञान संग्रह किया गया था, उस समय तक नष्ट हो ही चुका था और इसलिए जो कुछ शेष रहा था उसी को लिख कर तब सुस्पष्ट रूप दे दिया गया। इस प्रकार देवधिगण का यह प्रयत्न कुछ प्राचीन लेखी प्रतों और कुछ स्मृति परम्परा के आधार से पवित्र धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त के संकलन और सम्पादन का ही रहा होगा।³ जैसा कि आधुनिक विद्वानों में से अधिकांश का मानना है, हमें भी यह शंका करने की आवश्यकता नहीं है कि सिद्धान्त का समस्त बाह्य रूप ध्रुवसेन के समय का ही है कि जिसकी संरक्षकता में यह महा परिषद सम्मिलित हुई थी।

अब दिगम्बर दन्तकथा का विचार हम करें कि जो कहती है कि मगध के भीषण दुष्काल के बाद ही सिद्धांत सम्पूर्णतया विस्मृत या नष्ट हो गया था। पहली बात तो यह है कि इस प्रकार का अतिव्यापक कथन किया जा सके ऐसा कोई भी आधार हमें प्राप्त नहीं है। यहां एक बात प्रारम्भ में ही कह देना अति आवश्यक है और वह यह कि दिगम्बर भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य सब पूर्वी और अंगों के ज्ञाता थे। उन्हें भी द्वादशांगी का श्वेताम्बरों की भांति ही बहुमान है।⁴ इसलिए हमें यह निश्चय करना ही

1. मगध के भीषण दुष्काल आदि के लिए देखो शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 13-15; विटनिट्ज, वही, और वही स्थान।
2. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 15। देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 293-294। याकोबी, सेबुई, पुस्त 22, प्रस्ता. पृ. 37-38। एक अन्य परम्परा के अनुसार, सिद्धान्त का प्रकाशन श्री स्कंदिलाचार्य की प्रमुखता में हुई मथुरा की परिषद में हुआ था। ब्यैवर, इण्डि. एण्टी., पुस्त 17, पृ. 282।
3. 'पूर्व सर्वसिद्धान्तानां पाठनं च मुखपाठनइ 'वा' सित।'—याकोबी कल्पसूत्र, पृ. 117। देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 294। इस परिषद के कार्य विवरण और प्रतिस्करणकारों की शैली को ठीक परिचय के लिए देखो शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 16 आदि। 'प्रत्येक गुरु के अथवा कम से कम प्रत्येक उपाश्रय के लिए पवित्र धर्मग्रंथों की प्रतियां उपलब्ध करने को देवधिगण ने सिद्धान्त का बहुत बड़ा संस्करण याने अनेक प्रतियां तैयार कराई होंगी।'—याकोबी, सेबुई, पुस्त. 22, प्रस्ता. पृ. 38।
4. देखो बूलर, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 7 पृ. 29। 'फिर भी हमें श्वेताम्बरों एवम् दिगम्बरों दोनों ही द्वारा कहा जाता है कि अंगों के अतिरिक्त पूर्व कहे जाने वाले अन्य और सम्भवतया प्राचीन भी, ग्रन्थ थे जिनकी मूलतः संख्या चौदह थी।'—याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 44।

शेष रह जाता है कि मूल सिद्धांत सर्वथा ही विलुप्त या नष्ट नहीं हो गया था। प्राचीन लिपिक साक्षी जो कि इस सम्बन्ध में प्रस्तुत की जा सकती है, वह मथुरा के शिलालेखों की है। जैसा कि हम देख आए हैं, उन अभिलेखों में जो अनेक शाखाओं और कुलों का निर्देश किया गया है, उनकी अभिन्नता उन शास्त्रों के उल्लेखों से बराबर प्रमाणित होती है कि जिन्हें 'दिगम्बर परवर्ती और मूल्यहीन घोषित करते हैं हालांकि उनका कुछ अंश में उपयोग करते भी वे मालूम होते हैं।' फिर महावीर सम्बन्धी दन्तकथा भी मथुरा-शिल्प में जैसी कि श्वेताम्बर शास्त्रों में उल्लिखित पाई जाती है, वैसी ही अंकित मिलती है। जैन साधुओं को वाचक² याने पाठक या उपदेशक के विरुद्ध सहित उल्लेख किया गया है। डा. विटनिट्ज के अनुसार यह शेषोक्त तथ्य इस बात की साक्षी प्राचीनलिपिक देता है कि जैनों के पवित्र धर्म शास्त्र ईसवी युग को प्रारम्भ तक तो अवश्य ही विद्यमान थे।³ फिर जैसा कि पहले कहा जा चुका है जैन साधु अपवाद रूप से नग्न भी रह सकते हैं ऐसा श्वेताम्बरों के ग्रन्थों में भी कहा गया है। ये सब बातें प्रमाणित करती हैं कि मूल पाठ में मनमाना फेरफार करने का जरा भी साहस किसी ने भी नहीं किया था अपितु उन्हें जहां तक सम्भव हुआ वहां तक सत्य रूप में ही दिया गया था। अन्त में जैन दन्तकथा की प्रामाणिकता की सब से बड़ी साक्षी यह है कि अनेक उपयोगी विवरणों में वह बौद्ध दन्तकथा से एकदम ही मिलती हुई है।

अनेक विद्वानों के अभिप्रायानुसार सिद्धान्त के महत्वपूर्ण अंशों में ग्रीक खगोल के विचारों का उल्लेख नहीं होना भी इसका पुष्ट प्रमाण है कि ये सिद्धान्त ग्रंथ अधिक नहीं तो कम से कम ईसवी सन् की पहली शती से तो अपरिवर्तित और अबाधित रहना ही चाहिए। 'उनके छंदों (Terminus a quo) पर से याकोबी जैसे सूक्ष्म परीक्षक और भारतीय छन्दशास्त्र को निष्णात भी जैसे ही लगते ये सिद्धान्त ग्रन्थ प्रारम्भस्थल हैं क्योंकि सामान्यतः इन सिद्धान्त ग्रन्थों में व्यवहृत सभी छन्द चाहे वह बैतालिय, त्रिष्टुम और आर्या कोई भी हो, पाली सिद्धान्त ग्रन्थों के छन्दों की अपेक्षा स्पष्ट ही अधिक विकसित हैं यही नहीं अपितु ये सिद्धान्त ग्रंथ ललितविस्तार एवम् अन्य उत्तरीय बौद्ध ग्रंथों में प्रयुक्त से अपेक्षाकृत स्पष्टतः प्राचीन हैं। इस अति प्रखर साक्षी से याकोबी इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सिद्धान्त का प्रमुख और महत्व का प्राचीन भाग ईसवी पहली शती और त्रिपिटक काल के मध्य का याने ई. पूर्व 300 से लेकर ई. 200 की अवधि में रचा हुआ होना ही चाहिए और मैं भी इस निष्कर्ष को बिलकुल न्याययुक्त ही मानता हूँ।'⁵

इसके अतिरिक्त सारे सिद्धान्त ग्रंथों में छुटेछवाए अनेक वाक्य हैं कि जो जैन सिद्धान्त का समय निश्चित करने में परम सहायक होने जैसे हैं। इन सब वाक्यों को उद्धृत करना यहां आवश्यक नहीं है, फिर भी यहां एक

1. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 11। देखो ब्रूलर, वही और वही स्थान।
2. वाचकस्य अर्थाबलदिनस्य...।—ब्रूलर, एपी. इण्डि., पुस्त. 1, लेख सं. 3 पृ. 382। देखो वही लेख सं. 4, 7, आदि, पृ. 383-386। 3. देखो विटनिट्ज, वही और वही स्थान।
4. देखो शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 25। 'परन्तु अधिक वजनदार तर्क यह है कि सिद्धान्त में हमें ग्रीक ज्योतिष का कुछ भी प्रभाव या चिन्ह नहीं दीखता है। सत्य तो यह है कि जैन ज्योतिष एक अविश्वासनीय असम्भवता की पद्धति है। यदि जैन ज्योतिष के लेखक को ग्रीक ज्योतिष का जरा भी ज्ञान होता तो वैसी असम्भव बातें लिखी ही नहीं जा सकती थी। चूंकि ग्रीक ज्योतिष का भारत में प्रवेश तीसरी या चौथी, सदी ईसवी में हुआ लगता है, इससे ऐसा अनुमान होता है कि जैनों के आगम ग्रन्थ उस काल से पूर्व के ही रचित हैं।'—याकोबी, वही, प्रस्तावना, पृ. 40।
5. शार्पेटियर, वही, प्रस्तावना, पृ. 25-26; याकोबी, वही, प्रस्तावना पृ. 41 आदि।

वाक्य उद्धृत करना उचित है क्योंकि सिद्धान्त-रचना काल के प्रश्न पर वह अचञ्छा प्रकाश डालता है। डा. शार्पेटियर के शब्दों में वह इस प्रकार है : 'दूसरे उपांग रायपसेणइज्ज में जिसका दीर्घनिकाय के पायासीसूत से निकट सम्बन्ध देखकर, प्रो. लायमन ने दीर्घ विचार किया था, एक स्थान पर कहा गया है कि किसी ब्राह्मण ने अमुक अपराध किया हो तो उसे डाम दिया जाता था—याने सुनख (कुत्ते), या कुण्डिय का आकार उसके भाल पर डाम दिया जाता था। यह वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र¹ में दिए वर्णन के ही अनुरूप है जिसमें लिखा है कि चार चिन्ह इसके लिए प्रयोग किए जाएं—याने चोरी के लिए कुत्ते का, गुरुतल्पे (गुरू-पतिन के साथ पापाचरण) के लिए भग का, मनुष्य की हत्या के लिए कबंध का, और सुरापान के लिए मद्यध्वज का चिन्ह डाम दिया जाए। परन्तु यह दण्ड-विधान मनु एवम् परवर्ती स्मृतियों में नहीं है यही नहीं अपितु इनमें ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड से भी ऊपर माना गया है। ब्राह्मणों के शारीरिक दण्ड देने की प्रथा कौटिल्य के बाद ही बन्द हो गई होगी परन्तु जैन ग्रन्थों में ऐसे दण्ड का उल्लेख होने से यही अनुमान निकलता है कि अन्य धर्मशास्त्रों की अपेक्षा ये जैन ग्रंथ पहले के और कौटिल्य के समीपवर्ती काल के होना चाहिए।'²

इन सब बातों को देखते हुए एक बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि श्वेताम्बरों के अभी के सिद्धान्त ग्रंथ के बाद के नहीं है यही नहीं अपितु कितने ही स्थानों पर उनमें घट-बढ़ हुई होने पर भी मूल ग्रंथों या पाठों पर ही वे रचित हैं। इन मूल पाठों की रचना समयक्रम से कब-कब हुई, यह प्रश्न रोचक होते हुए भी बड़ा उलझन मरा है। फिर भी इस बात में कोई भूल नहीं दीखती है कि इनका निश्चित रूप पाटलीपुत्र की परिषद में स्थिर किया हुआ ही होना चाहिए, यही नहीं अपितु कितनी ही विशिष्ट बातों में जो पाठ उसमें भी प्राचीन काल के होना चाहिए।³ अब हम संक्षेप में सिद्धान्त-ग्रंथों के विषयों पर विहंगम प्रत्येक की आवश्यक बातों की चर्चा करते हुए उनका मारांश देने का यहाँ प्रयत्न करेंगे।

क्रमानुसार प्रथम स्थान चौदह पूर्वों का है। ये ही सिद्धान्त के प्राचीनतम विभाग हैं और श्वेताम्बर भी दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग के साथ-साथ ही सम्पूर्णतया विच्छेद जाना इनका मानते हैं। ये सर्वोत्तम प्राचीन सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप में स्थायी नहीं रह सके तो इनका संकलन दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग में किया गया था। परन्तु फिर भी इनका ज्ञान स्थायी नहीं रखा जा सका और दृष्टिवाद का बारहवाँ अंग भी विलुप्त हो गया। पहले कहा ही जा चुका है कि पूर्वों का उपदेश महावीर ने स्वयम् दिया था, परन्तु अंगों की रचना उनके गणधर शिष्यों द्वारा हुई थी। डा. शार्पेटियर कहता है कि 'यह दन्तकथा पौराणिक तीर्थंकर ऋषमदेव द्वारा सिद्धान्त के रचे जाने की बात की उपेक्षा कर देती है और सिद्धान्त के मूल का महावीर द्वारा ही रचा जाना कहना निश्चय ही उचित है। तथ्यों के सामान्य वर्णन की दृष्टि से यह कथन कि सिद्धान्त का प्रमुख अंग महावीर और उनके निकटतम उत्तराधिकारियों से उद्भूत है, विश्वस्त ही लगता है।'⁴

पूर्वों के पश्चात् अंगों का नम्बर या स्थान आता है। प्रत्येक अंग में कुछ औपचारिक विशिष्टता देखी जाती है कि जिमसे किसी किसी का पारस्परिक निकटतम सम्बन्ध प्रमाणित होता है। बारह अंगों में से पहला, आयारांग

1. शामशास्त्री, कौटिल्याज अर्थशास्त्र, पृ. 250; उदयवीर, कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि. 4, अध्या. 8, पृ. 136।
2. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 31।
3. 'मुझे यह नहीं लगता है कि प्रमुख पवित्र धर्मग्रन्थ आज के रूप में, पाटलीपुत्र की परिषद में निर्धारित पाठों के ही अनुरूप हैं।'—वही। देखो याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 9, 43।
4. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 11-12।

या आचारांगसूत्र का विचार करने पर हमें पता लगता है कि यह गद्य और पद्य दोनों में ही रचित उपलब्ध सिद्धान्त ग्रन्थों में प्राचीनतम है ।¹ इसमें जैन साधु के आचार का वर्णन है । इसके दो विभाग याने श्रुतस्कन्ध हैं जो शैली में और विषय-विवेचना की रीति में परस्पर भिन्न-भिन्न हैं । इन दो श्रुतस्कन्धों में का पहला श्रुतस्कन्ध वर्तमान धर्मग्रन्थों में अत्यन्त प्राचीन नहीं तो प्राचीनों में से एक होने की छाप बैठाता है । सूत्रकृतांग एवम् अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों की ही भांति इस आचारांग में भी हम देखते हैं कि इसके बड़े अनुच्छेद की समाप्ति 'ति बेमि' अर्थात् 'इति ब्रवीमि' में होती है और टीकाकारों के अनुसार महावीर के गणधर शिष्य, सुधर्मा ही ने इस प्रकार कहने का ढंग अपनाया था । गद्य भाग का प्रारम्भ इस प्रकार होता है : 'सूयम् मे प्राउसं, तेणं भगवया एवं अब्खायं' अर्थात् हे आयुष्मन्, मैंने सुना है । इस प्रकार उस महासंत ने कहा है ।² इस शैली में, महावीर के वाक्यों या कथन का मौखिक अनुवाद सुधर्मा ने अपने शिष्य जम्बू को सम्बोधन करते हुए किया है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आचारांगसूत्र में प्रमुखतया चार अनुयोगों में से एक ही का विवेचन है कि जिनमें पवित्र ज्ञान विभाजित कर दिया गया है याने धर्मकथा, गणित (काल), द्रव्य और चरणवरण ।³ उसके उपदेशों में समभावी और निष्पक्ष गुरु की वाणी और उसकी गम्भीर चेतावनी, आध्यात्मिक अथवा अन्य, का समिश्रण है । भली प्रकार समझने के लिए इस सूत्र का एक अंश ही यहां उद्धृत कर देना समीचीन है :—

'भूत, वर्तमान और भविष्य के अर्हत् और भगवंत सब यही कहते हैं, बोलते हैं, बताते हैं, समझाते हैं कि श्वासोश्वास लेते, अस्तित्व रखते, जीवन बिताते चैतन्ययुक्त सभी प्राणियों को मारना नहीं चाहिए, उनके साथ हिंसक रीति से बरतना नहीं चाहिए, उन्हें गाली नहीं देना चाहिए, पीड़ा नहीं देना चाहिए तथा उनको धुत्कार हकाल नहीं देना चाहिए ।'

'यह शुद्ध, अप्रतिम और शाश्वत नियम संसार का स्वरूप जानने वाले ज्ञानी पुरुषों ने प्ररूपित किया है । यह नियम ग्रहण करके किसी को उसे छुपाना नहीं चाहिए और न उसे छोड़ ही देना चाहिए । सत्य रूप में इस नियम का स्वरूप समझने वाले को इन्द्रियों के विषयों के प्रति उदासीन भाव पोषण करना चाहिए और 'सांसारिक हेतु से कुछ भी नहीं करना चाहिए...'; जो सांसारिक सुख में लुब्ध बनते हैं वे बारम्बार जन्म-मरण करते हैं ।' बढ़ता से अप्रमादी रह कर रात दिन तू प्रयत्न करता रहे; निरन्तर अपनी बुद्धि को समतोल रखते हुए इतना देखता रहे कि मोक्ष प्रमादी से दूर रहता है; यदि तू प्रमाद रहित बन जाएगा तो तू जीत जाएगा । ऐसा मैं कहता हूँ ।'⁴

दूसरा अंग सूयगडांग या सूत्रकृतांग काव्य में दार्शनिक चर्चा करता है और अन्त में क्रियावाद, अक्रियावाद, वैनेयिकवाद और अज्ञानवाद के तर्कों का प्रत्युत्तर देता है ।⁵ इस सूत्र का हेतु बाल-साधुओं को नास्तिक सिद्धान्त

1. देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 296; बेल्बलकर, वही, पृ. 108; व्यैवर, वही, पृ. 342 । 'मेरी सम्मति में आचारांगसूत्र और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध दोनों ही सिद्धान्त के प्राचीनतम अंश माने जाना चाहिए ।—याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 41 ।
2. देखो व्यैवर, वही, पृ. 340; याकोबी, वही, पृ. 1, 3; वैद्य, पी. एल., सूयगडांग, पृ. 65, 80 ।
3. अनुयोग: चत्वारि द्वाराणि-चरणधर्मकालद्रव्यारख्यानि...सक्खिअज्जेहि । जुगमासज्ज विभत्तो अणुयोगो तो कअो चउहा ॥—आवश्यकसूत्र, पृ. 296 ।
4. याकोबी, वही, पृ. 36-37 ।
5. देखो वैद्य, पी. एल., वही, पृ. 3-11 ।

में रहे मय एवं लालच से सावधान करते हुए उससे बचकर अपने सिद्धान्त में दृढ़ कर उसे मोक्ष की ओर खींच ले जाने का ही है। पहले अंग की ही भांति यह भी दो श्रुतस्कन्धों में है। याकोबी तथा अन्य विद्वानों के अनुसार सिद्धान्त के प्राचीनतम अंशों में इसका प्रथम स्थान है।¹ जैसा कि हम बौद्ध साहित्य में देखते हैं, यहां भी गद्य और पद्य दोनों ही मिले हुए हैं और यंत्र तंत्र रोचक उपमा के अनेक दृष्टांत दिए हैं। उदाहरण स्वरूप एक उपमा दृष्टांत देखिए : 'जैसे (हिंसु जन्तु) बाजपक्षी (ढंक) उन फड़फड़ाते पक्षी-शावकों को कि जिनके पंख अभी पूर्ण विकसित नहीं हुए हैं, उठा कर ले जाते हैं... वैसे ही सिद्धान्त विहीन मनुष्य उन बालजीवों को कि जिनने धर्म का गहन विचार नहीं किया है, ललचा कर खींच ले जाते हैं।'²

सूत्रकृतांग का प्रारम्भ बुद्ध और अन्य अज्ञेय धर्माचार्यों के जो महावीर के प्रमुख सिद्धान्त का विरोध करते थे, सिद्धान्तों के निरसन से हुआ है। फिर भी, जैसा कि विटर्निट्ज कहता है, इस सूत्र से कर्म और संसार के विषय में जो कुछ हमें प्राप्त होता है, वह अज्ञेय मतों के सिद्धान्तों से अधिक भिन्न नहीं है। ऐसा दार्शनिक लक्ष्य जिसका एक उदाहरण नीचे दिया है, बौद्ध शास्त्रों में भी पाया जाता है :

'मात्र में दुःख पाता हूं, ऐसा ही नहीं है। संसार के सभी प्राणी दुःख अनुभव करते हैं। चतुर पुरुष को ऐसा विचार करना चाहिए और जो कुछ भी दुःख आ पड़े; उसे अविकारी शांति से भोगना चाहिए।'³

साधू-जीवन के मार्ग में आने वाले अनेक कष्टों और प्रलोभनों का इसमें सूक्ष्म विचार किया गया है और प्रत्येक स्थान पर बाल-साधू को बढ़ता से उन पर विषय पाने का उपदेश दिया गया है। उसे स्त्रियों के प्रलोभन से सचेत रहने की विशिष्टता से प्रेरणा की गई है। हम बहुधा देखते हैं कि इस प्रकार की चिंतनी ऐसी यथार्थ रसिकता में पगी होती है कि सारा वातावरण घरेलू और यथार्थवादी हो जाता है। उदाहरणार्थ देखिए : 'जब उनने (स्त्रियों ने) उसे बशीभूत कर लिया है तो उसको फिर वे अनेक प्रकार के कार्यों के लिए भेजती रहती हैं जैसे कि, तूंबी को उत्कीर्ण (पर खुदाई) करने के लिए सूची खोज कर लाओ, कुछ अच्छे फल लाओ। शाकादि पाचन के लिए ईंधन लाओ; मेरे पगों में महावर लगाओ, मेरी पीठ खुजलाओ, ...। मुझे मेरी सुरमादानी, काजल की डिबिया, गहनों का पिटारा, बांसुरी ला कर दो, ...चिऊंटी, कंघा, और चोटी बांधने के लच्छे आदि ला कर दो; दर्पण ला कर दो या सामने लिए खड़े रहो, दन्तून पास ला कर धरो।'⁴

प्राये के दो अंग याने स्थानांग और समवायांग का हम एक साथ ही विचार करेंगे। बौद्धों के अंगुत्तरनिकाय की भांति ही, जैनागमिक साहित्य के इन दोनों ग्रन्थों में संख्या क्रम से धार्मिक महत्त्व की अनेक बातों की चर्चा की गई है। स्थानांग में संख्या 1 से 10 और समवायांग में 1 से 100 तक ही नहीं अपितु 10,00,000 तक की संख्या के विषयों का विवेचन हुआ है।⁵ इन दोनों के विषयों की सूची का विचार करने पर हम देखते हैं कि स्थानांग में हमें नष्ट बारहवें अंग दिट्ठिवाय की विषय-सूची, सात निन्दव याने संघ में मतभेद उत्पन्न करने वालों के नाम, स्थान और विषय की जानकारी प्राप्त होती है।⁶ समवायांग में, पक्षान्तर में, बारह अंगों के विषयों

1. देखो याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 41; विटर्निट्ज, वही, पृ. 297।
2. देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45, पृ. 324।
3. देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त. 45 पृ. 251। 4. वही, पृ. 226, 277।
5. विटर्निट्ज, वही, पृ. 300; वेल्बलकर, वही और वही स्थान।
6. देखो विटर्निट्ज, वही और वही स्थान; ब्यैवर, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 18, पृ. 370।

का ठीक-ठीक वर्णन जहाँ किया गया है, वहाँ सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातें, पौराणिक भक्तों और जैन इतिहास का भी विवेचन है।¹ सिद्धान्त को और अन्य अग्रणीत कल्पनाओं को यथार्थ रूप में समझने का संपूर्ण अण्डार या विश्वकोश इन दोनों अंगों में है।

जैनों का पांचवां अंग भगवतीसूत्र है। यह जैन सिद्धान्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण और मौलिक ग्रन्थ है। जैन इतिहास की दृष्टि से भी इसका स्थान अद्वितीय है। पार्श्व और महावीर काल के एवं उनके समकालिकों सम्बन्धी अपने पूर्व ग्रन्थों में हमने इस अंग का एक से अधिक बार उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इसमें जैन मान्यताओं की अनेक उल्लेखों का स्पष्टीकरण भी है जो कहीं उपदेश रूप से तो कहीं दन्तकथा के संवाद (ऐतिहासिक संवाद) रूप से दिया गया है। इसकी दन्तकथाओं में सबसे प्रमुख वे हैं जो कि महावीर के समकालिकों और पूर्व-गामियों के, पार्श्व के अनुयायियों के, जामाली और गोशाल के सम्प्रदायों के, विषय में हैं। गोशाल पर तो भगवती का पन्द्रहवां शतक समूचा ही है।² 'इन सब दन्तकथाओं से,' ब्यैवर कहता है कि 'हमारे पर ऐसी छाप पड़ती है कि ये सब दन्तकथाएं परम्परा से सरल भाव में चलती आ रही हैं। इसीलिए, बहुत सम्भव है कि, वे महावीर के जीवन काल की अनेक प्रमुख घटनाओं की (विशेषतः उनकी कि जो बौद्ध दन्तकथाओं के अनुरूप हैं) अति महत्व की साक्षी प्रस्तुत करती है।'³

सिद्धान्त के छोटे अंगग्रन्थ नायाधम्मकहाओं में हमें जैनों के वर्णनात्मक साहित्यिक का दिग्दर्शन होता है। यह कहानियों या उपमेय दृष्टान्तों का संग्रह ग्रन्थ है जो नैतिक उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से रचित हैं, और जैसा कि समस्त भारतीय वर्णनात्मक साहित्य में देखा जाता है, जैनों का यह कथा साहित्य उपदेशात्मक ही है। अपने धर्मोपदेश के प्रारम्भ में प्रत्येक जैन धर्मोपदेशक साधू सामान्यतया कुछ गद्य में अथवा पद्यों में, अपनी धर्मदेशना का विषय कहता है और फिर उसके निरूपण में एक लम्बी रोचक कथा कह सुनाता है ताकि उसके अनुयायी वर्ग में महावीर के सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो क्योंकि यही उपदेश की प्रभावकता का अमोघ साधन है।

हर्टल के अनुसार जैनों की ऐसी धर्मदेशना का साहित्यिक रूप बौद्ध जातकों से मिलता हुआ ही नहीं है, अपितु उससे कहीं बड़ा-चढ़ा भी है।⁴ पौर्वत्य विद्याविद् का कहना है कि 'भारतीय इस कला की लाक्षणिक

1. देखो विटनिट्ज, वही और वही स्थान; ब्यैवर, वही, पृ. 377। 'बारह अंगों के ब्यौरे सहित विवेचन के साथ यहाँ भी, जैसा कि नन्दी में है, दुवालसंगम गरिणपिडंग समस्त पर एक पाठ दिया हुआ है। इस पाठ में उन सब आक्षेपों का कि जो भूतकाल में उस पर किए गए थे, जो वर्तमान में किए जा रहे हैं और जो भविष्य में किए जाएंगे, विचार संक्षेप में किया गया है और इसी भांति संक्षेप में इन्हीं तीनों कालों में जो इसे श्रद्धा सहित मौनसंमति प्राप्त होने वाली है उसका भी विचार किया गया है और अन्त में इसकी शाश्वता की निश्चित घोषणा की गई है : न कयाइ न आसि, न कयाइ ना 'त्तिथ, न कयाइ भविस्सति।'—वही; डम पर ब्यैवर नीचे लिखी टिप्पणी करता है : 'अभयदेवसूरि के अनुसार जामाली, गोष्ठाामाहिल, आदि आदि का विरोध—याने सात निन्हवों का'—वही, टिप्पण 65।
2. देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 300-301। 'जिन दन्तकथाओं का यहाँ संकेत किया गया है, वे ही हमारा खास ध्यान आकर्षित करती हैं कि जिनमें महावीर के समकालिक अथवा पुरोगामियों का, उनके भिन्न मती विरोधियों के विचारों का... और उनके धर्म-परिवर्तन का विचार किया गया है।'—ब्यैवर, इण्डि. एण्टी, पुस्त. 19, पृ. 64।
3. वही, पृ. 65।
4. हर्टल, वही, पृ. 7।

जैनों का वर्णनात्मक कथाएं हैं। कथा कहने की जैनों की रीति बौद्धों की कथा कहने की रीति से कुछ अति आवश्यक बातों में विभिन्न है। उनकी मूल कथा भूतकाल की नहीं अपितु वर्तमान काल की होती है; वे अपने सिद्धांत की बातों की शिक्षा प्रत्यक्ष रूप में नहीं देते; और उनकी कहानियों में भावी जिन या तीर्थंकर को पात्र रूप में प्रस्तुत करने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती है।¹

जैनों के ये वृत्तांत अधिकांश में उपमेय वार्ता के रूप में हैं। सामान्यतः मुख्य वार्ता की अपेक्षा उसके उपमेय पर ही खूब भार दिया जाता है। विवेच्य आगम के प्रथम स्कन्ध में एक वार्ता ऐसी ही है जो इस प्रकार है : एक सेठ की चार पुत्र-वधुएं हैं। इनकी परीक्षा लेने के लिए सेठ प्रत्येक को पांच दाने शालि याने धान के देता है और उन्हें उस समय तक सुरक्षित रखने को कहता है जब तक कि वह उन्हें लौटाने का आदेश नहीं दे। इसके अन्तर इन पुत्र वधुओं में से एक यह विचारती हुई उन पांच दानों को फेंक देती है कि भण्डार में धान ही धान भरा हुआ है। जब सेठ मांगेंगे मैं उन्हें दूसरे दाने भण्डार में से लेकर लौटा दूंगी। 'दूसरी भी इसी प्रकार सोचती हुई वे पांच दाने खा जाती है। तीसरी उन्हें अपने आभूषणों के डिब्बे में सावधानी से रख देती है। परंतु चौथी उन्हें बो देती है और उनसे अच्छी फसल बार-बार उठती है यहाँ तक कि पांच वर्षों में इस फसल से धान के भण्डार भर जाते हैं। जब सेठ अन्त में अपने दिए दाने लौटाने की आज्ञा देता है तो वह पहली दो पुत्र-वधुओं की निंदा करते हुए उन्हें गृहस्थी के निकृष्टतम कार्य करने का भार सौंपता है, तीसरी को गृहस्थी की समस्त सम्पत्ति की रक्षा का आदेश देता है और चौथी को सारी गृहस्थी का प्रबंध सौंप देता है और उसे गृह स्वामिनी बना देता है। इस सामान्य कथा का उपनय यह है कि साधुओं की भी पुत्र-वधुओं की सी चार जातियां होती हैं। कुछ तो अंगीकार किए पंच महाव्रतों की परिपालना की जरा भी चिंता नहीं करते, कुछ उनकी उपेक्षा करते हैं, परन्तु अच्छे साधू वे हैं जो सतर्कता से पंच महाव्रतों को पालते हैं और उत्कृष्टतम वे हैं जो न केवल स्वयम् पालते ही हैं अपितु उन्हें पालने वाले अनुयायियों को भी खोजते हैं।²

सातवां, आठवां और नवां अंग भी बहुतांश में वर्णनात्मक विषयों के ही हैं। इनमें से सातवें याने उवास-गदसाओ में दस धनाद्य और सुशील श्रावकों की कथाएं हैं कि जो गृहस्थ होने पर भी तपस्या द्वारा अन्त में उस उच्च दशा को पहुंच जाते हैं कि जहाँ श्रावक रहते हुए भी उनमें चमत्कारिक शक्तियां प्रगट हो जाती हैं। अन्त में वे यथार्थ जैन साधू की ही भांति संलेखना व्रत में दिवंगत होते हैं और मर कर तपस्वियों के उपयुक्त देवलोक या स्वर्ग में जाते हैं।³ इनमें से अत्यन्त रोचक कथा धनी कुम्हार सद्दालपुत्र की है कि जो कभी आजीविकों का सेवक याने अनुयायी था और जिसे महावीर ने अपने सिद्धांत का श्रद्धान विश्वास पूर्वक⁴ कराया था। इसी प्रकार आठवें और नवें अंग में उन धर्मात्माओं की दन्तकथाएं हैं कि जिनने अपने सांसारिक जीवन को समाप्त कर या तो मोक्ष या उच्चतम स्वर्ग प्राप्त किया था।⁵

अब हम दसवें और ग्यारहवें अंग का विचार करेंगे जो क्रमशः प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र है। दसवां अंग दन्तकथाओं का नहीं अपितु सैद्धांतिक बातों का है। परन्तु ग्यारहवां तो दन्तकथाओं ही का है। दसवें में

1. वही, पृ. 8 ।
2. देखो ज्ञाना, सूत्र, 63 । पृ. 115-120 ।
3. देखो हरनोली, उवासगदसाओ, भाग 1, पृ. 1-44, आदि ।
4. देखो हरनोली, वही, भाग 1, पृ. 105-140 ।
5. देखो वान्येद, दी अन्तगदसाओ एण्ड अनुत्तरोववाइयदसाओष पृ. 15-16, 110 आदि ।

दस प्रकार के धर्म की चर्चा है। इसके दो विभाग किए गए हैं। एक में अधर्मों की विवेचना की गई है और दूसरे में धर्मों की। अधर्म याने जिनसे परहेज करना चाहिए जो कि पांच हैं याने हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-आसक्ति। इन पांचों के उलट याने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच धर्म हैं जिनका आचरण करना चाहिए।¹ पश्चान्तर में विपाकसूत्र नामक ग्रन्थमें अंग में पुण्य और पाप कार्यों के फलों की दन्तकथाएँ हैं कि जो डा. विटनिट्ज के अनुसार अबदानशतक और कर्मशतक² नामक बौद्ध धर्मकथाओं जैसी ही है।

बारहवाँ अंग आज हस्थि में नहीं है। चौदह पूर्वों का कि जो अंग साहित्य से पृथक् स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व में नहीं रहे थे, समावेश इस बारहवें अंग में किया गया था, परन्तु दुर्भाग्य से वह भी विच्छेद हो गया।³ बारहवें अंग दृष्टिवाद के विच्छेद हो जाने के विषय में एक प्रश्न विचारणीय है और वह महत्व का भी है। प्रख्यात योरोपीय जैनविद्याविद् कहते हैं कि जैन स्वयम् ही कोई विश्वासनीय कारण इस बात का नहीं देते हैं कि उनका यह प्राचीनतम और अत्यन्त पूज्य धर्मज्ञान कैसे नष्ट हो गया। अतः इस सम्बन्ध में उनसे अनेक मत प्रकट किए हैं क्योंकि उन्हें यह एक अति अद्भुत बात दीखती है। हम यहां कुछ ही विद्वानों के मतों का दिग्दर्शन कराते हैं। व्यैबर कहता है कि सिद्धान्त के मूल तत्वों के अनुरूप नहीं होने से ही दृष्टिवाद की जैनों ने इरादापूर्वक उपेक्षा की ऐसा लगता है⁴ डा. याकोबी कहता है कि दृष्टिवाद इसलिए अव्यवहृत और लुप्त हो गया कि उसमें महावीर और उनके विरोधियों के प्रवादों का ही वर्णन था और इनमें रस घटते घटते ऐसी स्थिति उपस्थित हो गई कि स्वयम् जैनों को ही वे एकदम ग्रबूझ हो गए।⁵ अन्तिम मत हम डा. लायमन का देते हैं जो इसके विच्छेद जाने एक दम अनोखा ही कारण कल्पना करते हैं। वे कहते हैं कि इसमें मन्त्र, तन्त्र, इन्द्रजाल फलित ज्योतिष आदि विद्याओं के अनेक पाठ होना चाहिए और उसके विच्छेद जाने का भी यथार्थ कारण यही होना चाहिए।⁶

जैनों के बारहवें अंग के नष्ट हो जाने के उपरोक्त अनेक कारणों में जो एक सामान्य कमी मालूम पड़ती है वह यह है कि दृष्टिवाद स्वयम् जैनों की उपेक्षा ही से नष्ट हुआ। दृष्टिवाद याने ('पूर्व जो कि बहुतांश में वही है।'⁷) यह बात सुनने में कुछ अद्भुत भी लगती है और विशेषकर इसलिए कि वह जैनों की दन्तकथा से जरा भी मेल नहीं खाती है, क्योंकि जैनों की यह स्पष्ट मान्यता है कि पूर्वों का विच्छेद शनैः शनैः ही हुआ था और उनका

1. देखो व्यैबर. इण्डि. एण्टी., पुस्त 20, पृ. 23।

2. देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 306।

3. बारहवें अंग के तीसरे विभाग में चौदह पूर्वों का समावेश किया गया था। देखो व्यैबर, वही, पृ. 174।

4. देखो व्यैबर, वही, पुस्त 17, पृ. 286।

5. देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त 22, पृ. 45, आदि।

6. '...des Ditthivay einenganzanaloge tantra-artige Texpartie gatanden hat, sendern lasst damit zugleich aucherrathem. warrumder. Ditthivay veloran geganzten isto.' Leumann 'Beziehungen der Jaina-literatur Zu Andern literatur-kreisen Indians.' Actesdu Congress a Leide, 1883, P. 559.

7. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 22-23। 'दन्तकथा निःसंदेह पूर्वों का दिट्ठीवाय के अनुरूप ही मानती है, व्यैबर, इण्डि. एण्टी., पुस्त 20, पृ. 170।

सम्पूर्णतया नाश तो महावीर निर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् ही हुआ याने सिद्धान्त ग्रन्थों के अन्तिम प्रतिसंस्करण के ही समय। चाहे जिस अंश में हम जैनों की इस दन्तकथा को स्वीकार करें, फिर भी डा. शार्पेटियर के अनुसार हम भी यही कहेंगे कि 'जैनों का यह कथन सारा का सारा ही एक दम उपेक्षित और अवमानित किए जाने योग्य तो नहीं ही है।'¹

अब सिद्धान्त के दूसरे विभाग उपांगों का हम विचार करें। पहली बात तो यह है कि अंगों की संख्या के अनुरूप ही उपांगों की संख्या है। व्यंबर और अन्य विद्वानों के अनुसार, 'अंगों और उपांगों में सच्चे अंतरंग सम्बन्ध का ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं कि जो श्रौंगी में ऐसा ही स्थान रखता हो।'² उदाहरणार्थ पहला उपांग औपपातिक को ही लीजिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसकी ऐतिहासिक महत्व इस बात में है कि इसमें महावीर के चम्पा में आगमन और वहां देशना देना एवम् चम्पा के राजा कृणिय याने अजातशत्रु के महावीर के दर्शन और वन्दना को आना है।

दूसरे उपांग राजप्रश्नीय का अधिकांश भाग सूर्याम देव के अपने बृहत्परिवार और परिकर सहित राजा श्वेत की अमलकप्पा नगरी में महावीर को वन्दन करने आने और विशेषतः उनके समक्ष नाच, गान और वाद्यादि द्वारा अपनी भक्ति को प्रदर्शित करने के वर्णन में रूका हुआ है। फिर भी इसका सारातिसार राजा पएसी (प्रदेशी) और श्रमण कैंसी के बीच हुए संवाद-विवाद में आ जाता है जो कि जीव और देह के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर प्रारम्भ होता है और मुक्तमन राजा के जैनधर्मी हो जाने में समाप्त होता है।⁴

शेष उपांगों में से तीसरे और चौथे का हम साथ ही विचार कर सकते हैं क्योंकि वस्तु और चर्चा में दोनों ही समान हैं। तीसरे में संवाद रूप से चेतनमय प्रकृति के भिन्न भिन्न वर्गों और रूपों की चर्चा की गई है। पश्चात्तर में चौथे उपांग पन्नवराणा या प्रज्ञापना में जीवों के भिन्न भिन्न भेदों की जीवनचर्या की विवेचना है।⁵ यह प्रज्ञापना उपांग शेष सिद्धान्त ग्रन्थों से भिन्न दीख पड़ता है। खरतर और तपगच्छ की पट्टावलियों में महावीरात् चौथी सदी में होने वाले आर्य श्याम (अज्ज साम) या श्यामार्य इसके कर्ता कहे गए हैं।⁶

पांचवां, छठा और सातवा उपांग सूर्यप्रज्ञप्त, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति हैं। ये जैनों के वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं। भारतवर्षकी दन्तकथानुसार इनमें खगोल, भूगोल, औरस्वर्गादि का एवं काल-गणना पद्धति का अनुक्रमसे वर्णन किया गया है। पांचवें उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति पर विशेषरूप से विचार करना आवश्यक है। डा. व्यंबर कहता है कि इसमें जैनों की खगोल का व्यवस्थित वर्णन है। ग्रीक प्रभाव ने इसमें परिवर्तन कुछ भी किया या नहीं, यह एक

1. देखो शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 23।

2. व्यंबर, वही, पृ. 366। देखो विटर्निट्ज, वही और वही स्थान।

3. देखो राजप्रश्नीयसूत्र (आगमोदय समिति) सूत्र 1 आदि।

4. देखो वही, सूत्र 65-79। 5. देखो व्यंबर, वही, पृ. 371, 373।

6. देखो क्लाट, इण्डि. एण्टी., पुस्त 11, पृ. 247, 251। शार्पेटियर के अनुसार, चौथा उपांग स्पष्टतया युग-प्रधान आर्य श्याम की रचना कही गई है जो कालकाचार्य से निःसंदेह ही अभिन्न है और जिनको दन्तकथा विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल के समय में होना कहती है। शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 27; देखो याकोबी, जेड्डीएमजी, सं. 34, पृ. 251 आदि।

विचारणीय प्रश्न है। कुछ भी हो, इसमें हमें भारतीय ज्योतिष की वह मूल पद्धति मिलती है कि जो ग्रीकों के प्रामाणिक और भारी प्रभाव के पहले की है।¹ भारतीय खगोल विद्या की मौलिक पद्धति का सूर्यप्रज्ञप्ति एक अद्वितीय उदाहरण है। पूर्व में ग्रीक प्रभाव पड़ा उसके पूर्व की वह है। यह बात अन्य विद्वान भी स्वीकार करते हैं।² जैन इतिहास की दृष्टि से इसका महत्व स्पष्ट है।

अन्तिम पांच उपांग निरयावली सूत्र नाम के एक ही मूल ग्रन्थ के पांच विभाग है। व्यंबर के शब्दों में इन पांच विभागों को पांच उपांग रूप से गिनना अंगों की संख्या से उपांगों की संख्या मिलाने के विचार से ही उद्भव हुई मालूम होती है।³ आठवें उपांग का ऐतिहासिक महत्व इस बात में है कि कुणिक के दस सौतेले भाई महान् लिच्छवी राजा चेडग के विरुद्ध किए युद्ध में मारे गए थे और उसके फल स्वरूप उन सब ने भिन्न भिन्न तरकों में जन्म लिया।⁴

सिद्धांत के दूसरे समूह उपांग के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त हैं। अब तीसरे समूह दस पयन्ना अथवा प्रकीर्णों का संक्षेप में विचार करें। ये ग्रन्थ जैसा कि इस नाम शब्द का भावार्थ है, 'असंलग्न', शीघ्रता में लिखी हुई रचनाओं का संग्रह हैं। जैसे वेदों के परिशिष्ट हैं, वैसे ही हम इन प्रकीर्णों को अंगों के परिशिष्ट कह सकते हैं। कुछ अपवादों को छोड़ कर हम इनको वैदिक परिशिष्टों की भांति ही पद्य में लिखे हुए पाते हैं। इनमें सर्वत्र सामान्यतया आर्या छन्द ही प्रयुक्त हुआ देखते हैं, वही छन्द जो अंगों में कारिकाओं के लिए प्रयोग किया गया है।⁵ इन पहन्नों में अनेक विषय चर्चित हुए हैं। इन्हीं में से एक विषय है वे प्रार्थनाएं जिनके द्वारा अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म रूपी चार शरणां को स्वीकरण किया जाता है, अनशन द्वारा समाधि-मरण कहा जाता है। इन्हीं में मूला में चेतना, गुरु और शिष्य के गुरा, देवों की गणना आदि आदि विषयों की भी चर्चा है।⁶

सिद्धान्त का चौथा समूह छेदसूत्रों का है। इनमें साधारणतः साधू-साध्वी की जीवनचर्या सम्बन्धी निषेधों का, उनकी स्वलना के दण्ड या प्रायश्चित्त का विचार किया गया है, हालांकि गौरव रूप से अनेक दन्तकथाएं भी इनमें आ गई हैं। इसीलिए बौद्धों के विनय ग्रन्थों से ये मिलते हुए हैं। कितनी ही बातों में भिन्न होते हुए भी विषय और विवेचन पद्धति में दोनों में बहुत समानता है।⁷ विटर्निट्ज और व्यंबर दोनों के अनुसार वर्तमान छेदसूत्रों का बहुत सा भाग अत्यन्त ही प्राचीन है, क्योंकि इस विभाग के परमसारांश छेदसूत्र तीसरा, चौथा और पांचवां सिद्धांत का प्राचीनतम भाग है।⁸

ये तीनों अर्थात् तीसरा चौथा और पांचवां छेदसूत्र जिनका नाम क्रमशः दसा-कल्प-ववहार है, एक समूह

1. व्यंबर, इण्डि. एण्टी., पुस्त 21, पृ. 14-15।
2. देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त 22, प्रस्तावना पृ. 40; लायमन, वही, पृ. 552-553। शीबो, बंएसो पत्रिका सं. 49. 1880, पृ. 108। सूर्यप्रज्ञप्ति सम्बन्धी विशेष महत्व के कुछ तथ्यों के लिए देखो वही, पृ. 107-121, 181-206। 3. व्यंबर, वही, पृ. 23।
4. देखो निरयावालिकासूत्र, पृ. 3-19। 5. व्यंबर, वही, पृ. 106। देखो विटर्निट्ज, वही, पृ. 308।
6. देखो व्यंबर, वही, पृ. 109-112; विटर्निट्ज, वही और वही स्थान।
7. देखो व्यंबर, वही, पृ. 179; विटर्निट्ज, वही, पृ. 309।
8. देखो विटर्निट्ज, वही, पृ. 309; व्यंबर, वही, पृ. 179-180।

रूप में ही हैं।¹ इनमें से कल्प और व्यवहार की रचना बहुधा भद्रबाहु की ही कही जाती है जिनने इन्हें नौवें पूर्व से उद्धार किया था, ऐसा भी कहा जाता है।² इस समूह में के दसा याने आचारदशा जिसे दशाश्रुतस्कंध भी कहा जाता है, के कर्ता रूप से तो भद्रबाहु के विषय में दन्तकथा भी समर्थन करती है। इसी का आठवां अध्याय भद्रबाहु का कल्पसूत्र नाम से सुप्रसिद्ध है ही। यह सारा का सारा ही कल्पसूत्र है याने इस नाम के सारे ग्रन्थ के तीनों विभाग याने खण्ड। परन्तु याकोबी और अन्य विद्वान ठीक ही कहते हैं कि यथार्थ में अन्तिम याने तीसरा खण्ड ही जिसका शीर्षक 'सामाचारी' याने यतियों के नियम जिसे 'पर्युषणा कल्प भी कहा जाता है' ही वह है और वही, आचारदसाओं के शेषांश सहित, भद्रबाहु रचित कहा जाने योग्य है।³

भद्रबाहु के कल्पसूत्र की विस्तार से चर्चा करने को फिर से यहाँ आवश्यकता नहीं है। हम इसका पर्याप्त निर्देश महावीर और उनके पुरोगामी तेईस तीर्थंकरों के चरित्र, महावीर के उत्तराधिकारी जैन युगप्रधानाचार्य, और यतियों के पालने के विधि-विधानों के वर्णन समय कर चुके हैं। छेदसूत्रों की इतनी सी चर्चा ही पर्याप्त है। आगे हम अन्तिम दो विभागों का याने मूलसूत्र विभाग और दो चूलिका सूत्र विभाग का संक्षेप में विचार करेंगे।

पहले मूलसूत्र विभाग को ही लें। जैन सिद्धांत के इस विभाग समूह का नाम मूलसूत्र क्यों दिया गया यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। सामान्य बोलबाल में तो इस शब्द का अर्थ यही होता है कि मौलिक ग्रन्थ। परन्तु शार्पेटियर के अनुसार ऐसा ही सम्भव दीखता है कि बौद्धों की ही भांति जैनों ने भी इस मूल शब्द का प्रयोग मूल-पाठक के अर्थ में ही किया हो, और वह भी भगवान महावीर के मूल शब्दों को अनुलक्ष करके ही किया गया हो।⁴ इन सूत्रों के विवक्षित विषयों का जब विचार करते हैं तो इनमें से पहले तीन, साहित्यिक दृष्टि से, अत्यन्त महत्व के प्रतीत होते हैं। इनमें भी उत्तराध्ययन जो इस विभाग का सर्व प्रथम सूत्र है, और जिसमें प्राचीन श्रामणिक काव्य के उदाहरण हैं, सिद्धान्त का अति मूल्यवान विभाग है। साधू की आदर्श जीवनचर्या के नियमों और उन्हें स्पष्ट करने वाली उपमा कथाओं से यह सूत्र भरा हुआ है। प्राचीन विद्वानों के मन्तव्यों का जो सार याकोबी ने दिया है उससे मूल ग्रन्थ का उद्देश नएसाधू को उसके मुख्य आचारों की सूचना करने, उदाहरणों और उपदेशों से साधू जीवन की महत्ता बताने, आध्यात्मिक जीवन के भय स्थानों से उसे सावधान करने, और कुछ सैद्धान्तिक सूचनाएं देने का है।⁵

जैन साहित्य के आधुनिक विद्वानों के अनुसार, इसने अधिकांश विषय हमारे पर उसके प्राचीनतम होने की छाप डालते हैं और हमें ऐसे ही बौद्धशास्त्रों का स्मरण दिलाते हैं, विशेषतः दूसरा अंग अर्थात् वह कि जो सिद्धांत का अत्यन्त प्राचीन अंश है।⁶ उसका उद्देश और उसमें चर्चित विषय इस प्रकार सूत्रकृतांग से मिलते जुलते हैं। फिर भी उत्तराध्ययन में अजैनवादों की चर्चा पूरी तौर से नहीं की गई है, कहीं कहीं संकेत मात्र उनका कर दिया गया है। दृष्टतः समय बीतने के साथ अजैनवादों का भय कम होता गया और जैनधर्म की संस्थाएं दृढ़ता से जमती गई। नए साधू के लिए जीव और अजीव का ठीक ठीक ज्ञान होना महत्व का माना गया है क्योंकि इस ग्रन्थ के अन्त में इसी विषय पर एक लम्बा अध्याय जोड़ दिया गया है।⁷

1. देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 309; व्यैबर, वही, 179, 210।
2. दसकल्पव्यवहारा, निज्भङ्गा जेण नवपपव्वाओ। वांदांमि भद्रबाहु, ...। ऋषिमण्डलस्तोत्र, श्लो. 166।
3. याकोबी, कल्पसूत्र, पृ. 22-23; विटनिट्ज, वही, वही स्थान; व्यैबर, वही, पृ. 211।
4. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 32। 5. याकोबी, सेबुई, पुस्त 45, प्रस्ता. पृ. 39।
6. देखो शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 34; विटनिट्ज, वही, पृ. 312; व्यैबर, वही, पृ. 310।
7. याकोबी, वही और वही स्थान।

इन मूलसूत्रों में दूसरा आवश्यकसूत्र है और इसमें जैन साधू और गृहस्थ के आवश्यक छह कर्तव्यों का विचार किया गया है।¹ इन क्रियाओं के साथ ऐतिहासिक और अर्ध ऐतिहासिक महत्व के वृत्तांत भी दिए गए हैं जो कि टीकाओं में हमें बारसे के रूप में प्राप्त होते हैं। व्यंबर के अनुसार 'इस शास्त्र में इस विषय के महावीर के सिद्धांत की विवेचना मात्र ही नहीं है, अपितु इस सिद्धान्त का इतिहास भी दिया गया है, याने महावीर के पुरोगामियों का. स्वयम् महावीर का और उनके ग्यारह गणधरों, एवम् विरोधियों निन्हवो का भी वर्णन है कि जिनने उनके उपदेशों में शनैः शनैः स्थान प्राप्त किया था। इन निन्हवों का कालक्रमानुसार विचार किया गया है। हरिभद्र ने प्राकृत गद्य में और कभी कभी पद्य में सम्बन्धित कथाएँ बहुत विस्तार से दी हैं और दिट्ठि एवं उदाहरणों की भी कथाएँ दी हैं कि जो सूत्र में बहुधा दिए गए हैं।²

अब हम अन्तिम दो मूलसूत्रों का विचार करें। इनमें का दसवेयालिय विनय याने जैनसाधू के नियमों का विवेचन करता है। डा. विटनिट्ज के अनुसार यह सूत्र हमें बौद्धसूत्र धम्मपद का स्मरण कराता है।³ प्रमुख जैन सिद्धांतों के सम्पूर्ण परिदर्शक इस ग्रन्थ के रचयिता महावीर के चतुर्थ पट्टघर शयवम्मव या सज्जंभव हैं। श्रीमती स्टीवन्सन इस सूत्र को 'साधू जीवन में भी पाए जानेवाले पुत्र के प्रति पिता के प्रेम का स्मारक' रूप मानती हैं।⁴ क्योंकि इसकी रचना मरणक नामक पुत्र के लाभार्थ ही की गई थी।⁵ चौथा मूलसूत्र पिण्डनिज्जुत्ती आगम का परिशिष्ट रूप मात्र है।

अब जैन सिद्धांत के उन दो चूलिका सूत्रों का विचार करना ही हमारे लिए शेष रह जाता है कि जिनके नाम हैं नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र। इन दोनों के विषय यद्यपि समान हैं परन्तु चर्चा की पद्धति भिन्न भिन्न है। दोनों ही एक प्रकार के ज्ञानकोश के समान हैं। ये पवित्र सिद्धांत शास्त्रों के यथार्थ ज्ञान और समझ के आधारों और रूपों की आवश्यक सूचनाओं सम्बन्धी प्रत्येक बात की पद्धतिसर समीक्षा इनमें की गई है।⁶ इस प्रकार, व्यंबर कहता है कि इनके कर्ताओं ने पाठकों के लिए एक मध्यरूप प्रस्तावना प्रस्तुत कर दी है। उसी के शब्दों में कहें तो उन लोगों के लिए इनदोनों ग्रन्थों की योजना अत्यन्त ही सुधड़ है कि जो उनका प्रतिसंस्करण या संग्रह समाप्त कर, पवित्र ज्ञान के ही विषय में ज्ञान प्राप्त करने के अभिलाशी हैं।⁷ इस प्रकार जैनों की साहित्यिक दन्तकथा के अनुसार देवर्धिसूत्र ही यद्यपि इन दोनों के रचयिता हैं, परन्तु व्यंबर और शार्पेटियर के अनुसार, इस दन्तकथा या मान्यता पर आने का कोई भी ऐसा बाह्य कारण समझ में नहीं आता है कि जो इनकी विषयसूची से मिलने वाली सूचना से भी समर्थित होता हो।⁸ शार्पेटियर कहता है कि 'अन्ततोगत्वा में समभता

1. समणेण सावएण य अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा। अंतोग्रहोणिसस्स य तम्हा आवस्सयं नामं। आवश्यकसूत्र, पृ. 53; छह आवश्यक अनुक्रम से इस प्रकार है : समाइयं याने बुरे कर्मों से निवर्तन; चउविसत्थो याने 24 तीर्थंकरों की स्तुति; वेदणं याने गुरुओं की वंदन; पक्कमणं याने आलोचना; काउसग्ग याने पापों की ध्यान द्वारा निर्जरा; और पच्चक्खाणं याने असनादि का त्याग। देखो वही। 2. व्यंबर, वही, पृ. 330।
3. देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 315। 4. श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 70।
5. देखो याकोबी, कल्पसूत्र, पृ. 118; पलाट, वही, पृ. 246, 251; दशबैकालिक की रचना सम्बन्धी दन्तकथा के लिए देखो हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन, सर्ग 5।
6. देखो व्यंबर, वही, पृ. 293-294; विटनिट्ज, वही और वही स्थान।
7. व्यंबर, वही, पृ. 294। 8. देखो वही; शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. 18।

हूँ कि इनके देवधिगण की रचना होने का कोई भी छद्म प्रमाण नहीं है, हम इतना ही कह सकते हैं कि वह इन शास्त्रों के प्रतिसंस्करण का सम्पादक ही या प्रतिसंस्करणकर्ता ही था¹ रचियता नहीं।'

श्वेताम्बर जैनों के सिद्धांत ग्रन्थों के विषय में इतना विवेचन ही यहाँ पर्याप्त है।² उनकी भाषा के सम्बन्ध में, देवधिगण के समय तक की जैन साहित्य की अव्यवस्थित दशा पर से इस अनुमान पर आ सकते हैं कि उत्तरा-धिकार में मिलने वाली भाषा में भी ज्ञान-ज्ञान-परिवर्तन होता गया था। फिर भी इतना तो बहुत ही सम्भव प्रतीत होता है कि ई. पूर्व छठी सदी के धर्म-सुधारकों ने कि जिनने लोक समूह के अधिकांश भाग को ब्राह्मण पण्डितों के पुरोहिती ज्ञान के विरोध में मोक्ष-मार्ग का उपदेश दिया था, अपनी देशना के लिए जन साधारण की भाषा ही का उपयोग किया न कि संस्कृत की विद्वद्-मोग्य भाषा का। लोकसमूह की यह भाषा महावीर के गृह मगध देश की बोलवाल की भाषा ही होगी ऐसा लगता है। फिर भी जैनों द्वारा प्रयुक्त मगधी 'अशोक के शिलालेखों एवं प्राकृत वैयाकरणों की मागधी से बहुत ही कम मेल खानी है।³ यही कारण है कि जैनों द्वारा प्रयुक्त भाषा मिश्रित भाषा याने 'अर्थ-मागधी' कही जाती है कि जो बहुवांश में मागधी से ही बनी है परन्तु जिसने परदेशी बोलियों के तत्वों को भी ग्रहण कर लिया है। महावीर ने अपने संसर्ग में अपने वाले लोगों को अपनी बात समझाने के लिए इसी मिश्र भाषा का उपयोग किया था और इसीलिए उनकी भाषा मातृभूमि की सीमा पर के निवासी भी उसे अच्छी प्रकार समझ सकते थे।⁴

जैन दंतकथा के अनुसार 'प्राचीन सूत्र अर्थ-मागधी भाषा में ही रचे हुए थे,⁵ परन्तु प्राचीनसूत्रों की जैन प्राकृत टीका ग्रन्थों और कवियों की प्राकृत से बहुत विभिन्न है। इस प्राकृतिक भाषा को जैन आर्ष याने ऋषियों की भाषा कहते हैं, जबकि जिस भाषा में सिद्धांत लिखे हुए हैं, वह महाराष्ट्री की निकटतम है और वह जैन महाराष्ट्री कहलाती है। जैन ग्रन्थों को अन्तिम रूप देने के पूर्व जैनों द्वारा प्रयुक्त और विकसित भाषा की विशिष्टता के विवरण में जाने की हमें आवश्यकता नहीं है। इतना भर कहना ही पर्याप्त है कि 'जब एक बार जैन महाराष्ट्री पवित्र भाषा स्वीकार कर ली गई तो वह जैनों की साहित्यिक भाषा भी उस समय तक बनी रही थी जब तक कि उसे संस्कृत ने स्थानापन्न नहीं कर दिया।

जैनों के सिद्धांतारिक्त साहित्य में एक और अग्रणीत टीका साहित्य है जिसका प्रतिनिधित्व निज्जुत्ति या नियुक्तियां करती हैं और दूसरी ओर वह स्वतंत्र साहित्य है जिनमें कुछ तो साधू-अनुशासन, नीति और सिद्धांत को विद्वद्बोध्म्य रचनाएं हैं और कुछ काव्य हैं जिनमें जिनों के प्रभाव की स्तुतियां या स्त्रोत भी हैं। परन्तु अधिकांश भाग वर्णनात्मक साहित्य का ही है। यह निश्चित प्रतीत होता है कि देवधिगण द्वारा सिद्धांतों की अन्तिम वाचना या संकलन किए जाने के बहुत पूर्व ही जैन साधू आगमें पर टीकाएं भाष्य आदि लिखने लग गए थे क्योंकि प्राचीन-

1. वही।

2. दिगम्बरों के सिद्धांत के लिए देखो विटर्निट्ज, वही, पृ. 316; याकोबी वही, प्रस्ता. पृ. 30।

3. याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 17।

4. ग्लांसन्यप, डेर जेनिस्मस, पृ. 84।

5. पोराममद्यमागहमासानिययं हवइ सुत्तं। हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण गाथा, 287।

6. याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 20। जैनों के पवित्र ग्रन्थों की भाषा के अधिक विवरण के लिए देखो वही, प्रस्ता. पृ. 17 आदि। ग्लासन्यप, वही, पृ. 81 आदि।

तम टीकाएं जिन्हें नियुक्ति कहते हैं, कई बातों में सूत्रों से बहुत ही निकट संबंधित हैं अथवा उन्हें स्थानापन्न भी उनसे कर दिया है। पिण्डश्रौर श्रौच नियुक्तियों ने तो सिद्धांत ग्रन्थों में ही स्थान प्राप्त कर लिया है। श्रौचनियुक्ति पूर्वों में से ही कुछ के आघार पर रची गई कही जाती है।⁶

शार्पेटियर के अनुसार, नियुक्तियां यद्यपि प्राचीन हैं, परन्तु वे जैनों के टीका साहित्य के प्राथमिक ग्रन्थ रूप कम नहीं कही जा सकती हैं। वे ही प्राचीनतम नहीं हैं अपितु जैनों के सिद्धांत पर उपलब्ध या वर्तमान प्राचीनतम टीकाएं अवश्य ही हैं। ऐसा कहने का कारण यह है कि नियुक्तियां मुख्यतया अनुक्रमणिका रूप में हैं, उन विस्तृत टीकाओं की कि जिनमें सब वार्ताएं और दंतकथाएं विस्तार से दी गई हैं, ये सार रूप हैं।¹ प्राचीनतम टीकाकार भद्रबाहु ही थे कि जिनने पहले कहे अनुसार वर्धमान के निर्वाण पश्चात् 170 वें वर्ष में काल धर्म प्राप्त किया था। सिद्धांत के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों पर उनसे दस नियुक्तियों की रचना की ऐसा कहा जाता है जिनके नाम इस प्रकार हैं:— आचारांगनियुक्ति, सूत्रकृतांक नियुक्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति नियुक्ति, दशाश्रुतस्कंध नियुक्ति, कल्पनियुक्ति, व्यवहार-नियुक्ति, आवश्यक नियुक्ति, दशकालिक नियुक्ति, उत्तराध्ययन नियुक्ति और ऋषिभाषित नियुक्ति।² बनारसीदास जैन के अनुसार भद्रबाहु की आवश्यक नियुक्ति ही ऋषभदेव के पूर्वभवों का प्राचीनतम प्रमाण है क्योंकि 'अ'गों में तीर्थकरों के पूर्व भवों का विशेष रूप में वर्णन नहीं मिलता है हालांकि उनमें महावीर के सम-सामयिकों में से अनेक के मत एवम् भविष्य भवों को अनेक निर्देश प्राप्त होते हैं।³

ये सब टीका ग्रन्थ इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उनसे हमारे लिए ऐतिहासिक और अर्धऐतिहासिक दंत कथाओं और लोकवार्ताओं का महान समूह संग्रहित कर दिया है। बौद्ध भिक्षुओं की भांति ही जैन भिक्षु भी भारतीयों की धार्मिक कथाएं सुनने की लुब्धता का लाम उठाते अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने और उन्हें टिकाए रखने के लिए महर्षियों की कथाओं और लोक वार्ताओं का उपयोग करते रहे हैं। 'दंतकथाओं और वार्ताओं के इस प्रकार संग्रहित समूह में से अनेक तो प्राचीन काल की लोक कथाओं के समूह में से हैं और कितनी ही जैनों की अपनी दंतकथाओं में से ली गई हैं। शेष में से कितनी ही कदाचित् परवर्ती काल में रची गई हो ऐसा लगता है और वे बाद में मूल ग्रन्थों की स्थाई टीकाओं में स्थान पाकर अमर हो गई हैं।⁴

इसी प्रख्यात भद्रबाहु को भद्रबाहुवी-संहिता कि जो खगोल विद्या का एक ग्रन्थ है, और पार्श्वनाथ की स्तुति 'उवसग्गहर' स्रोत का रचयिता कहा जाता है। उक्त भद्रबाहुवी संहिता का कर्ता और नियुक्तियों का कर्ता भद्रबाहु एक ही व्यक्ति है कि नहीं यह शंकास्पद है। यह संहिता भी अन्य संहिताओं जैसी ही है, फिर भी बराहमिहिर ने इसका कोई हवाला अपने ग्रन्थ में नहीं दिया है, हालांकि अपने प्रामाणिकों की सूची में उसने सिद्धसेन⁵ नामक एक अन्य जैन ज्योतिर्विद का नाम अवश्य ही गिनाया है। इसमें ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि यह भद्रबाहुवी-संहिता बराहमिहिर के परवर्ती काल की है। याकोबी के शब्दों में कहें तो स्थिति जो भी हो, इस संहिता का रचयिता वही भद्रबाहु कभी नहीं हो सकता है कि जिसने कल्पसूत्र की रचना की थी, क्योंकि उसका अन्तिम प्रति संस्करण,

6. देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 317।

2. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 50-51।

3. देखो आवश्यक सूत्र, गा. 84-86, पृ. 61; याकोबी, वही,

प्रस्ता. पृ. 12।

4. जैन, जैन जातकाज; प्रस्ता. पृ. 3।

5. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता. पृ. 51।

6. कर्न, बृहत्संहिताष भूमिका, पृ. 29।

जिसकी तिथि (वीरात् 980 = ई. सन् 454 या 514) उसी में दी हुई है, वराहमिहिर के पहले की नहीं तो भी कम से कम समयमयी तो है ही ।¹

उवसग्गहर स्त्रोत्र का रचयिता भद्रबाहु को मानने की दन्तकथा इस श्लोक पर बँधी हुई है :—

उवसग्गहरं थुत्तं काऊरां जेण संधकल्लारां ।
करुणापरेण विहिंसं स भद्रबाहुं गुरु जयउ ॥²

अर्थात् 'संध के कल्याण के लिए दयात्र' गुरु भद्रबाहु ने उवसग्गहर स्त्रोत्र की रचना की, उनकी जय हो ।'

स्त्रोत्र का विषय है भगवान् पार्श्वनाथ का प्रभावानुवाद । इस स्त्रोत्र की अन्तिम गाथा से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है जो इस आशय की है:— 'हे महायश ! भक्ति के समूह से पूर्ण भरे हुए अन्तःकरण से यह स्तवना मैं ने की है, इसलिए हे देव ! पार्श्व जिनचन्द्र ! मुझे जन्मोजन्म में बोधबीज देते रहो ।'³ भद्रबाहु को इस स्तुति का रचयिता स्वीकार करते हुए याकोबी कहता है कि यदि ऐसा हो तो जैन स्तुतियों के नए विस्तृत साहित्य में यह एक प्राचीनतम उदाहरण भी है ।⁴

भद्रबाहु के अतिरिक्त भी अनेक अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ यद्यपि उपलब्ध हैं, परन्तु हम उनमें से कुछ ही अत्यन्त महत्त्व के ग्रन्थों का यहाँ वर्णन करेंगे । इन ग्रन्थों में सब से पहला जो हमारा ध्यान आकर्षित करता है वह धर्मदासगण की उपदेशमाला है कि जिसको महावीर का ही समकालिक होने का जैनों का दावा है ।⁵ इस ग्रन्थ में गृहस्थ एवम् साधुओं के लिए नैतिक नियमों का संग्रह किया गया है. इसकी ख्याति इसकी अनेक टीकाओं पर से है जिनमें से दो टीकाएँ तो इसवी सन् की नौवीं सदी की हैं ।⁶ धर्मदास के बाद उमास्वाति का स्थान है कि जो श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों ही सम्प्रदायों में मान्य है । विटनिट्ज के अनुसार, चूँकि वह ऐसी मान्यताओं का प्रतीक है कि जो दिग्म्बरों की मान्यता से मेल नहीं खाती हैं, इसलिए वे उसे अपने में का एक नहीं कह सकते हैं । उमास्वाति के किन तथ्यों पर यह बात कही जा सकती है या समझा जाना चाहिए, हम कुछ भी नहीं कह सकते हैं । फिर भी विद्वान् पण्डित का इस परिणाम पर अन्य विद्वानों की भाँति ही पहुँचना उचित लगता है कि सम्भवतः वह महान् आचार्य कास पूर्व समय में होना चाहिए कि जब जैनसंघ इन दो सम्प्रदायों से स्पष्ट रूप से विभक्त नहीं हो गया था ।⁷ इसका तपागच्छ पट्टावली से भी समर्थन होता है । उसके अनुसार वीरात् चौथी

1. याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 14 । भद्रबाहु 2 य सम्बन्धी दिग्म्बरों की दन्तकथा के लिए और श्वेताम्बरों की भद्रबाहु एवम् वराहमिहिर सम्बन्धी दन्तकथा के लिए देखो वही, पृ. 13, 30 । विद्याभूषण मैडीवल स्कूल आफ इण्डियन लोजिक, पृ. 5-6 ।
2. क्लपसूत्र, सुबोधिका टीका पृ. 162 ।
3. देखो याकोबी, वही, प्रस्ता. पृ. 13 । 4. देखो वही, पृ. 12 ।
5. देखो धर्मदासगण, उपदेशमाला (जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर), पृ. 2 ।
6. देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 343; मैकडोन्यल, इण्डियाज पास्ट, पृ. 74; श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ. 82 ।
7. देखो विटनिट्ज, वही, पृ. 351; हीरालाल, रायबहादुर, कैटेलोग आफ मैन्युस्क्रिप्ट्स इन सी. पी. एण्ड बरार, प्रस्ता. पृ. 7-9; विद्याभूषण, वही, पृ. 9 ।

शती में हुए श्यामार्थ ! प्रज्ञापनासूत्र के कर्ता, उमा स्वाति के शिष्य थे ।¹ पक्षान्तर में श्री हीरालाल के अनुसार इस प्रश्न का स्पष्टीकरण यह है कि उमास्वाति ने दोनों सम्प्रदायों के विवादास्पद विषयों को स्पर्श ही नहीं किया है ।²

ये उमास्वाति वाचक-श्रमण रूप से विशेष प्रख्यात हैं । तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की श्वेताम्बरकारिका के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वे नगरवाचक भी कहे जाते थे । वे स्वयम् प्रशस्ति में कहते हैं कि उनका जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था, परन्तु वे कुसुमपुर या पाटलीपुत्र में ही रहते थे ।³ हिन्दू-दार्शनिक माधवाचार्य उनका परिचय उमास्वातिवाचकाचार्य कह कर कराता है ।⁴ इस महान् आचार्य की कृतियों के विषय में यह किंवदन्ती है कि इनने कोई पाँचसौ प्रकारों की रचना की थी परन्तु उनमें से केवल पाँच ही आज उपलब्ध हैं । इन सब की याने 1. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र; 2. इसी का भाष्य; 3. पूजाप्रकरण 4. जम्बूद्वीपसमास; और 5. प्रशमरति की प्रशस्ति में जैसी कि वह बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के इनके संस्करणों में प्रकाशित हुई है, इस प्रकार लिखा हुआ है:— 'कृतिः सिताम्बराचार्यस्य महाकवे-रुमास्वातिवाचकस्य इति ।'⁵

उपरोक्त ग्रन्थों में से तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर ही उनकी कीर्ति आधारित है । कितने ही अमूल्य ग्रन्थरत्न कि जो काल कराल भ्रास बनने से बच गए उनमें का यह अति मूल्यवान है । जैनों के आगम साहित्य का दोहन कर जैन तत्त्वज्ञान को संस्कृत सूत्रों में रचने की पद्धति में प्रवेश करनेवाले ये ही सबसे पहले जैनाचार्य हैं । उनका यह ग्रन्थ इसीलिए जैन इंजील (बाईबल) रूप माना जाता है । जैनों के सभी सम्प्रदाय इसको मानते हैं । यह कितनी प्रामाणिक और उत्तम कृति है, इसकी प्रतीति उसके प्रति जैन टीकाकारों के दिए लक्ष्य से स्पष्ट समझ में आती है । इस पर कमती से कमती इकतीस टीकाएं आज उपलब्ध हैं । इसके सूत्रों में कोई भी जैन सिद्धान्त या मान्यता प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से व्यक्त हुए बिना नहीं रही है । तत्त्वार्थसूत्र निःसंदेह जैन तत्त्वज्ञान की अमूल्य और पवित्र निधि है ।⁶

उमास्वाति वाचक के सम्बन्ध में इस प्रस्ताविक विवेचन के बाद, हम विक्रमादित्य युग के सुप्रसिद्ध जैन साहित्याकाश के प्रकाशमान नक्षत्र श्री सिद्धसेन दिवाकर और श्री पादलिप्ताचार्य का संक्षेप में विचार करेंगे ।⁷

1. देखो क्लोट, वही, पृ. 251 । श्वेताम्बर पट्टावलियों के इस वर्णन में उसका ई. पूर्वं अनेक सदियों में हुआ बताया है । महावीर के दसवें पट्टधर आर्य महागिरि का निधन निर्वाण पश्चात् 249 वें वर्ष में हुआ था । उनके दो शिष्य थे:— बहुल और बलिस्सह । बलिस्सह के शिष्य थे उमास्वाति । देखो वही पृ. 246, 251 । दिगम्बर वृत्तान्तों में उमास्वाति भद्रबाहु से छठे पट्टधर कहे गए हैं और कुन्दकदाचार्य के उत्तराधिकारी । उनका निधन-काल वि. सम्वत् 142 याने ई. 85 बताया है । देखो हरनोली, इण्डि. एण्टी., पुस्त. 20. पृ. 341 । उमास्वाति के विशेष विवरण के लिए देखो हीरालाल रायबहादुर, वही, प्रस्ता. पृ. 7-9; पेटरसन, रिपोर्ट आन संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, पुस्त. 4, प्रस्ता. पृ. 16; जैनी सेबुजे, पुस्त 2, प्रस्ता. पृ. 7-9 ।

2. हीरालाल, रायबहादुर, वही, प्रस्ता. पृ. 9 ।

3. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (संपा : मोतीलाल लधाजी), (अध्याय 10, पृ. 203 ।

4. देखो कोव्यैल एण्ड गौफ, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 55 ।

5. हीरालाल, रायबहादुर, वही, प्रस्ता. पृ. 8 ।

6. जैनी, वही, प्रस्ता. पृ. 8 ।

7. राइस ई. पी., कनैरीज लिटरेचर, पृ. 41 ।

सिद्धसेन और विक्रम के धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी प्राचीन और दृढ़ जैन दन्तकथा की यथार्थता के विषय में पहले ही विवेचना की जा चुकी है। इसलिए दिवाकर काल के इस विवादास्पद प्रश्न पर फिर से लिखना यहाँ आवश्यक नहीं है। फिर भी दो तथ्य दन्तकथानुसार सिद्धसेन की तिथि के समर्थन में यहाँ प्रस्तुत किए जा सकते हैं। एक तो यह कि वाचक-श्रमण की ही भांति, सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों को मान्य है। दूसरा यह कि दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में इस आचार्य सम्बन्धी उल्लेख प्राचीन हैं।¹

महान् सिद्धसेनरचित साहित्य में जैन-न्याय और बत्तीस बत्तीसियाँ कही जाती हैं। उनमें कुल कितने ग्रन्थ रचे इस अप्रधान बात को दूर रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यही प्रकरण लिखनेवाले सर्व प्रथम श्वेताम्बराचार्य हैं। प्रकरण उस प्रद्वत्यानुसार रचना को कहा जाता है जिसमें प्रत्येक विषय वैज्ञानिक रीति से चर्चे जाते हैं। इसमें सैद्धांतिक ग्रन्थों की भांति चाहे जैसे भिन्न भिन्न अथवा दन्तकथा रूप में विषय की चर्चा नहीं की जा सकती है। यह प्राकृत में भी रचा जा सकता है, परन्तु सामान्यतः यह संस्कृत रचना ही होती है।² सिद्धसेन और अन्य महान् आचार्यों ने ई. पूर्व और पश्चात् की कुछ सदियों में इस प्रकार के प्रयत्न भारतीय मानसिक संस्कृति के उच्चतम स्तर तक श्वेताम्बरों को ऊंचा उठाने के लिए किए जिनकी समाप्ति हेमचन्द्राचार्य द्वारा हुई थी कि जिनने प्रमुख भारतीय विज्ञानों की प्रशसनीय पाठ्य पुस्तकें भी, जैनधर्म सम्बन्धी मान्य ग्रन्थों के अतिरिक्त, लिखी थीं।

न्यायावतार और सम्मतितर्क दो सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के रचयिता रूप से सिद्धसेन की विशेष प्रसिद्धी है। पहला न्याय का पद्यमय ग्रन्थ है जिसमें न्याय और प्रमाण का स्पष्ट विवेचन किया गया है। दूसरा सामान्य दर्शन का एक मात्र प्राकृत भाषा का पद्यमय ग्रन्थ है जिसमें तर्कशास्त्र के सिद्धांतों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इन दोनों विद्वता पूर्ण ग्रन्थों की रचना के पूर्व जैन न्याय विषयक किसी भी प्रमाणभूत ग्रन्थ का अस्तित्व जानने में नहीं आया हालांकि इस न्यायशास्त्र के सिद्धांत तो धर्म और नीति के साहित्य में यत्र तत्र मिलते ही रहे थे। डा. विद्याभूषण कहते हैं कि भारतवर्ष के अन्य धर्मों की भांति ही जैनों के प्राचीन ग्रन्थों में धर्म और नीति की चर्चा में न्याय का मिश्रण हुआ तो था ही। परन्तु न्याय के ही विषय की विशुद्ध चर्चा करने का प्रथम मान सिद्धसेन दिवाकर को ही है क्योंकि विद्या की अनेक शाखाओं में से दोहन कर बत्तीस श्लोकों में न्याय विषय पर न्यायावतार नामक ग्रन्थ लिख कर इस विषय को पृथक रूप दे देने वाला जैनों में सिद्धसेन ही सब से पहला है।³

भद्रबाहु की ही भांति सिद्धसेन के साथ भी जैनों की एक स्तुति जो पार्श्वनाथ की ही है, जुड़ी हुई है। इस स्तुति का नाम 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' है। इसके विषय में निम्न दन्तकथा है:— एक समय सिद्धसेन ने अपने गुरु के समक्ष अभिमान पूर्वक यह प्रकट किया कि समग्र प्राकृत जैन साहित्य को वह संस्कृत में कर देने की इच्छा रखता है। ऐसे देवद्वेषी या पाखण्डी कथन के पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप गुरु ने उन्हें पारान्त्रिक प्रायश्चित्त का दण्ड दिया जिसके अनुसार बारह वर्ष तक का मौन धारण करते हुए उन्हें तीर्थ-भ्रमण करते रहना था। इस प्रायश्चित्त को करते हुए एकदा वे उज्जैन में पहुँचे और वहाँ के महाकाल मन्दिर में उनमें निवास किया। वहाँ उनमें शिव

1. हीरालाल, रायबहादुर, वही, प्रस्ता. पृ. 13।

2. याकोबी, समराइच्च कहा, प्रस्ता. पृ. 12।

3. विद्याभूषण, न्यायावतार, प्रस्ता. 1।

को नमस्कार और उसकी स्तुति नहीं कर, पुजारियों को अति रुष्ट कर दिया। उनसे तुरन्त जा कर राजा विक्रमादित्य से यह शिकायत की जिसने उन्हें शिव को वन्दन करने की आज्ञा दे कर बाधित किया। तब सिद्धसेन ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र के पाठ द्वारा शिव की स्तुति की, फल स्वरूप शिव प्रतिमा के दो टुकड़े हो गए और उस खण्ड में से जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रगट हो गई। इस प्रकार की दिव्य शक्ति से प्रभावित हो कर विक्रमादित्य और अनेकों ने उनसे जैन धर्म स्वीकार कर लिया।¹

पादलिप्त के विषय में हम पहले ही बता आए हैं कि उनसे राजा मुरण्ड को जैनधर्मी बनाया था। यह मुरण्ड राजा 'कान्यकुब्ज की छत्तीस लाख की प्रजा का सम्राट था।'² तरंगवती नाम की अति प्राचीन और सुप्रसिद्ध रोमांच जैनकथा के रचयिता के रूप में भी इनकी सुख्याति है। मूल कथा यद्यपि नष्ट हो गई दीखती है क्योंकि वह अब तक तो उपलब्ध नहीं हुई है, परन्तु उसका बाद का किया संक्षेप 'तरंगलोला' नाम से सुरक्षित है। संक्षेपकार नेमिचन्द्र ने उलभनभरे श्लोकों और लोकपदों को इस संक्षेप में से लोप कर दिया है। संक्षेप करने का कारण बताते हुए इस नेमिचन्द्र ने म्बयम् ही कहा है कि मूल बहुत ही विस्तृत, उलभनभरा, श्लोक-यूगलकों, षटकों, कुलकों आदि पूर्ण होने से मात्र विद्वद्यभोग्य हो गया था और सामान्य जन उसका लाभ नहीं ले सकते थे।³

फिर भी तरंगवती का ही संक्षिप्त होने पर भी तरंगलोला महान् साहित्यिक रसवाली कृति है एवम् उस समय के प्रचलित लोकवार्ता साहित्य का एक अच्छा प्रतिबिम्ब है कि जो संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही भाषाओं में तब विशाल होना चाहिए हालांकि उसके बहुत थोड़े ही ग्रन्थ हमें आज वारसा रूप उपलब्ध हैं। ऐसे साहित्य के अन्य नमूनों की ही भांति इस रोमांचक कथा में भी अन्त में नायक और नायिका दोनों ही संसार का त्याग कर दीक्षा ले लेते हैं। पूर्वभव का जाति स्मरण ज्ञान और उसके परिणाम ही इस कथा के हेतु हैं। इस कथानक में यत्र तत्र धार्मिक उपदेश और सूचनाएं भी मिलती ही हैं, परन्तु तब भी कथा उपदेशात्मक नहीं बन जाती है।

तरंगवती के सिवा, पादलिप्त के ग्रन्थों में फलित-ज्योतिष का ग्रन्थ 'प्रश्न-प्रकाश' और प्रतिमा प्रतिष्ठा पद्धति का ग्रन्थ 'निर्वाण-कलिका' या 'प्रतिष्ठा-पद्धति' प्रसिद्ध है। यह निर्वाण-कलिका प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रिया-काण्डों का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है।⁴ यह पुरातत्वविदों के लिए भी बड़े उपयोग का है क्योंकि वह जैनागमों के रचना काल और वाचना-काल याने जब कि वे लिखे गए थे, के बीच की कड़ी प्रस्तुत करता है। यह संस्कृत में लिखा हुआ ग्रन्थ है। उस काल में जैनाचार्य अर्ध-मागधी में ही रचनाएं किया करते थे। अतः उस काल की प्रथा के प्रतिकूल संस्कृत में इसकी रचना एक आश्चर्यजनक बात है। ...इसीमें आचार्य-पदवी प्रदान की भी विधि दी हुई है जो बड़ी ठाठ बाठ की है। राज्यचिन्ह जैसे कि हाथी, घोड़े, पालखी, चौरी, छत्र, योगपट्टक (पूजा करने का चित्र), खटीक (कलम), पुस्तकें, स्फटिक की जपमाला, और खड़ाऊ आचार्य को पदवीदान के समय दिए जाते थे।...नित्यकर्मविधि में अष्टमूर्ति का निर्देश भी एक महत्व का है। वह यह

-
1. हीरालाल, रायबहादुर, वही, प्रस्ता. पृ. 13। देखो इसी कथा का विक्रमचरित में दिया जैन रूपान्तर भी देखो एड्गर्टन, वही, पृ. 253। 2. वही, पृ. 251।
 3. देखो भवेरी, निर्वाण-कलिका, प्रस्तावना, पृ. 12-13।
 4. भवेरी, निर्वाण-कलिका, प्रस्ता. पृ. 1।

बताता है कि जैनो की पूजाविधि पर तांत्रिक-आगमों का जिनमें पूजनीय देव शिव है, अच्छा प्रभाव पड़ गया था ।¹

इस प्रकार जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, यह निर्विवाद है कि जैन इतिहास का अनभिलिखित युग भी साहित्य शून्य नहीं है । उस युग का भी प्राचीन साहित्य लिखा हुआ मिलता है । इस युग के जैन दन्तकथा साहित्य का हमारा यह सर्वेक्षण चूडान्त नहीं कहा जा सकता है, फिर भी ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इस युग का जैन साहित्य अन्य भारतीय साहित्य की तुलना में क्या गुण और क्या विविधता किसी भी दिशा में जरा भी कम नहीं था । इस जैन साहित्य में सभी विषय के ग्रन्थ उपलब्ध हैं । ऐसे ग्रन्थ ही नहीं कि जिनका सिद्धांत से निकटतम सम्बन्ध है, याने सैद्धांतिक, नैतिक, वादानुवादात्मिक और पक्ष-समर्थक अपितु इतिहास, दन्तकथा, महाकाव्य, रोमांचक, एवम् वैज्ञानिक जैसे कि खगोल, और भविष्य-कथन विषयक भी जैनाचार्यों ने उस काल में लिखे थे ।

1. भक्वेरी, वही, प्रस्ता. पृ. 5 ।

आठवां अध्याय

उत्तर-भारत में जैन कला

हम इस अध्याय में उत्तर-भारत की कला के इतिहास में शिलालेख, स्थापत्य और चित्रकला में जैनों के योगदान का सामान्य रूप से विचार करेंगे। डॉ. गैरीनोट कहता है कि “भारतीय ललितकला को जैनों ने अति अद्वितीय अनेक स्मारक प्रदान किए हैं। स्थापत्य में विशेष रूप से जैन उस प्रवीणता के पहुँच गए हैं कि जहाँ उनकी प्रतिस्पर्धी कोई भी नहीं है।”¹ यह निःसंशय सत्य है कि जैनों का अत्युत्तम प्रदर्शन स्थापित में हुआ है। इसका कारण जैनों का वह विश्वास है और जो भारतीय अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक भी है, कि मोक्ष की साधना में मन्दिर-निर्माण उपकारक है। इसलिए उनकी स्थापित्य रचनाएं उनकी जन संख्या की तुलना में अन्य धर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में हैं।

पहली बात तो यह है कि इनके स्थापत्य में विचित्रता बहुत पाई जाती है। वे अपने मन्दिर जंगल भरी या अनुर्वर पहाड़ियों के ढलाव में, और सजावट की जहां असीम क्षेत्र हो वैसे वियावान स्थानों में बनाना ही पसन्द करते हैं। समुद्र सतह से 3000 से 4000 फुट ऊँचे शतुंजय एवं गिरनार पर्वतों के शिखर पर मन्दिरों के भव्य नगर सुशोभित हो रहे हैं। इस प्रकार मन्दिर नगर बनवाने की विशिष्टता का अन्य धर्मों की अपेक्षा जैनों ने ही विशेष रूप से अमल किया है।² “शतुंजय के शिखर पर, विशेषतया, प्रत्येक दिशा में सुवर्णमय और रंग-बिरंगी नक्शीदार मन्दिर खुले और मूक खड़े हैं। उनमें चमकते प्रदीपों के बीच में भव्य और शांत तीर्थकरों की मूर्तियाँ हैं। इन प्रशांत मुद्राओं के समूह वाली मन्दिरों की श्रेणियाँ और गगनचुम्बी गढ़ों में के देवदेवी यह सूचना करते मालूम पड़ते हैं कि ये सब स्मारक मानवी प्रयत्न से नहीं, अपितु किसी देवी प्रेरणा से ही निर्मित हुए हैं।”³

आकार और संरचना की इस विविधता के होते हुए भी, शतुंजय और गिरनार के समूह दोनों ही, जूनागढ़ के पूर्व में स्थित बावा प्यारा नाम से कहलाते आधुनिक मठ⁴ और अनेक जैन गुफाओं के अतिरिक्त, कोई भी ऐतिहासिक उल्लेख या स्मारक नहीं है कि जिनकी सुगमता से खोज की जा सके। ऐसे कोई भी उल्लेख या स्मारक यदि वहाँ रहे होते तो भी “मुसलमान राज्यकाल की चार शताब्दियों में प्राचीनता के अधिकांश चिन्हों को मिटा दिया होगा।”⁵

कल्पना की सुन्दरता और कला का घोर संस्कार दोनों ही दृष्टि से जैन ललितकला को प्रदर्शित करने वाले अद्वितीय स्मारकों में चित्तौड़ की कीर्ति और विजय स्तम्भ, एवम् आबू-पर्वत के जैन मन्दिर गिनाए जा सकते हैं।

1. गैरीनोट, ला रिलीजियाँ जैना, पृ. 279। 2. फरग्यूसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भाग 2, पृ. 24। देखो स्मिथ, ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ. 11।
3. ईलियट, हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धीज्म भाग 1, पृ. 121।
4. देखो बर्ग्येस, आसवेइ, 1874-1875, पृ. 140-141, प्लेट 19 आदि। “यहाँ बौद्ध लक्षणिकता का कोई स्पष्ट चिन्ह तक भी नहीं है। औरों की भाँति ये भी संभवतः जैनमूल के ही हैं।” —फरग्यूसन, वही, पृ. 31।
5. वही।

तीर्थयात्रा का धाम आबू शिल्प की सूक्ष्म कोमलता एवं कलाविधान की विशिष्टता की दृष्टि से धैर्य और अत्यन्त श्रम व्यय करने वाले इस देश में भी अप्रतिम हैं। इसी प्रकार विवाद में आया मम्मेतशिशखर या पार्श्वनाथ तीर्थ, राजपूताने में सादड़ी मारवाड़ के निकटस्थ राणकपुर का भव्य मन्दिर, पटना जिले का पावापुरी का जल मन्दिर व थलमन्दिर¹ आदि का नाम बताया जा सकता है। परन्तु जैनों के कला के प्रति प्रेम प्रदर्शन करानेवाले स्थापत्य के ये उदाहरण जैन शिल्पकला के या तो प्रथम अथवा महाम् युग के हैं जो कि ई. 1300 अथवा उसके कुछ काल बाद तक चलता रहा था,² अन्यथा जैन स्थापत्य की मध्य शैली के हैं,³ कि जिसका पुनरुज्जीवन पन्द्रहवीं सदी में मेवाड़ बंश के अति शक्तिशाली राजाओं में से एक राणा कुम्भा के राज्यकाल में हुआ था कि जिसकी राजधानी चित्तौड़ थी। जैनों के इन सर्वांग सुन्दर स्मारकों से सम्बन्ध रखनेवाली स्थापत्यकला, प्राचीनता और पौराणिकता का खोज करवा रसप्रद और ज्ञान वर्धक हो सकता है, परन्तु ऐसा करने के लिए हमें अपने लक्ष्य से बाहर जाना होगा जो किसी भी तरह से उचित नहीं है।

स्थपितों की तरह ही जैनों की चित्रकला के अवशेष में भी ऐसे कोई नहीं हैं कि जो हमारी काल मर्यादा में आ सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय ललितकला के नमूने जो कि जैनों के गम्भीर प्रभाव में विकसित हुए हैं, सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थों में जैन दन्तकथा और परमार्थविद्या की रचनाओं में क्षमापना या विज्ञप्तिपत्रों में कि जो जैन श्रावक और श्रमण पड़ोस के आचार्यों को सम्बत्सरिका पर भेजने के लिए महान् परिश्रम और सजावट से तैयार करते थे, देखे जा सकते हैं। परन्तु ये सब जैन रस-संवेद कला के विशिष्ट नमूने इसवी 12वीं सदी से प्रारम्भ होनेवाले मध्यकालीन गुजरात या जैन काल के हैं।⁴

हमारे ही निर्दिष्ट काल के जैन स्थापत्य और मूर्तिशिल्प के अवशेषों का विचार करने पर हम देखते हैं कि हमारे मुख्य साधन उदयगिरि और खण्डगिरि की उड़ीसा की गुफाएँ, जूनागढ़ का गिरनार पर्वत, मथुरा का कंकाली टीला और अन्य टेकरियों आदि को स्थापत्य हैं। परन्तु इनका विचार करने के पूर्व भारतीय ललितकला की कुछ लाक्षणिकता पर सामान्य रूप में कुछ प्राथमिक बातें कह देना आवश्यक है।

पहली बात जो इस सम्बन्ध में स्मरण रखने की है वह यह है कि भारतीय ललितकला का साम्प्रदायिक वर्गीकरण, जैसा कि फरग्यूसन ने माना है, कुछ दोषयुक्त ही है। सच बात तो यह है कि स्थापत्य या मूर्तिशिल्प में बौद्ध जैन, या हिन्दू शैलियाँ हैं ही नहीं। जो कुछ है ये हैं अपने युग की भारतीय शैली के बौद्ध, जैन और हिन्दू अवशेष।⁵ ये अवशेष कला के औपचारिक विकास में प्रान्तीय विभेद ही दिखाते हैं जो कि विष्णु शैली में

1. थल-मन्दिर...पण्डों के अनुपार, महावीर का निर्वाण हुआ उसी स्थल पर बना हुआ है और जल-मन्दिर उनके दाहसंस्कार के स्थान पर,"—विउडिगप, पृ. 224। देखो वही, पृ. 72।
2. फरग्यूसन, वही, पृ. 59।
3. वही, पृ. 60
4. देवो मेहता, स्टडीज इन इण्डियन ऐंटीग, पृ. 1-2; परसी ब्राउन, इण्डियन ऐंटीग, पृ. 38, 51।
5. व्हूलर ने मथुरी की खोजों के सिखाए पाठ पर बल देते हुए कहा है कि भारतीय ललितकला साम्प्रदायवादी नहीं दी थी। बौद्ध, जैन और हिन्दू, सब धर्मों ने अपने काल और देश की कला का उपयोग किया है और सब ने समान रूप से लाक्षणिक और रवाजी हथकण्डों के सामान्य कोश से प्रेरणा प्राप्त की है। स्तूप चैत्यबृक्ष, कट-हरे, चक्र, आदि आदि जैनों, बौद्धों और सनातन हिन्दुओं को धार्मिक या सजावट के रूप में समान रूप से प्राप्त थे। स्मिथ, दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा, प्रस्तावना, पृ. 6। देखो व्हूलर, एपी. इण्डि., पुस्त 2, पृ. 322।

साम्प्रदायिक विभिन्नताओं हमें भारतीय कला के साम्प्रदायिक विभाजन या वर्गीकरण की ओर ललचाती है, परन्तु यह ठीक नहीं है।¹ इसमें संदेह नहीं, जैसा कि हम आगे चल कर देखने ही वाले हैं, कि प्रत्येक धर्म की विविध अनिवार्य आवश्यकताओं का प्रभाव, विशिष्ट अभिप्राय के आवश्यक संरचना के स्वभाव पर पड़ता है, परन्तु फिर भी ललितकला कृतियाँ जिनमें स्थापत्य भी समाविष्ट है, उनकी भौगोलिक स्थिति और आयु की दृष्टि से ही वर्गीकरण की जाना चाहिए न कि जिस धर्म की सेवा के लिए उनकी कल्पना की गई हो उसकी दृष्टि से।²

इसलिए स्थापत्य या शिल्प की जैन शैली जैसी कोई भी बात नहीं है। यह बात इससे और भी स्पष्ट हो जाती है कि बौद्ध एवम् जैन दोनों ही के प्रमुख मूर्ति-शिल्प इतने तादृश हैं कि उन्हें ऊपर दृष्टि से देखने वाला इस प्रकार वर्गीकरण कर ही नहीं सकता है कि अमुक-अमुक सम्प्रदाय का है और अमुक-अमुक सम्प्रदाय का। इस प्रकार का शीघ्र विवेक करने के लिए पर्याप्त और लम्बे अनुभव की आवश्यकता है।³

भारतीय कला के अभ्यासी के लिए दूसरी महत्व की बात यह है कि यद्यपि सब भारतीय कला धार्मिक ही है⁴ फिर भी भारतीयों को धार्मिक, सौन्दर्य, और वैज्ञानिक दृष्टि अवश्य ही विरोधात्मक नहीं है, और उनकी सभी कला कृतियों में, चाहे वह शान-वाद्य की, साहित्यिक या भास्कर्य किसी की भी क्यों न हो, ये दृष्टिकोण कि जिन्हें आजकल इतनी स्पष्टता से व्यक्त किया जाता है, अपार्थक्यरूप में मिले हुए होते हैं। यह निःसन्देह देखना ही शेष रह जाता है कि यह मर्यादा या अनुशासन शक्ति के श्रोत का काम देता है अथवा उसे उपदेशी अभिप्राय का दास बना देती है। फिर भी यद्यपि धार्मिक कथा, प्रतीक या इतिहास कलाकार को कार्य करने की प्रेरणा देते हैं, परन्तु वे ही उसको हाथ चलाने की प्रेरणा नहीं देते हैं। ज्यों ही वह काम करने लगता है, कला उन्मुख हो जाती है और वह इन तीनों ही से भाववही प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। यही कारण है कि “नवजागृत इटली का प्रचण्ड धर्मोत्साह अपने समस्त चित्र प्रतीकों सहित अपने कलाकारों को उपदेशक की अपेक्षा कुशल चित्रकार बनने से रोक नहीं सका था और वे धर्म-प्रचारक की अपेक्षा मण्डनकारों के प्रति ही निष्ठावान रहे थे। सिग्नोरेली, इसी कारण अपने पवित्र प्रसंगों को वास्तविक जीवन से प्रेरित कला की अपनी खोजों के प्रमुख साधन रूप में

1. देखो कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट, पृ. 106। परन्तु, यद्यपि प्रायः सब भारतीय कला धार्मिक है, यह सोचना भ्रमपूर्ण है कि शैली धर्म पर निर्भर करती थी फरग्यूसन का आर्ष ग्रन्थ हिस्ट्री आफ इण्डियन आर्किटेक्चर इस भ्रामक मान्यता से कि बौद्ध जैन और हिन्दू की स्पष्ट शैलियाँ विद्यमान थी, बुरी तरह भ्रष्ट हो गया है। स्मिथ, ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ. 9।
2. वही।
3. जैन स्तूपशिल्प में बौद्ध स्तूप से कुछ भी भिन्न नहीं होते हैं और जैन वक्रोय शिखर हिन्दू मन्दिरों के शिखरों के समान ही प्रायः होते हैं। “-वही।”...अत्यन्त सुशिक्षित व्यक्ति भी एक प्रकार की मूर्ति का दूसरी मूर्ति से विवेक नहीं कर सकते हैं।” -राव, एलीमेंट्स आफ हिन्दू आर्किटेक्चर, भाग 1, खण्ड 1, पृ. 220।
4. देखो कुमारस्वामी, दी आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स आफ इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ. 16। नियाम याने शास्त्रानुसार (निर्मित मूर्ति) सुन्दर होती है, अन्य कोई भी निश्चय ही सुन्दर नहीं होती; कोई उसे सुन्दर (कहते हैं) जो (उनकी ही) अपनी कल्पनानुसार होती है; परन्तु वह जो शास्त्रानुकूल नहीं होती, जानकार मर्मज्ञों को वह असुन्दर (लगती है)। वही। हिन्दू सदा ही धार्मिक उदाहरण के व्याज से सौन्दर्य-विज्ञान के तत्व ही प्रस्तुत करते हैं। स्मिथ, वही, पृ. 8।

व्यवहार किए बिना नहीं रह सका था और फ्रा बरटोलोमिओ के प्रशंसकों ने उसकी सर्वोत्कृष्ट और अतीव आकर्षक सन्त सेबास्टियन की प्रतिकृति को गिरजाघर की भीत पर से सखेद उतार दिया था।”¹

भारतीय कला विषयक इस सामान्य चर्चा के पश्चात् अब हम जैनों के विशिष्ट कलावशेषों का विचार करें। इसमें उड़ीसा की गुफाएं हमारा ध्यान सर्व प्रथम आकर्षित करती हैं कि जो भारतीय गुफाओं में अति रसप्रद और साथ ही विलक्षण हैं। वे गुफाएं अधिकांश जैन ही हैं, इसमें शंका ही नहीं की जा सकती है। “कलिंगदेश में जैनधर्म” शीर्षक अध्याय में इन गुफाओं में पाई जाने वाली तीर्थकरों की प्रतिमाओं और उसमें भी पार्श्व की अनेक मूर्तियों एवं उसके सर्प-फण लांछन की अनेक आकृतियों को लेकर उनको दिए प्रमुख स्थान आदि का निर्देश कर चुके हैं। गुफाओं के निरीक्षण में कोई ऐसे अवशेष उपलब्ध नहीं होते हैं कि जो स्पष्टतया बौद्ध कहे जा सकते हैं। दागोबा, बुद्ध या बोधीसत्व, बौद्ध दन्तकथाओं में स्पष्टतया खोज निकाले जा सकने वाले दृश्य, कोई भी वहाँ नहीं हैं। उनमुक्त या नोकदार त्रिशूल, स्तूप, स्वस्तिक, बन्ध कटहरे बाड़ लगे वृक्ष, चक्र, श्री देवी वहाँ अवश्य ही पाए जाते हैं, परन्तु ये प्रतीक तो जैनों में भी इतने ही प्रचलित हैं जितने कि अन्य धर्मों में।² फिर इस तथ्य को सभी मान्य विद्वानों के सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया है। पुरातत्वज्ञों और शिल्पविशारदों जैसे कि ओ ‘भाले,³ मन मोहन चक्रवर्ती,⁴ ब्लाक,⁵ फरग्यूसन,⁶ स्मिथ,⁷ कुमारास्वामी,⁸ आदि आदि ने।

इस प्रकार आज वर्तमान प्राचीनतम मूर्तिशिल्प के नमूने बताते हैं कि अन्य धर्मों की भांति ही, जैनों ने भी अपने साधुओं के निवास के लिए गुफाएं या भिक्षु-गृह खुदवाए थे। परन्तु उनके धर्म की व्यवहारिक आवश्यकताएँ पूरी करने जितनी ही उनके निर्माण की शैली पर प्रभाव अवश्य ही पड़ा था। यह एक सामान्य नियम था कि जैन मुनि बड़ी संख्या में एक साथ नहीं रहते थे और साथ ही उनके धर्म की प्रकृति के कारण भी उन्हें बौद्ध चैत्यों के से बड़े बड़े विहारों की आवश्यकता नहीं होती थी। जैसा कि पहले ही हम देख आए हैं, जैन सम्प्रदाय के प्राचीनतम और अधिकतम इस प्रकार की प्राचीन गुफाएं उदयगिरि नाम की पूर्व की ओर की पहाड़ी में हैं। आधुनिक गुफाएं पश्चिमी अंश में हैं जो कि खण्डगिरि नाम से प्रख्यात है। उनके दिखाव की भव्यता, उनके शिल्प और स्थापित की बारीकियों की लाक्षणिकता उनकी प्राचीनता से मिल कर उन्हें सूक्ष्म सर्वेक्षण के परम योग्यतम बना देती हैं।⁹

1. मोलोमन, दी चार्म आफ इण्डिय आर्ट, पृ. 86-87।
2. देखो चक्रवर्ती, मनमोहन, वही, पृ. 5; फरग्यूसन, वही, पृ. 11।
3. ओ ‘भाले’, बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी, पृ. 266।
4. अपनी यात्राओं में इन गुफाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करने के पश्चात् मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि सभी गुफाएं, जहाँ तक कि वर्तमान सामग्री कहती है, जैनों की कही जानी चाहिए न कि बौद्धों की। चक्रवर्ती, मनमोहन, वही और वही स्थान।
5. गुफाओं बौद्धधर्म का कुछ भी नहीं है, परन्तु दृश्यतः सब ही जैनों की हैं, यह तथ्य प्रायः सभी अधिकारी विद्वानों द्वारा, मैं समझता हूँ कि सामान्यरूप में...स्वीकृत है। देखो वही, पृ. 20।
6. बहुत थोड़े ही दिनों पहले तक, फिर भी, भ्रम से बौद्ध मानी जाती रही हैं, हालांकि वे ऐसी स्पष्टतः कभी भी नहीं थी। फरग्यूसन, वही, भाग 1, पृ. 177। 7. देखो स्मिथ, वही, पृ. 84।
8. देखो कुमारास्वामी, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट पृ. 37।
9. फरग्यूसन, वही, भाग 2, पृ. 9।

स्थपित की दृष्टि से नहीं तो पुरातत्व की दृष्टि से तो अवश्य ही हमारा ध्यान आकर्षण करनेवाली उदयगिरि की गुफाओं में हाथीगुंफा की गुफा है जो कि एक बड़ी प्राकृतिक गुफा है और उसका शैलप्रान्तलेख लिखने के उपयुक्त चिकना कर दिया गया प्रतीत होता है। इस लेख का विचार तो विस्तार से हम पहले कर ही चुके हैं। आज जिस रूप में यह गुफा खड़ी है, उसमें शिल्प की विशिष्टता बहुत ही न्यून रह गई है। परन्तु इतना निश्चय तो है ही कि उसके प्राकृतिक होने के बावजूद, परन्तु उसके अभिलेख की महत्ता को देखते हुए हाथीगुंफा कुछ कम महत्व की गुफा नहीं होना चाहिए। इसका यह कारण कि पहाड़ों के टोलों में गुफा या मन्दिर खोदने की भावना शाश्वत पुण्य की आकांक्षा में से उद्भव होती है और वैसे स्थान या मन्दिर या स्मारक कठोर पाषाण पर्वत-खण्डों में ही बनाए जा सकते हैं क्योंकि जब तक ये स्मारक खड़े रहते हैं, वहाँ तक उनके निर्माता को पुण्य प्राप्त होता रहता है। फिर इस हाथीगुंफा को कला की दृष्टि से व्यापक कि याने और सुधारने गया था, यह इस बात से समर्थित होता है कि सामान्यता गुफा-खोदनेवाले ऐसी चट्टान ही इसके लिए पसन्द करते हैं कि जो ठोस होने के साथ ही दरार और सलवाली भी नहीं हो न कि प्राकृतिक खोह। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक खोह का टोल पोला होता है और उसके कमी टुकड़े टुकड़े भी हो सकते हैं और इसलिए उसमें रहनेवालों को जीवन का भय सदा ही बना रहता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, कला की दृष्टि से उदयगिरि टेकरी की रानी और गणेश गुफाएं रोचक हैं। ये दोनों वेष्टनीवाली दुमजिली गुफाएं हैं और इनके ऊपर एवं नीचे की ओमारी में अनेक भवन-द्वार हैं। रानी गुफा सब गुफाओं में बड़ी और सुन्दर सजी हुई है।¹ उसकी भव्य नक्काशीदार वेष्टनियां मानवी प्रवृत्तियों के सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करती हैं। इन उत्कीर्णित दृश्यों में और गणेशगुफा में बहुत-कुछ उनके ही पुनरावृत्ति के विषय में जिला विवरणिका एवम् चक्रवर्ती आदि सूत्रसिद्ध विद्वानों के अनुसार पार्श्व के जीवन प्रसंग प्रस्तुत किए गए हैं। इस बात का विचार हम पहले ही कर चुके हैं, अपितु हम इन वेष्टनियों के दृश्यों के विषय का भी विस्तार से कुछ कुछ विचार कर चुके हैं।

इन प्राचीन जैन अवशेषों के शिल्प के विषय में हम देखते हैं कि, मथुरा शिल्प के नमूनों की ही भांति जिनका कि विचार हम आगे करने वाले हैं, इनमें भी स्त्रियों और पुरुषों के वस्त्र एवम् वेश-भूषा में ग्रीक और भारतीय तत्वों का समिश्रण है। ई. पूर्व युग की सदियों में यवन भारतवर्ष में बहुत भीतर तक प्रवेश कर गए थे, यह बात जहाँ स्वतः प्रमाणित है वहाँ खारवेल के हाथी गुंफा लेख से भी यह प्रमाणित होता है जिसमें यवनराज डिमेट्रियस को भारतवर्ष से पीछा हटा देने में खारवेल के प्रभाव का वर्णन है। फिर इन दृश्यों के चित्र, मथुरा शिल्प की भांति ही, कुछ ऊंचे उभरे खुदे हैं और इनमें की स्त्रियां बहुत मोटे सांकले भी पैरों में पहनी हुई हैं। उड़ीसा और अन्य जैन अवशेषों की यह विशिष्टता इस वक्तव्य की सत्यता का उचित ही समर्थन करती है कि "पृथ्वी भर के निवासियों में शृंगारिक भूषणों का आदान-प्रदान उसी समय से चलता रहा होगा जब से कि मनुष्य ने पहले पहले सज्जा रूपों का चेतन रूप में पैदा करने लगा था। और यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि इस प्रकार के नकल किए भूषणों में नकलकर्ताओं द्वारा प्रयोग करते समय अवश्य ही कुछ संस्कार हुए बिना नहीं रहा था। इस प्रकार की नकल और संस्कार की व्यापकता असीम है और ये भूषण अपने मूल स्थान में अद्भुत रूप से परिवर्तित हुए वापिस भी पहुँच जाते हैं परन्तु बहुधा उनका पहचानना ही संभव नहीं होता है।"⁴

1. देखो कुमारास्वामी, वही, पृ. 38।

2. एण्ड्रूज, इंप्ल्यूएन्सेज आफ इण्डियन आर्ट, प्रस्तावना, पृ. 11।

प्राक्-गंधार युग की भारतीय या जैन कला में विदेशी तत्वों के प्रवेश की इस बात के सिवा भी, हमारी यह सम्मति है कि इस प्राचीन जैन शिल्प में विशिष्ट चारुता रही हुई है। भूषणों की प्रचुरता और कला की प्रवीणता के अतिरिक्त उसमें भवों की अद्भुत ताजगी और पुष्टि कारक आनन्द अज्ञातभाव वर्तमान है। ये उभरे भास्कर्य, मानव प्रवृत्तियों के अन्य दृश्यों में, याने आखेट, लड़ाई, नाच, मद्यपान और प्रेम-प्रदर्शन के दृश्य दिखाते हैं, और फरग्यूसन के अनुसार, इनमें "धर्म अथवा प्रार्थना के किसी भी रूप के दृश्यों के सिवा"¹ और सभी कुछ दिखाए गए हैं। स्वस्थ प्रजा की यह ऊष्मा सभी उत्तम बौद्ध एवं जैन कला की विशिष्टता है और गंधार सम्प्रदाय की आर्ष सीमा से वह अवश्य ही किसी अंश में दब गई कि जो बाद में सामने आई।

उड़ीसा के जैन अवशेषों की विशेष चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती है, फिर भी मथुरा के जैन अवशेषों का विचार करने के पूर्व कला विषयक जैन योगदान की दो विशिष्टताओं का उल्लेख करना आवश्यक है। पहली विशिष्टता है स्तूप के रूप में अवशेष-पूजने की प्रथा और दूसरी जैनों में मूर्ति-पूजा। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हाथीगुंफा शिलालेख की चौदहवीं पंक्ति से हमें पता लगता है कि मथुरा शिल्प-युग के बहुत पहले से ही बौद्धों की भांति जैनों में भी अपने गुरुओं के अवशेषों पर स्तूप या स्मारक खड़े करने की प्रथा प्रचार में थी। "प्राचीनतम स्तूप निःसन्देह किसी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रतीक नहीं थे। वे अग्निदाह के स्थान में भूमि में दबा देने की प्रथा के साथ-साथ मृतों के स्मारक मात्र थे।"² हो सकता है इस प्रकार की पूजा बौद्धों की भांति जैनों में इतनी प्रचार नहीं पाई हो। परन्तु यह तो निश्चित है कि थोड़ी ही लोकप्रियता के पश्चात् वह अप्रचलित हो गई थी। परन्तु मथुरा के बौद्ध स्तूप से कि जो, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, देव निर्मित था, हम यह दृढ़ता से कह सकते हैं कि जैन में स्तूप-पूजा भी कभी एक निश्चित स्थिति को पहुंच गई थी।

ऐसा कहने का मुख्य आधार यह है कि स्तूप, मूलतः, किसी नेता या धर्माचार्य की मस्मि पर मिट्टी के ऊँचे ऊँचे ढेर मात्र ही थे और उनकी रक्षा के लिए काष्ठ की बाड़ उनके चारों ओर लगा दी जाती थी। बाद में ये ही मिट्टी के अंतरतम अंश सहित ईंट या पाषाण के बनाए जाने लगे और काष्ठ-बाड़ भी पाषाण बाड़ में बदल गई।³ मथुरा के बौद्ध एवं अन्य स्तूपों के दिखाव पर से उनका प्रारम्भिक रूप प्रगट नहीं होता है। यह हम उनको देखते ही कह सकते हैं उनमें हम काष्ठ-बाड़ के स्थान में पाषाण की बाड़ पाते हैं और उनके बाह्य भाग को अत्यन्त सजाया हुआ भी देखते हैं।

दूसरी बात जिसका कि हमें विचार करना है, वह है जैनों का मूर्तिशिल्प। हाथीगुंफा शिलालेख से हम जानते हैं कि जैनों में अपने तीर्थंकरों की मूर्तियाँ नन्दों के काल में भी बनती थीं। इसका किसी अंश में समर्थन मथुरा के अवशेषों से भी होता है। जिनसे हम जानते हैं कि इण्डो-सिथिक काल के जैनों ने किसी प्राचीन मन्दिर के सामान का उपयोग मूर्तिशिल्प में किया था। स्मिथ के अनुसार यह इतना तो अवश्य ही प्रमाणित करता है कि मथुरा में ई. पूर्व 150 के पहले जैन मन्दिर कोई अवश्य ही था।⁴ फिर जैनों के दन्तकथा साहित्य से भी हमें जानना पड़ता है कि, महावीर के जीवन काल में भी, उनके माता-पिता एवम् उस समय का जैनसंघ पार्वनाथ तीर्थंकर को पूजते थे। जैनों में मूर्तिपूजा निश्चित रूप से कब प्रवेश हुई थी, इस प्रश्नों की मीमांसा करने की हमें

1. फरग्यूसन, वही, पृ. 15।

2. हेण्यल, एंशंट एण्ड मैडीवल आर्किटेक्चर आफ इण्डिया, पृ. 46।

3. कजन्स, आर्किटेक्चरल एण्टीक्विटीज आफ व्यैस्टर्न इण्डिया, पृ. 8।

4. स्मिथ, दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा, प्रस्तावना पृ. 3।

आवश्यकता नहीं है, हालांकि यह तो निश्चित प्रतीत होता है, किसी न किसी रूप में यह महावीर काल से तो जैनों में प्रचलित ही है।

मूर्तिपूजा का प्रथम हमारा विचारणीय नहीं है, परन्तु मूर्ति-शिल्प का अवश्य ही विषय हमारे लिए विचारणीय है। पूजा के मुख्य पदार्थ तो चौबीस तीर्थंकर ही हैं, परन्तु, महायान बौद्धों की भांति ही, जैनों ने भी हिन्दू देवी-देवताओं का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है, यही नहीं अपितु उन्हें अथवा उनमें से ऐसों को अपने मूर्ति-शिल्प में स्वीकार कर लिया है कि जिनका सम्बन्ध उनके तीर्थंकरों की कथाओं के साथ है। ऐसे वे देव-देवी हैं, इन्द्र, गरुड़, सरस्वती, लक्ष्मी, गन्धर्व, अप्सरा आदि आदि। इनका एक अपना ही देवसमाज है जिसके उनसे चार विभाग माने हुए हैं, यथा भवनाधिपति, व्रतंर, ज्यौतिष्क और वैमानिक।¹ जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है तीर्थंकरों की पहचान उनके चिन्ह या लांछन द्वारा होती है कि जो उनकी मूर्ति के नीचे चिन्हित या अंकित होता है। हमने यह भी देखा कि उड़ीसा की एक से अधिक गुफाएँ लांछनवाली तीर्थंकरों की मूर्तियों और कुछ उभरी खुदी बैठी मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार की जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मथुरा के अवशेषों में भी प्राप्त हैं। वे मूर्तियाँ एक वर्ग रूप से दिगम्बर शैली की ही हैं।² इस प्रकार ऐतिहासिक रूप से भी चौबीस तीर्थंकरों की चौबीसी की दृढ़ मान्यता प्रत्येक तीर्थंकर के अपने ही लांछन या चिन्ह सहित, न केवल ईसवी युग के प्रारम्भ से अपितु उससे पूर्व से ही प्रचलित थी।

तीर्थंकरों की मूर्तियाँ सामान्यतः बुद्ध की मूर्ति के समान ही पालगथी (पैर पर पैर रख कर बैठना) लगा कर बैठे आकार में और शांत, ध्यानमग्न अवस्था में देखी जाती हैं। यदि उड़ीसा एवम् मथुरा दोनों ही मूर्ति-शिल्पों में नर्तकियों की आकृतियाँ विक्रम की द्योतक हैं तो योगी मुद्रा में बैठी जिन मूर्तियाँ उतनी ही विकास के प्रत्याहार और पूर्ण स्वातंत्र्य की हृदयग्राही मूर्तियाँ हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह देहदमन का प्रतीक नहीं है। यह तो भारतीय विचारकों द्वारा ध्यान के लिए स्वीकृत सब से सुगम अनादि कालीन मुद्रा है। इसे अभिव्यंजना-शून्य नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि वह वैयक्तिक विशिष्टता जिसे सामान्यतया अभिव्यंजना प्रदर्शक माना जाता है, नहीं बताती है। पक्षान्तर में रोथेनस्टीन के अनुसार, समाधि याने धार्मिक अन्वयनस्कता के नमनीय व्याख्या कला के इतिहास में एक सर्वोच्च कल्पना है और इसके लिए समस्त संसार भारत को मनोधि-मस्तिष्क का ऋण है। ध्यानस्थ दशा का यह मूर्त स्फटिकीकरण, 'वह विद्वान कहता है कि,' आकार में इतना पूर्ण एवम् अनिर्वाय विकसित हुआ कि 2000 वर्ष से अधिक होने पर भी वह मनुष्य निर्मित प्रतीकों में का अत्यन्त प्रेरक और सन्तोषकारक एक है।"³

अब हम मथुरा के जैन अवशेषों का विचार करें। यह नगर स्मरणातीत प्राचीन है। परन्तु जैनावशेष कटरा के आधा मील दक्षिण स्थित कंकाली नामक टीले से और उसके आसपास की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। इसी को जैनी टीला भी कहा जाता है। भारतीय कला के इतिहास में इन अवशेषों का महत्व दो कारणों से है। पहला तो यह कि ये प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय कला की शृंखला रूप है और दूसरा यह कि इनकी उस गंधार सम्प्रदाय से अत्यन्त ही घनिष्टता है कि जिसका उत्तर-पश्चिमी सोमा का गंधार क्षेत्र केन्द्र था और वहीं

1. देखो व्हूलर, इण्डियन सेक्ट आफ दी जैनाज, पृ. 66 आदि।
2. देखो वोग्गल कैटेलोग आफ दी आर्कियालोजिकल म्यूजियम एट मथुरा, पृ. 41। विशेष विवरण मथुरा संग्रहालय की तीर्थंकरों की मूर्तियों के लिए देखो वही, पृ. 41-43, 66-82।
3. रोथेनस्टीन, एक्जाम्पुल्स आफ इण्डियन स्कल्पचर प्रस्तावना, पृ. 8।

इस सम्प्रदाय की अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। “भौगोलिक दृष्टि से,” स्मिथ कहता है कि, “मथुरा उत्तर पश्चिम के गंधार, दक्षिण-पश्चिम की अमरावती और पूर्व के सारनाथ से केन्द्र स्थानीय है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि वहाँ की कला में ऐसे मिश्र लक्षण दीख पड़ें कि जो एक ओर तो उसको गंधार की यावनी कला से जोड़ देते हैं तो दूसरी ओर विशुद्ध अन्तर भारतीय कला सम्प्रदाय से।”¹

यह गंधार-मथुरा सम्प्रदाय सम्भवतः ई. पूर्व पहली सदी में उद्भूत हुई होगी और ई. 50 से 200 तक के काल में पूर्ण विकसित रूप में चमकी होगी।² भारत की प्राचीन कला में यावनी नमूनों के स्वीकरण से इसका उद्भव हुआ कि जो अनैः शनैः उसकी ही आत्मा रूप हो गए।

“गंधार सम्प्रदाय,” डॉ. बान्येट कहता है कि, “एक उपचित वाक्य है जो यह प्रकट करता है कि अनेक कलाकारों के विविध सामग्रियों में काम करती अनेक पीढ़ियों में विविध कला कौशल वाले परिश्रम का यह फल है। कभी कभी यावनी नमूनों का अन्धानुकरण भी किया गया था और इस चतुराई पूर्ण तकल में उन्हें सफलता शायद ही प्राप्त हुई है। सामान्य रूप से देखें तो उनसे भी अधिक किया था। म्लेच्छ कला की आकृतियों, वस्त्रों, भावनाओं आदि का स्वीकार करते हुए उनसे ग्रीक प्रभा और सुषुमा, सौंदर्य और सुसंगति, का भी आयात किया जिससे पुरानी कला की आकृतियाँ, कला की मानवीयता और सत्यता को निर्बल किए बिना, उच्च स्तर को उठ गई।”³

भारतीय कला में इन विदेशी तत्वों का समावेश और भारतीय कला का विदेशियों द्वारा स्वीकरण दोनों ही बाहरी दुनिया के साथ भारतीय राजनैतिक एवम् व्यापारिक सम्बन्ध के आभारी हैं। यही कारण है कि आज का भौगोलिक भारत भिन्न-भिन्न जातियों का निवास स्थान है कि जिनका कला का आदर्श, धर्म का आदर्श एकसा बिलकुल ही नहीं हैं और जिनसे, अधिकांश में परवर्ती ऐतिहासिक काल तक में परदेश से आए हुए होने से, सुशोभन कला के विदेशी तत्वों का प्रवेश किया, परन्तु जो उन परदेशियों की ही भांति, यहाँ के ही हो गए हैं यहाँ नहीं अपितु स्थानीय हरिद्वारों भी उनसे प्राप्त कर लिया है। फिर भी एण्ड्रयूज के अनुसार, जलवायु और अन्य कारणों से उन देशों से कि जो भारतीय सम्पर्क से विशेष प्रभावित हुए थे, कला-विषयक कोई भी रोचक तथ्य प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं और इसीलिए ‘कलाओं का हमारा अधिकांश ज्ञान उन पदार्थों के आन्व्यंतरिक साक्षियों से ही संग्रहित किया जा सकता है कि जो जलवायु एवं धर्मान्धता की विनाशक शक्तियों से आज तक बचे रह गए हैं।’⁴

मथुरा सम्प्रदाय के विषय में सामान्य प्रस्ताविक विचार करने के बाद, अब हम वहाँ के जैन शिल्प के कुछ उदाहरणों का विचार करेंगे जो कि कंकाली टीला से प्राप्त हुए हैं। कला-देवी अपने भक्तों से जो निर्विवाद तन्मयता मांगती है, वह जैन कलाविदों ने कितने प्रमाण में साधी है और यवन तत्वों विशुद्धआत्मीकरण करने में वे कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका भी हम विचार करेंगे।

जिन कतिपय मथुरा शिल्प के नमूनों का हम यहाँ विचार करने वाले हैं उनमें पहले हम आयागपटों का विचार करें कि जो बहुत रोचक और सुन्दर कलाकृतियाँ हैं। ‘आयागपट’, डा. वूलर कहता है कि. ‘एक शोभा

1. स्मिथ, हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन पृ. 233। देखो, योग्वल, वही, पृ. 19।
2. “इस सम्प्रदाय की कला की यह पराकाष्ठा का काल ई. 50 से ई. 150 या 200 तक का कहा जा सकता है।” -स्मिथ, वही, पृ. 99।
3. बान्येट, एण्टीक्विटीज आफ इण्डिया, पृ. 253। 4. एण्ड्रयूज, वही, प्रस्तावना पृ. 12।

शिला है कि जिसमें जिन की प्रतिकृति या कोई अन्य पूज्य प्राकृति होती है। इस शब्द की यथाविहितरूप में व्याख्या' पूजा या समर्पण की शिला की जा सकती है क्योंकि ऐसी शिलाएँ मंदिरों में स्थापित की जाती थीं और जैसा कि उन पर के अनेक शिलालेखों से कहा हुआ है, 'अर्हंतों की पूजा के लिए !'... इसका प्रयोग जैनों में बहुत काल पहले ही स्थगित हो गया था जैसा इन पर के लेखों के प्राचीन अक्षर अनिवायतः प्रगट करते हैं, और जिनमें कहीं भी कोई तिथि नहीं दी गई है।¹

प्राचीन जैन कला के आयागपट एकान्त नहीं अपितु प्रमुख लक्षण हैं। जैसा सामान्यतः देखा गया है, इन अति संवारे पटों के विषय में भी जैन शिल्प का लक्ष्य 'सौन्दर्य की स्वतन्त्र कृति प्रस्तुत करना नहीं था। उनकी कला स्थापित स्मारकों के सजावट की परतन्त्र कला ही थी।'² फिर भी यह कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है कि मध्य स्थान में शोभती बैठी जिन की योगी-मुद्रा, विविध प्रकार के पवित्र प्रतीकों सहित अत्यन्त सुशोभित त्रिशूल, उत्कृष्ट वक्र्रीयविमण्डन, और ईरानी-अकीमीनी शैली में मोटे मोटे स्तम्भ कला-प्रेमी दर्शक को आसानी से यह विश्वास नहीं करने का पूर्वग्रही कर दें कि मथुरा शिल्प का प्रमुख ध्येय प्रतीक प्रदर्शन ही था और इसी ध्येय से 'इन पूजा की शिलालेखों' पर शिल्पीने अपनी छेनी चलाई थी। पश्चान्तर में, इन आयागपटों के सम्बन्ध में तो अवश्य ही, एक कदम और आगे बढ़ कहा जा सकता है कि उनकी कृतियों की स्वतन्त्रता और सजीवता में ही उनकी कला की उत्कृष्टता प्रगट हुई है, और इस प्रकार स्वयम् उत्साही कलाकार होने के कारण शिल्पीने धार्मिक विषयों को ही एक बहाना मात्र, न कि अपनी कृतियों का साधन और साध्य, रूप में बहुधा प्रयोग किया ऐसा ही लगता है।

दो ही आयागपटों का वर्ण करना यहाँ पर्याप्त है— एक तो नातिवक फगुयश³ की पत्नि शिवयशा स्थापित, और दूसरा महाक्षत्रप शोडास के राज्यकाल के 42वें वर्ष में उत्सर्गित आमोहिनी का जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। पहले में, स्मिथ के अनुसार, जैन स्तूप का एक सुन्दर दृश्य दिया हुआ है जिसके चारों ओर कटहरे द्वारा सुरक्षित एक भमती (परिक्रमा) है। उस भमती तक अति सुसज्जित तोरण द्वार में हो कर पहुँचा जा सकता है और द्वार चार सोपान की चाढ़ी से। द्वार के नीचे ही नीचे के शहतीर से एक भारी माला लटक रही है। कमर में कटिबन्ध स्वरूप परिच्छद और सामान्य अलंकार याने कटिमेखला के अतिरिक्त सम्पूर्णतया नग्न नर्तिका द्वार के दोनों ओर कटहरे के ऊपर असम्य रीति से खड़ी या टिकी हैं। विचित्र पाये वाले दो भारी स्तम्भ भी दिखाए गए हैं, और कटहरे का कुछ भाग ऊपर की भमती को घेरा हुआ भी दीखता है।'⁴

इस सुन्दरता से तक्षित तोरण पर एक संक्षिप्त अर्पण-पत्रिका उत्कीर्णित है। स्मिथ के अनुसार इस लेख के अक्षर "ई. पूर्व 150 लगभग के या सुगों के राज्यकाल की तिथि की भारहुत स्तूप के द्वार पर के धनभूति के लेख के अक्षरों से कुछ अधिक प्राचीन हैं।'⁵ डा. व्हूलर भी इसको 'आर्ष प्राचीन' के समूह में ही गिनता है। परन्तु वह यह भी कहता है कि "यह कनिष्क से पूर्व समय का है।'⁶ इस आयागपट की कला के गुणों के विषय में भावना से ही विचार करना आवश्यक नहीं है। वैयक्तिक पसंदगी या अपसंदगी अथवा विशिष्ट सिद्धान्तों के सिवा भी सर्व मान्य परीक्षाएँ हैं। त्रिसैंट स्मिथ को दो नर्तकी आकृतियों की भाव-भंगिमा असम्य प्रतीत हुई हैं।

1. व्हूलर, एपी., इण्ड., पुस्त. 2 पृ. 314।
2. चन्दा, आसङ्. 1922-1923, पृ. 106
3. देखो व्हूलर, वही, सं. 5 पृ. 200।
4. स्मिथ, दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा, पृ. 19, प्लेट 12।
5. स्मिथ, वही, प्रास्तावना पृ. 3।
6. व्हूलर, वही, पृ. 196।

उनने इसी प्रकार अन्यत्र के कुछ कटहरों पर की स्त्री-पुतलियों की नगनाकृतियाँ असम्य रूप में नग्न नहीं हैं ।¹ इस प्रकार के दृश्यों में ऐसा लगता है कि निकट का अथवा दृश्य विषय-तत्व ही मुख्य होता है कि जो वैयक्तिक पसंदगी या अपसंदगी को व्यक्त करता है और कला का अर्थ भी हमारे लिए उम निकट या दृश्य विषय से अधिक गहन नहीं रहता है ।

जैसा भी है, शिवयज्ञा के आयागपट और कुछ कटहरे के स्तम्भों पर की स्त्री आकृतियाँ, चाहे वे विकृत वामनों पर खड़ी हों, या किसी अन्य भंगिमा में हों, अच्छी या बुरी प्रवृत्तियों को उकसाना नहीं चाहिए क्योंकि सभी कला जिसका कुछ भी सचेतन अभिप्राय है, भाव प्रवण ही होता है । कला का यथार्थ नैतिक मूल्य उसकी अनासक्ति और दर्शनशक्ति के गुण में है । प्राचीन भारतीय कलाकार जिस प्रकाश में नारी का परिदर्शन करते थे, वह गम्भीर, अमायिक और उदार होता था । पैरों में भारी सांकले, याने लंगर, सूक्ष्म पतला वस्त्र, भारी कर्णफूल, बाजूबन्द, कण्ठहार, और मेखला सर्व-विजयी एवम् आकर्षक मग्नता गोपन नहीं अपितु इसकी शोभा में अभिवृद्धि करते हैं । इस काननचारी सौन्दर्य में अश्लीलता अथवा ़ुठी लज्जा की भिन्नता का लवलेख भी नहीं होता है । नीच अथवा संकुचित क्षेत्र में ही नहीं, अपितु उनकी आत्मा के महलों में भी मथुरा के कलाकारों ने जैसा कि सांची एवम् अन्यत्र के कलाकारों से किया है, नारि को स्मृति-मन्दिर में प्रतिष्ठित किया है । इसीलिए उनने उसकी मूर्ति को सर्व सौन्दर्य के अमर प्रतीक आकाश में ऊँची उठा कर, चिरस्थायी पाषाण में, जैसा कि उपर्युक्त था; छाप दिया है और आकाश की आस्मानी पृष्ठभूमि में खड़ा कर दिया है ।

आमोहिनी द्वारा स्थापित समर्पण शिला के विषय में स्मिथ कहता है कि 'इस सुन्दर उत्सर्ग शिलामें, जो निश्चय ही आयागपट है, हालांकि उसे ऐसा कहा नहीं गया है । एक राजमहिरी तीन परिचारिका और एक बालक सहित दिखाई गई है । हिन्दू पुरातन प्रथानुसार परिचारिकाएँ जो कि आज तक दक्षिण-भारत में प्रचलित है, सिर से कमर तक नग्न हैं । एक अपनी स्वामिनी पर छत्र किए हुए है और दूसरी पंखे से उसे हवा कर रही है : तीसरी उसे अर्पण करने को हाथ में हार लिए खड़ी है । यह कलाकृति सुस्पष्ट है और कला-गुण से एकदम ही रहित नहीं है ।'²

आयागपटों के अतिरिक्त हम यहाँ देव निर्मित बौद्ध स्तूप के शिल्प का भी विचार कर लें । इस कलाकृति के केन्द्र का पवित्र प्रतीक त्रिशूल पर टिका हुआ धर्मचक्र है । त्रिशूल कमल पर टिका हुआ है । धर्मचक्र जैन, हिन्दू और बौद्ध तीनों ही धर्मों में धर्म-चिन्ह या प्रतीक रूप में प्रयोग होता है ।³ जो चक्र-विशिष्ट इस कलाकृति में दिखाया गया है बौद्ध ही नहीं अपितु अन्य जैन शिष्यों से एक बात में विभिन्न है क्योंकि इसके शीर्ष पर कान के

1. कुमारस्वामी के अनुसार ये स्त्री आकृतियाँ नृतिकाओं की नहीं हैं, जो कि स्मिथ ने अनुमान किया है । उसकी राय में वे यक्षाँ, देवता या वृक्ष का, अप्सराएँ और वन देवियाँ हैं और लोक-मान्यता या विश्वास के अनुसार सस्य उर्वरता के शुभ प्रतीक ही मानी जानी चाहिए । कुमारस्वामी, वही, पृ. 64 । देखो बोग्गेल, आसइ, 1909-1910, पृ. 77 ।
2. स्मिथ, वही, पृ. 21, प्लेट 14 ।
3. ...यह आश्चर्य की ही बात होगी कि स्तूपों, पवित्र वृक्षों, धर्मचक्रों आदि की पूजा कि जिसके प्रायः स्पष्ट चिन्ह सभी धर्मों में और शिल्प की प्रतीकों में पाए जाते हैं, एक ही धर्म का कारण हो न कि सुदूर प्राचीन काल से भारतीय ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ के । उत्तराधिकार में प्राप्त सब धर्मों की प्रथा है । व्हूलर, वही, पृ. 323 ।

सदृश दोनों ओर आकृतियाँ हैं एवम् नीचे के कमल-पाद के सहारे दो शंख भी खड़े किए हुए हैं।¹ कृति के दाईं ओर के पूजकों के समूह में चार स्त्रियाँ हाथों में पुष्पहार लिये दिखाई गई हैं जिससे वे लेख निर्दिष्ट अर्हत् पूजा करने की प्रत्यक्षतः इच्छुक प्रतीत होती हैं। पहली तीन आकृतियों में से प्रत्येक दाएं हाथ में लम्बी डंडीवाला कमल है, और चौथी जो कि सब से छोटी एवम् स्पष्ट ही न्यूनावस्था की लगती है, भक्तिभाव से हाथ जोड़े हुए खड़ी है। वह शिला के एक सिरे पर बैठे कठोर असीरियाई सिंह से कुछ आच्छादित है। डा. व्हूलर के अनुसार इन स्त्रियों की मुखाकृतियाँ चित्र² सी लगती हैं, और उनका वेश, जो कुछ अद्भुत सा है, समस्त शरीर को पैरों तक ढकनेवाला एक ही वस्त्र का बना हुआ है और वह कमर में लपेटा हुआ है।

शिला के खण्डित अंश के विषय में कुछ कठिनाई उपस्थित हो जाती है। धर्म चक्र के दाईं ओर की पुरुषाकृति, डा. व्हूलर के अनुसार, नग्न साधू की है जिसके दाएं हाथ पर, सदा की भांति ही, एक वस्तु लटक रहा है। सम्भवतया लेख निर्दिष्ट अर्हत् यही है।³ यह कहना कठिन है कि यह आकृति किसी नग्न साधू की ही है। स्मिथ के अनुसार शिला के दूसरे छोर पर खड़े चार पुरुषों में की ही यह एक आकृति है।⁴ इस लेखक का मत यह है कि स्मिथ का कथन स्वीकार करना अधिक उपयुक्त है क्योंकि तब यह समूचा ही शिल्प उस पर उत्कीर्ण लेख के अर्हत् की पूजा की तैयारी करते हुए स्त्री और पुरुष श्रावक-श्राविकाओं को प्रदर्शित करनेवाला समझा जा सकता है।

मथुरा शिल्प के इस नमूने का महत्व इस बात में है कि यह देव-निर्मित बौद्ध स्तूप से सम्बन्धित है। 'देवनिर्मित' शब्द के महत्व का विचार तो हम पहले ही कर चुके हैं। वह ई. पूर्व अनेक सदियों पहले निर्मित हुआ होगा क्योंकि यदि वह उसी काल में बनाया गया होता जबकि मथुरा के जंनी अपने दानों का लेख सावधानी से रखते थे, तो इसके निर्माता का नाम भी उन्हें अवश्य ही ज्ञात होता। इसकी जैन दन्तकथा, जिसको स्मिथ ने उद्धृत किया है, इस प्रकार है:—यह स्तूप मूलतः सुवर्ण निर्मित था और उस पर रत्न भी जड़े थे। वह सातवें जिन याने तीर्थंकर सुपाश्वनाथ के मान में धर्मरुची और धर्मघोष नाम के दो साधुओं की प्रार्थना पर देवी कुबेरा ने बनाया था। तेईसवें जिन श्री पाश्वनाथ के समय में सुवर्णमय स्तूप को ईंटों के स्तूप से लिखा गया और बाहर में एक पाषाण मन्दिर बना दिया गया।⁵

मथुरा शिल्प के इन कतिपय नमूनों के अतिरिक्त हम एक तोरण का भी वर्णन करना चाहेंगे कि जिसमें मानवों और देवों द्वारा पवित्र पदार्थों एवम् स्थानों के प्रति पूज्य भाव प्रदर्शन किया गया है। इन तोरणों का कलाकार किसी विशिष्ट दन्तकथा अथवा शास्त्र का चित्रण करना नहीं चाहता है। वह तो इतना भर दिखाना चाहता है कि देव और मानव तीर्थंकरों, उनके स्तूपों और मन्दिरों का अभिवादन करने को कितने अधिक उत्सुक हैं। यही कारण है कि इस तोरण के दृश्य में एक या अनेक जिन मन्दिरों की पूजा का और इसी लक्ष्य से की यात्राओं के संघों का प्रदर्शन किया गया है।

शिल्प के इन उदाहरणों में एक ऐसा भी है जो दृश्यतः पुरातत्विक अति महत्व का है। यह शिल्प एक तोरण का है कि जिसमें दो सुपर्णों (अर्ध-मनुष्य-अर्ध-पक्षी) और पाँच किन्नरों द्वारा स्तूप पूजा का दृश्य अंकित है। पाँचों किन्नराकृतियों के सिर पर पगड़ी है जैसी कि बौद्ध शिल्प में अभिजात्यवर्ण के मनुष्यों के सिर पर बंधी बताई गई है। 'कुछ इसी जैसा दृश्य,' डा. व्हूलर कहता है कि, जहाँ सुपर्ण स्तूप की पूजा कर रहे हैं, साँची के

1. वही, पृ. 321। बौद्ध शिल्प के उदाहरण के लिए देखो फरग्यूसन, ट्री एण्ड सर्पेंट वशिष्ठ, प्लेट 29 चित्र 2।

2. व्हूलर, वही और वही स्थान। 3. वही। 4. स्मिथ, वही, पृ. 12। 5. वही, पृ. 15।

उभरे शिल्प में हमें मिलता है ।¹ परन्तु यह भी दृष्टव्य है कि सांची की आकृतियाँ ग्रीक राक्षसियों से अधिक मिलती हुई हैं जबकि इन शिल्प में आकृतियाँ असिरी और ईरानी शिल्प की पंखाकृतियों जैसी अधिक औपचारिक रीति की हैं । हिन्दूधर्म कृतियों में से गरुड़, सुपर्णों का राजा की आकृति गुप्त सिक्कों पर की तुलनीय है ।² गया और अन्य बौद्ध स्मारकों पर जो किन्नरों की आकृतियाँ देखी जाती हैं वे बहुत सम्भव है कि ग्रीक नमूनों के अनुरूप हैं । हमारे इस तोरण की शिला पर की आकृतियों ने जो विशेष दृष्टव्य बात है कि वह है वृक्ष की एक शाखा द्वारा आकृति के उस भाग का आवृत होना कि जहाँ अश्व की जंघा मनुष्य-देह से जुड़ती है ।³ आर्ष पुरातत्वविद्या के निष्णात मेरे साथियों से जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, मैं कहूँगा कि इस विशिष्टता को बताने वाला ग्रीक शिल्प कोई नहीं है ।⁴

इस शिल्प के दूसरी ओर की आकृतियों को विचार करने पर हम देखते हैं कि तोरण के लट्टे में बरबोड़े या जुलूस का अंश ही कि जो दृश्यतः किसी पवित्र स्थान को पहुँच रहा है, दिखाया गया है । इस जुलूस की गाड़ी आजकल की शिगराम जैसी ही है और सारथी भी जो डण्डा हाथ में ऊँचा किए हुए है, उसी प्रकार बम पर बैठा है जैसे कि वह आज भी बैठता है । कितने ही पशुओं का साज ठीक वैसा ही है जैसा कि सांची के शिल्प में दिखाया गया है । परन्तु वहाँ इस प्रकार की शिगराम गाड़ी बिलकुल नहीं दीख पड़ती है जबकि उसके स्थान में ग्रीक-नमूने के से घोड़ों के रथ⁵ वहाँ दीखते हैं ।⁶

अन्त में हम वह शोभा शिला लेते हैं कि जिसके सामने की ओर महावीर के नेमेस द्वारा गर्मापहार का दृश्य दिखाया हुआ है और पीछे की ओर इस महा चमत्कार से हर्षित और उत्सव मनाते नर्तिकाएँ और गायिकाएँ दिखाई गई हैं । इस शिल्प को देखने से हमें फिर एक बार अनुभव हो जाता है कि धार्मिक कथा और नैतिक शिक्षा जिनके विज्ञापन का कार्य भारतीय कलाकारों को जब दिया जाता था तो ये उसकी कला की पूर्ण अभिव्यक्ति में जरा भी बाधक नहीं होते थे । मथुरा का शिल्पी उस समय अत्यन्त सन्तोषकाङ्क्ष सुन्दर आकृतियाँ उत्कीर्ण करने में पूर्ण सफल हुआ प्रतीत होता है जबकि उसकी सेवाओं की उसके साथ और राजा संरक्षकों द्वारा प्रचार के लिए अत्यन्त ही माँग थी । विशेषतः जब उसे किसी सुप्रसिद्ध कथा या दन्तकथा के चित्रण का काम दिया जाता था तो वह, अनुपात और हाव-भाव के परम्परागत सिद्धान्तों का प्रयोग बहुत असाधारण रीति से कर सकता था और उनमें साम्य पैदा करने के लिए वह सर्वशक्ति लगा देता था ।

महावीर के गर्मापहार की लोकप्रिय दन्तकथा प्रदर्शित करने वाली इस शिला के अतिरिक्त चार नष्ट भ्रष्ट पूतले भी हैं जिन्हें कनिंथम ने प्रस्तर लेख द्वारा मुद्रित कराया था । इनमें से दो पूतले बैठी हुई स्त्रियों के हैं । प्रत्येक की गोद में थाल में रखा हुआ एक शिशु है । बाएँ हाथ से थाल सम्हाल रखा है, परन्तु दायीं हाथ ऊपर कंधे तक उठा हुआ है । दोनों ही स्त्रियाँ नग्न दीखती हैं । दूसरे दो पूतले नेगमेशी या नेगमेशी के हैं और वे, डा. ब्रूलर के

1. देखो फरग्यूसन, वही, प्लेट 27, चित्र 1 ।

2. देखो फ्लीट, कोइंड, पुस्त. 3, प्लेट 37; स्मिथ, बंगसो पत्रिका, सं. 58, पृ. 85 आदि, प्लेट 6 ।

3. 'ऐसा अन्य कोई भी उदाहरण नहीं मिलता है कि जहाँ अशवासुर के अश्व और मनुष्य के संयोगस्थल को आवृत करने के लिए वृक्ष-पत्र को उपयोग किया गया हो ।'—स्मिथ, हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ. 82 ।

4. ब्रूलर, वही, पृ. 319 ।

5. फरग्यूसन, वही, प्लेट 33; वही, प्लेट 34 चित्र 1 ।

6. ब्रूलर, वही और वही स्थान ।

अनुसार, 'अजमुखी' उचित ही बनाए गए हैं जैसे कि दूसरे शिल्प की आकृति में हैं। इस शिला¹ की आकृति की कनिष्प के चार पूतलों की आकृतियों से² तुलना करने पर डा. बहूलर, प्रख्यात पौर्वात्यविद्, कहता है कि 'शिशु की स्थिति और उसे लिये स्त्री की भावभंगिमा का एकदम साम्य बिलकुल ही स्पष्ट है। और इस बात का नेगमेश-नेमैसो की निभ्रान्त आकृति के साथ विचार करते हुए, हम इस निष्कर्ष पर अनिवार्यतः पहुँचे बिना नहीं सकते हैं कि निर्दिष्ट दन्तकथा दोनों शिल्पों में एक ही होना चाहिए।³

वास्तव में उड़ीसा के और गुजरात के जूनागढ़ या गिरनार के गुहामन्दिर और निवास अपनी सूक्ष्म तक्षण-कार्य की वेष्टनियों सहित और छोटी से छोटी बात और सजावट में परिपूर्ण, और मथुरा के अवशेषों के सुन्दरता से सजे तोरण व आयागपट हमारे समक्ष कला के अवशेष रूप में ही नहीं अपितु उसके जीवित आप्तवचन हैं। उनमें सौन्दर्य, आदर्श और आध्यात्म का उत्तम संमिश्रण भारतीय कला का त्रिगुणादर्श प्रदर्शित होता है। देखने की अपेक्षा इसका अनुभव अच्छी तरह किया जा सकता है क्योंकि एक दूसरे में भेद, विस्तृत कला-विज्ञान के क्षेत्र में नहीं अपितु रूचि के अज्ञात प्रदेश में प्रकट हो ही जाता है।

1. बहूलर, वही, प्लेट 2, ए।

2. कनिष्प आसई, पुस्त. 20, प्लेट 4।

3. बहूलर, वही, पृ. 318।

उपसंहार

जो सफल है वही चतुर है, यदि संसार का यही नियम है तो उत्तर में अपने अनेक प्रतिस्पर्धियों के होते हुए भी अपना अस्तित्व बनाए रखने में जैनधर्म की महान् विजय इस मान्यता को भ्रान्त प्रमाणित कर देती है कि जैनधर्म ने उत्तर भारत में, बौद्धधर्म की भांति, अपनी जड़ें गहरी नहीं जमाई थी, और यह कि भारतीय इतिहास में जैनयुग जैसे नाम का कोई युग कभी नहीं रहा था।¹ ऐसी मान्यता रखने वाले विद्वानों का पूर्ण सम्मान रखते हुए भी हम यह विश्वास रखने या करने का साहस करते हैं कि इन पृष्ठों में उत्तर-भारत में जैनधर्म के किए अध्ययन से, हालांकि वह अनेक बातों में अपर्याप्त ही है, विपरीत बात की पर्याप्त साक्षी मिलती है। उत्तर भारत में जैनधर्म की प्राचीनता चाहे जितनी भी हो, इस बात से इन्कार किया ही नहीं जा सकता है कि ई. पूर्व 800 याने पार्श्व के समय से लेकर ईसवी युग के प्रारम्भ में सिद्धसेन दिवाकर द्वारा महान् विक्रम के जैनधर्म बनाए जाने तक और किसी अंश में कुषाण और गुप्त काल तक भी जैनधर्म उत्तर में अत्यन्त प्रभावशाली धर्म रहा था और इसके पर्याप्त निर्यायक प्रमाण बराबर प्राप्त हैं। एक हजार से अधिक वर्ष के इस गौरवशाली काल में उत्तर में एक भी राज्यवंश ऐसा नहीं हुआ था, चाहे वह महान् हो या लघु ही, कि जो किसी न किसी समय जैनधर्म के प्रभाव में नहीं आया हो।

यहाँ वहाँ की ऐतिहासिक महत्व की कुछ बातों को यदि हम छोड़ दें तो इस ग्रन्थ के प्रायः प्रत्येक अध्याय में ऐसी सामग्री मिलती है कि जिसकी खूब लम्बी खोज-परख हो चुकी है, और अनेक मत उद्धृत कर दिए हैं। इस प्रकार अल्पाधिक, हमारा प्रयत्न मान्य पण्डितों के परिश्रमों के परिणामों को रीतिसर संकलन करने का ही रहा है कि जैन इतिहास के अनभिलिखित युग पर पठनीय ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा सके, न कि जैन पुरातत्व विषयक सूक्ष्म चर्चा का कोई ग्रन्थ। इस हेतु की साधना में जो भी अनुमान या तर्क किए गए हों उन्हें वैसा ही माना जाए न कि ऐतिहासिक खोज। जहाँ तक सम्भव हुआ है, सूक्ष्म विवरण से दूर ही रह गया है। फिर भी पुनरावर्तन जहाँ वह उत्तर-भारतीय जैनधर्म के इस युग की आवश्यक बातों और प्रमुख तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक था, करने में संकोच नहीं किया गया है।

परन्तु जब तक अनेक जैन शिलालेख और जैन ग्रन्थ जो उत्तर में स्थान-स्थान पर हैं, संग्रह किए जाकर अनुदित नहीं होते, और जब तक पुरातत्वालोषों की योजना नहीं बने एवम् अंकगणना नहीं की जाए, वहाँ तक उत्तर-भारत में जैनधर्म की सत्ता और विस्तार ही नहीं, अपितु उसके अस्तित्व-समय के उतार-चढ़ावों की कुछ भी कल्पना करना निरर्थक है। यह कार्य हाथ में लिये जाने का सर्वथा उपयुक्त है और यदि ऐसा सफलता से किया जाए तो भारतीय प्रजा के धार्मिक और कला विषयक इतिहास के आज उपलब्ध अपर्याप्त साधनों में अमूल्य वृद्धि होगी, यह लेखक का दृढ़ विश्वास है।

1. स्मिथ, आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 55।

सामान्य ग्रन्थ सूची

आधारभूत

1. पुरातात्विक और शिलालेखिक

एलन, जहान, कैटेलोग आफ दी काइन्स आफ दी गुप्ता डाइनेस्टीज एण्ड आफ शशांक, किंग आफ गौड़ । लन्दन, 1914 ।
एन्युअल रिपोर्ट आफ दी माइसोर आर्कियालोजिकल डिपार्टमेंट फार दी इयर 1923, पृ. 10 आदि बंगलोर, 1924 ।
कॉनिघम, आत्येवजैण्डर, इंस्क्रिप्शन्स आफ अशोक, काइंड, पुस्तक 1, 1879 ।

वही, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1871-1872, सं. 3, 1873 ।

वही, वही 1878-1879, 14, 1882 ।

वही, काइन्स आफ मेडीवल इण्डिया, लन्दन, 1884 ।

वही, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1881-1882, सं. 17, 1884 ।

वही, वही, 1882-1883, सं. 20, 1885 ।

कोनोव, स्ट्यन, एपीग्राफी, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1903-1906, 1909, पृ. 165 आदि ।

वही, टैक्सिला इंस्क्रिप्शन्स आफ दी हायर 136 । एपी. इण्डिका, सं. 14, 1917-1918, पृ. 284 आदि ।

वही, दी अर इंस्क्रिप्शन आफ कनिष्क 2यः दी इयर 41 । एपी.इण्डि. सं. 14, 1917-1918, पृ. 130 आदि ।

कोलबुक, एच. टी., आन इंस्क्रिप्शन्स एट ट्यैम्पुल्स आफ दी जैन स्यैक्ट इन साउथ बिहार, मिसलेनियस एनेज, भाग 2, मद्रास, 1872, पृ. 315 आदि ।

गार्डनर, परसी, कैटेलोग आफ इण्डियन काइन्स, ग्रीक एण्ड सिथिक लन्दन, 1886 ।

गोजे, एफ. एस., मथुरा इंस्क्रिप्शन्स इण्डि. एण्टी., सं. 6, 1877, पृ. 216 आदि ।

चन्दा, रामप्रसाद, डेट्स आफ दी वोटिव इंस्क्रिप्शन्स आन दी स्तूपज आफ सांची । मैमायसं आफ दी आर्किया-
लोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, सं. 1, 1919, पृ. 1 आदि ।

वही, खारवेल, राएसो पत्रिका, 1919, पृ. 395 आदि ।

वही, दी मथुरा स्कूल आफ स्कल्पचर । आसई, 1922-1923, पृ. 164 आदि ।

चक्रवर्ती, मन मोहन. नोट्स आन दी रिमेन्स इन धौली एण्ड इन दी केज आफ उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि ।
कलकत्ता, 1902 ।

जायसवाल, काशीप्रसाद, हाथीगुंफा इंस्क्रिप्शन आफ दी एम्परर खारवेल (173-160 ई. पूर्व) । खिउप्रा पत्रिका,
सं. 3, 1917, पृ. 425 आदि ।

वही, ए फरदर नोट आन दी हाथीगुंफा इंस्क्रिप्शन । खिउप्रा पत्रिका सं. 3, 1917, पृ. 473 आदि ।

वही, हाथीगुंफा इंस्क्रिप्शन रिवाइज्ड फ्राम दी राक्स । खिउप्रा पत्रिका सं. 4, 1918, पृ. 364 आदि ।

वही, हाथीगुंफा इंस्क्रिप्शन आफ दी एम्परर खारवेल । खिउप्रा पत्रिका सं. 13, 1927, पृ. 221 आदि ।

वही, हाथीगुंफा नोट्स । बिउप्रा पत्रिका, सं. 14, 1928, पृ. 150 आदि ।

वही, एन इस्क्रिप्शन आफ दी सुंग डाइनेस्टी । बिउप्रा पत्रिका सं. 10, 1924, पृ. 202 आदि ।

वही, दी स्टेव्यू आफ वेम कडैफिसेज एण्ड कुषाण क्रोनोलोजी । बिउप्रा पत्रिका, सं. 6, 1920 पृ. 12 आदि ।

जिनविजय, मुनि, प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग 1, भावनगर, 1917 ।

डौसन, जे, एंशेंट इस्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा । राएसो पत्रिका, सं. 5 (नई माला), पृ. 182 आदि ।

नरसिंहाचार, आर, इस्क्रिप्शन्स एट श्रवण वेल्गोल । एपी. कर्नाटिका, 2, 1923 ।

प्रिसेप जेम्स, नोट ग्रान इस्क्रिप्शन्स एट उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि इन कटक, दी लाट कैरेक्टर ।

बंएसो पत्रिका, सं. 6, 1838, पृ. 1072 आदि ।

वही, ट्रांसलेशन आफ इस्क्रिप्शन इन दी सोसाइटीज म्यूजियम-ब्रह्मेश्वर इस्क्रिप्शन, फ्राम कटक ।

बंएसो पत्रिका, सं. 7, 1838, पृ. 557 आदि ।

वही, फैक्सिमिलीज आफ एंशेंट इस्क्रिप्शन्स । बर्नो पत्रिका, सं. 7, 1838, पृ. 33 आदि ।

फ्लीट, जे. एफ., रेकार्ड्स आफ सोवंशी किंग आफ कटक । एपी. इण्डि., पुस्त 3, 1894-1895, पृ. 323 आदि ।

वही, दी हाथीगुंफा इस्क्रिप्शन । राएसो पत्रिका, 1910, पृ. 824 आदि ।

वही, दी रुमिन्देह इस्क्रिप्शन एण्ड दी कनवर्शन आफ अशोक टू बुद्धीज्म । राएसो पत्रिका, 1908, पृ. 471 आदि ।

वही, संस्कृत एण्ड ओल्ड कौनेरीज इस्क्रिप्शन्स । एपी. इण्डि., सं. 7, 1878, पृ. 15 आदि, 33 आदि, 101 आदि ।

वही, इस्क्रिप्शन्स आफ दी अर्ली गुप्ता किंग एण्ड देअर सर्वसैसर्स । कोइंड सं. 3, 1888 ।

बैनरजी, आर. डी. इस्क्रिप्शन्स इन दी उदयगिरी एण्ड खण्डगिरि केव्ज । एपी. इण्डि., सं. 13, 1915-1916 पृ. 159 आदि ।

वही, नोट्स ग्रान दी हाथीगुंफा इस्क्रिप्शन आफ खारवेल । बिउप्रा पत्रिका, सं. 3, 1917, पृ. 486 आदि ।

बेगलर, जे. डी., टूस इन दी साउथ-ईस्टर्न प्राविन्सेज । आसइ, सं. 13, 1882 ।

ब्लाक टी., कन्सर्वेशन इन बैंगाल । आसइ, 1902-1903, 1904, पृ. 37 आदि ।

व्हूलर, जी., न्यू जैन इस्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा । एपी इण्डि., पुस्त. 1, 1892, पृ. 371 आदि ।

वही, फरदर जैन इस्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा । एपी. इण्डि., पुस्त. 1 1892, पृ. 39 आदि ।

वही फरदर जैन इस्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा । एपी. इण्डि., पुस्त. 2. 1894, पृ. 195 आदि ।

वही, दी नानाघाट इस्क्रिप्शन्स । आसव्यैइ, सं. 5, 1883, पृ. 59 आदि ।

वही, अशाकाज राक एडिक्ट्स अक्राडिंग टू दी गिरनार शहबाजगंवी, कालसी एण्ड मन्डोहरा वर्शन्स । एपी. इण्डि., पुस्त 2. 1894, पृ. 447 आदि ।

वही, दी पिलर एडिक्ट्स आफ अशोक । एपी. इण्डि., सं. 2, 1894, पृ. 245 आदि ।

वही, दी थी न्यू एडिक्ट्स आफ अशोक । एण्डि. एण्टी., सं. 7, 1878, पृ. 141 आदि ।

वही, इण्डिसे पालिओग्राफी । एंसाइस्लोपीडिया आफ इण्डो-आर्यन रिसर्च, पृ. 1 आदि ।

वही, स्पेसीम्येन्स आफ जैन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा । एपी. इण्डि. सं. 2, 1894, पृ. 311 आदि ।

वही, दी बराबर एण्ड नागार्जुनी हिल केव इस्क्रिप्शन्स आफ अशोक एण्ड दशरथ । इण्डि. एण्टी., सं. 20, 1891, पृ. 361 आदि ।

- वही, दी मधुवन कापर-प्लेट आफ हर्ष, डेटेड संवत् 25, एपी. इण्डि., सं. 1, 1892, पृ. 67 आदि ।
- वही, दी जैन इंस्क्रिप्शन्स फ्राम शतुंजय । एपी. इण्डि., सं. 2, 1894, पृ. 34 आदि ।
- वर्न्येस, जेम्स, केव्ज इन जुनागढ, एण्ड एक्सवेअर इन काठियावाड । आसव्यैड, काठियावाड एण्ड कच्छ, 1874-1875, 1876, पृ. 139 आदि ।
- भण्डारकर, रा. गो., आन डा. हरनोलीज वर्शन आफ ए नासिक इंस्क्रिप्शन एण्ड दी गाथा डायलेक्ट । इण्डि. एण्टी., सं. 12, 1883, पृ. 139 आदि ।
- भगवानलाला इन्द्रजी, पण्डित, दी हाथीगुंफा एण्ड श्री अदर इंस्क्रिप्शन्स इन दी उदयगिरि केव्ज नीयर कटक । एक्टेस डू सिक्सीमे कांथे इण्टरनेसनल डे ओरियंटलिस्टेस, ट्राइसीमे पार्टी, विभाग 2, आर्यिन्ने, लीडे, 1885, पृ. 133 आदि ।
- वही दी कहाउ' इंस्क्रिप्शन आफ रवींदगुप्त । इण्डि. एण्टी., सं. 10, 1881, पृ. 125 आदि ।
- मजुमदार, आर. सी., हाथीगुंफा इंस्क्रिप्शन । इण्डि. एण्टी., सं. 47, 1918, पृ. 223 आदि ।
- वही सैकिण्ड नोट आन दी हाथीगुंफा इंस्क्रिप्शन आफ खारवेल । इण्डि. एण्टी., सं. 48, 1919, पृ. 187 आदि ।
- ल्यूडर्स, एच., ए लिस्ट आफ ब्राह्मी इंस्क्रिप्शन्स फ्राम दी अलियेस्ट टाइम्स टू अबाउट ए.डी. 400 एपी. इण्डि., सं. 10, 1912, परिशिष्ट 1 ।
- विल्सन, एच. एच. आन दी राक इंस्क्रिप्शन्स आफ कपूर दी गिरि धौली एण्ड गिरनार । राएसो पत्रिका, सं. 12, पृ. 153 आदि ।
- बोग्येल, जे. पी.एच., मथुरा स्कूल आफ स्कल्पचर । आसइ', 1909-1910, 1914, पृ. 63 आदि ।
- वही, कैटलोग आफ दी आर्कियालोजिकल म्यूजियम मथुरा । इलाहाबाद 1910 ।
- शास्त्री, बैनरजी. ए. दी लोमस ऋषि केव फेकेड । भण्डारकर प्राप्य मन्दिर पत्रिका सं. 12, 1926, पृ. 309 आदि ।
- सेनार्ट, ई., दी इंस्क्रिप्शन्स आफ पियदसी । इण्डि. एण्टी., सं. 20, 1891, पृ. 229 आदि ।
- स्मिथ, विसेंट., दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा । इलाहाबाद. 1901 ।
- वही, इस्क्राइब्ड सील आफ कुमार गुप्त । बंसो पत्रिका, सं. 58, 1889, पृ. 84 आदि ।
- वही, मलियापुण्डी ग्रांट आफ अम्मराज 2य । एपी. इण्डि., सं. 9, 1907-1908, पृ. 47 आदि ।
- वही, इंस्क्रिप्शन्स आफ अशोक । को इ. इ. सं. 1 (नई माला), 1925 ।
- वही, इंस्क्रिप्शन्स आन दी श्री जैन कोलोसाह आफ सदर्न इण्डिया । एपी, इण्डि. सं. 7, 1907-1903, पृ. 108 आदि ।
- वही, टू इंस्क्रिप्शन्स फ्राम जनरल कनिंघमस आर्कियालोजिकल रिपोर्ट्स । इण्डि. एण्टी. सं. 11, 1882, पृ. 309 आदि ।

2. साहित्यिक

- महाभारत, वन पर्व । (गनपत कृष्णाजी) बम्बई, शाके 1798 ।
- कालिकाचार्य-कथा । (देवचन्द लालाभाई) बम्बई, 1914 ।
- ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला), 1895 ।
- अभयदेवसुरि, औपपातिकसूत्र, टीका सहित (आगमोदय समिति) । बम्बई, 1916 ।

- वही, ज्ञाताधर्म कथांग (सुधर्मा का), टीका सहित (आगमोदय समिति), बम्बई, 1919 ।
- वही, भगवती-सूत्र (सुधर्मा का) भाग 1 से 3, आगमोदय समिति, बम्बई, 1918-1921 ।
- वही, स्थानांग, सुधर्मा का, भाग 2, आगमोदय समिति, बम्बई, 1920 ।
- एड्गर्टन, फ्रैंकलीन, विक्रमस एड्वेंचर्स, भाग 1, हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज सं. 26, केम्ब्रिज, 1926 ।
- कर्न, एच., बृहत्संहिता आफ वाराहमिहिर, कलकत्ता, 1865 ।
- वही, दी बृहत्संहिता, आर कंप्लीट सिस्टम आफ नैच्युरल एस्ट्रोलोजी आफ वाराहमिहिर ।
राएसो पत्रिका, सं. 6 (नई सिरीज), पृ. 36 आदि, 279 आदि ।
- कौव्यल, ई.बी., ओर गौफ, ए.ई., सर्वदर्शनसंग्रह आफ माघवा चार्य (लोक संस्करण), लन्दन, 1914 ।
- कौव्यल, ई.बी., ओर नील, आर.ए., दी दिव्यावदान । केम्ब्रिज, 1886 ।
- गीगर, विल्हेल्म, दी महावंश, लन्दन, 1908 ।
- गैरीनोट, ए., एसे डी बिब्लिओग्राफी जैना । पेरिस, 1906 ।
- ग्रिफिथ, राल्फ टी. एच., हिंस आफ दी ऋग्वेद, भाग 2 2य संस्करण, बनारस, 1897 ।
- घोषाल, शरत चन्द्र, द्रव्यसंग्रह आफ नेमिचन्द्र । सेबुजे, पुस्तक 1 1917 ।
- चक्रवर्ती, ए., पंचास्तिकायसार आफ कुन्दकुन्दाचार्य । सेबुजे, पुस्तक 3, 1920 ।
- चन्द्रप्रमसूरि, प्रभाचक्रचरित, भाग 1, बम्बई, 1909 ।
- चन्द्रसूरि, निरियावलिका-सूत्र, सटीक. (आगमोदय समिति), बम्बई, 1922 ।
- वही, संग्रहणीसूत्र, बम्बई, 1881 ।
- चतुरविजय, मुनि, रत्नप्रमसूरी की कवलयमाला कथा, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, 1916 ।
- जरेट, एच. एस., दी आइन-ए-अकबरी आफ अबुल फजल । कलकत्ता, 1891 ।
- जयसिंहसूरि, कुमारपाल-भूपाल-चरित-महाकाव्य, बम्बई, 1926 ।
- जैन बनारसीदास, जैन जातकाज, लाहौर, 1925 ।
- जैनी, जगमंदरलाल, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र आफ उमास्वामी, सेबुजे, पुस्तक 2, 1920 ।
- ऋवेरी, मोहनलाल भगवानदास, निर्वाण-कलिका आफ पादलिप्ताचार्य, बम्बई, 1926 ।
- जिनभद्रगण, विशेषावश्यकभाष्य, बनारस, 1918 ।
- जौली, जे., अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य । लाहौर, 1923 ।
- वनी, सी. एच., दी कथाकोश, लन्दन, 1895 ।
- वही, मेरुतुंग्स प्रबंधचिंतामणि, कलकत्ता, 1901 ।
- तेलांग, काशीनाथ त्रिम्बक, दी मण्वद्गीता विश्व श्री सनत्सुगतीय एण्ड दी अनुगीता । सेबुई, पुस्तक 8, 1882 ।
- द्विवेदी, महामहोपाध्याय सुधाकर, दी बृहत्संहिता आफ वाराहमिहिर, 1, 2, बनारस, 1895 ।
- धनेश्वरसूरि, शतुंजय-महात्म्य, जामनगर, 1908 ।
- धर्मदासगण, उपदेशमाला (जैनधर्म प्रसारक सभा), भावनगर ।
- ध्रुव, का. ह., सांचुंस्वप्न, 1म संस्करण, अहमदाबाद, 1916 ।
- पनसीकर, शास्त्री, ब्रह्मसूत्र-भाष्य, 2य संस्करण, बम्बई, 1927 ।
- पेटरसन, पी., रिपोर्ट आफ आप्रेशनस इन सर्च संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दी बाम्बे मरकल, भाग 4, (1886-1892) । लन्दन, 1894 ।

पेंजर, एन. एम., टानीज सोवियेक्स कथासरित्सागर, भाग 1, लन्दन, 1924 ।

प्रेमी, नाथूराम, देवसेन का दर्शनसार, बम्बई, 1918 ।

वही, विद्वद्रत्नमाला भाग 1, बम्बई, 1912 ।

फासबोल, वी., दी जातक, भाग 3 और 4, लन्दन, 1883, 1887 ।

फोअर, एम., लीआं, संयुक्तनिकाय, भाग 2, लन्दन 1888 ।

वान्यॉट, एल. डी., अंतगडदसाओ एण्ड अणुत्तरोववाइयदसाओ, लन्दन, 1907 ।

वेवरदास, पण्डित. सुधर्मा का भगवतीसूत्र, भाग 1 और 2, जिनागम प्रकाशन सभा, बम्बई, 1918 ।

बेत्वलकर, एस. के., दी ब्रह्मसूत्राज आफ बादरायण, पूना, 1923 ।

व्हुलर, जी., दी लाज आफ मनु, सेबुई, पुस्तक 25, लन्दन 1886 ।

व्हुलर, जी., वाशिष्ठ एण्ड बौधायन, सेबुई, पुस्तक 14, 1882 ।

भण्डारकर, रा. जे., रिपोर्ट आन दीसर्व आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दी बोम्बे प्रेसीडेंसी ड्यूरिंग दी इयर 1883-1884 । बम्बई, 1887 ।

मलयगिरि, आचार्य राजप्रश्नीय उपांग, आगमोदय समिति, बम्बई, 1925 ।

मुनिभद्रसूरि, शांतिनाथ महाकाव्यम्, बनारस, 1911 ।

मेयोर, जहान जेकब, हिन्दू टेलस, लन्दन, 1909 ।

मेरंतुंग, विचार श्रेणी, हस्तप्रति सं. 378 (1871-1872 की) भण्डारकर प्राव्य मन्दिर, पूना ।

वही, विचारश्रेणी । जैन साहित्य संशोधक, भाग 2, 1903-1925, परिशिष्ट ।

मोतीलाल लधाजी, तत्वार्थाधिगमसूत्र सभाष्य, उमास्वातिवाचक का, पूना, 1927 ।

वही, हेमचन्द्र की स्याद्वादमंजरी, पूना, 1926 ।

याकोबी, हरमन, स्थवीरावली चरित और परिशिष्टपर्वन् आफ हेमचन्द्र, कलकत्ता, 1891 ।

वही, समराइच्चकहा आफ हरिभद्र । कलकत्ता, 1926 ।

वही, कल्पसूत्र आफ भद्रबाहु, लेप्जिग, 1879 ।

वही, दी आचारांगसूत्र एण्ड दी कल्पसूत्र, सेबुई, पुस्तक 22, 1884 ।

वही, दी उत्तराध्ययनसूत्र एण्ड दी सूत्रकृतांगसूत्र, सेबुई, पुस्तक 45, 1895 ।

वही, डाम कालकाचार्य-कथानकम् (जैड्डीएमजी) सं. 34, 1880, पृ. 247 आदि ।

ह्लिस डेविड्स, टी. डब्ल्यू., बुद्धीस्ट सूताज । सेबुई, पुस्तक 11, 1881 ।

वही, डायालोग्स आफ दी बुद्धभाग 1, सेबुई पुस्तक 2, 1899, और भाग 2. सेबुई 3, 1910 ।

वही, और ह्लिस डेविड्स, सी. ए. एफ., डायालोग्स आफ दी बुद्ध. भाग 3, सेबुई पु. 4, 1921 ।

वही, और ओल्डनबर्ग, हरमन, विनिय ट्येक्स्ट्स, भाग 1, सेबुई पुस्तक 13, 1881, और भाग 3. सेबुई पुस्तक 20, 1885 ।

वही, श्रीमती. दी बुक आफ किड्येड सेइंग्स, भाग 1, लन्दन, 1917 ।

लक्ष्मीवल्लभ, उत्तराध्ययन-दीपिका, (रायधनपतिसिंह संस्करण), कलकत्ता, 1880 ।

वारन, हेनरी क्लार्क. बुद्धीज्म इन ट्रांसलेशन । हारवर्ड ओरियन्टल सिरीज, 3, कैम्ब्रिज, 1909 ।

विद्याभूषण, सतीशचन्द्र, न्यायावतार आफ सिद्धसेन दिवाकर, आरा, 1915 ।

- विनयचन्द्रसूरि, मल्लिनाथचरित्रम्, बनारस, 1912 ।
- विनयविजयगणि, कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका । (देवचन्द लालभाई), बम्बई, 1923 ।
- विल्सन, एच. एच., विष्णु पुराण, लन्दन, 1840 ।
- वैद्य, पी. एल., सूयगडांग, पूना, 1928 ।
- व्येबर, ए., फ्रागमेंट डेर भगवती, बरलिन, 1866 ।
- शाकटायनाचार्य, स्त्री मुक्ति-केवली मुक्ति । जैन साहित्य संशोधक, भाग 2, 1923-1924, परिशिष्ट 2 ।
- शात्याचार्य, उत्तराध्ययन शिष्यहिता, बम्बई, 1916 ।
- शार्पेटियर, जार्ज, दी उत्तराध्ययन, भाग 1 और 2, उपसल, 1922 ।
- शीलकाचार्य, सुधर्मा का आचारांगसूत्र, आगमोदय समिति, बम्बई, 1916 ।
- वही, सुधर्मा का सूत्रकृतांग, आगमोदय समिति, बम्बई, 1917 ।
- सुखलाल, संघवी और बेवरदास दोशी, सम्मतितर्क सिद्धसेन का, भाग 3, अहमदाबाद, 1928 ।
- सोनी, पन्नालाल, भावसंग्रहादिः, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई ।
- स्टीवन्सन, दी रेवरेंड, जे., दी कल्पसूत्र एण्ड नव तत्व, लन्दन, 1848 ।
- हरनोली, रुडाल्फ ए.एफ., उवासगदसाओ भाग 1 और 2, कलकत्ता, 1888, 1890 ।
- वही, दू पट्टावलीज आफ दी सरस्वतीगच्छ आफ दी दिगम्बर जैनाज, इण्डि. एण्टी, पु. 20, 1891, पु. 341 आदि ।
- वही, श्री फरदर पट्टावलीज आफ दी दिगम्बरराज, इण्डि. एण्टी., पु. 21, 1892, पु. 57 आदि ।
- हरिभद्रसूरि, सुधर्मा का आवश्यकसूत्र (आगमोदय समिति), बम्बई, 1916-1917 ।
- वही, षड्दर्शनसमुच्चय, बनारस, 1905 ।
- हीरालाल, रायबहादुर, कैटेलोग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी सैन्ट्रल प्रोविन्सेज एण्ड बरार नागपुर, 1926 ।
- हेमचन्द्र, अमिधान चिंतामणि ।
- वही, त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित, पर्व 9, 10, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, 1908, 1909 ।
- वही, योगशास्त्र, हस्तप्रति, सं. 1315, 1886-1892 की, मण्डारकर प्राच्य मन्दिर, पूना ।
- वही, योगशास्त्र, सटीक, भावनगर, 1926 ।
- वही, प्राकृत व्याकरण, सम्पा: कृपाचन्द्रजी, सूरत, 1919 ।
- हेमविजयगणि, पार्वनाथचरितम् बनारस, 1916 ।

3. यात्र विवरण आदि

- बील, सेम्युअल, सी-यू-की, भाग 1 और 2, लन्दन, 1906 ।
- वही, दी लाइफ आफ ह्यू एनत्सांग । लोक संस्करण, लन्दन, 1914 ।
- मैकक्रिण्डल, जे. डब्ल्यू., एंशेंट इण्डिया इज डिस्क्राइब्ड बाइ मैगैस्थनीज एण्ड अरियन, लन्दन, 1877 ।
- वही, इनवेञ्चन आफ इण्डिया बाइ एलेक्जेंडर दी ग्रेट । व्यैस्टमिस्टर, 1893 ।
- सवाक, एड्वर्ड जी., एलबर्नीज इण्डिया, भाग 1 और 2, लन्दन, 1910 ।
- वाटर्स, टामस, आन युआन च्वांग्स ट्रैवल्स इन इण्डिया, भाग 2, लन्दन, 1905 ।

साहित्य

1. ग्रन्थ

आचार्य, प्रसेन कुमार, इण्डियन आर्किटेक्चर अकाडिग टू मानमार-शिल्पशास्त्र । आक्सफोर्ड, 1927 ।
 आर्यंगर, कृष्णास्वामी, समकालीनव्यूहान्स आफ साउथ इण्डिया टू इण्डियन कल्चर । कलकत्ता, 1923 ।
 आर्यंगर, रामस्वामी, और राव, शेषगिरि, स्टडीज इन साउथ इण्डियन जेनीज्म, मद्रास, 1922 ।
 ईलियट, चार्ल्स, हिन्दूज्म एण्ड बुद्धीज्म, भाग 1, लन्दन, 1921 ।

ओष्का, पण्डित मौ. ही., राजपूताना का इतिहास, 1ली जिल्द, अजमेर, 1916 ।

वही, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, अजमेर 1918 ।

ओ माले, एल.एस.एस. बेंगल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी । कलकत्ता, 1908 ।

वही, बिहार एण्ड उरीसा गजेटियरसँ, पटना । पटना, 1924 ।

कजन्स, हैनरी, दी आर्किटेक्चरल एण्टीक्विटीव आफ व्यैस्टर्न इण्डिया । लन्दन, 1926 ।

कनिंघम, एंशेंट ज्योग्राफी आफ इण्डिया । (सम्पा: मजुमदार) कलकत्ता, 1924 ।

कन्नोमल, लाला, दी सप्तभंगी न्याय । आगरा, 1927 ।

कर्न, एच., मैन्युअल आफ इण्डियन बुद्धीज्म । एनाइलोपीडिया आफ इण्डो-आर्यन रिसर्च, पृ. 1 आदि ।

कुंटे, एन. एम., दी विसिसीट्यूड्स आफ आर्यन सिविलाइजेशन इन इण्डिया । बम्बई, 1880 ।

कुमारास्वामी, आनन्द के., दी आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स आफ इण्डिया एण्ड सीलोन । लन्दन, 1913 ।

वही, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट । लन्दन, 1927 ।

गंगूली, चनो मोहन, उरीसा एण्ड जर रिमेन्स एंशेंट एण्ड मैडीवल । कलकत्ता, 1912 ।

गैरीनोट, ए., ला रिलीजीयां इजैना, पैरिस, 1926 ।

ग्लैसन्यप, हेलमुथ वी., डेर जैनिस्मस, बरलिन, 1925 ।

जैनी जगमंदरलाल, आउटलाइन्स आफ जैनीज्म । कैम्ब्रिज, 1916 ।

टाड, कर्नल जेम्स, ट्रावल्स इन व्यैस्टर्न इण्डिया । लन्दन, 1839 ।

टीले, सी. पो., आउटलाइन्स आफ दी हिस्ट्री आफ रिलीजन, 3य संस्करण, लन्दन 1824 ।

थामस, एडवर्ड, जैनीज्म, आर दी अर्ली फेथ आफ अशोक । लन्दन 1877 ।

डुबुइल, जी. जोविओ, एंशेंट हिस्ट्री आफ दी डेकन । पाण्डीचेरी, 1920 ।

दस, रमेशचन्द्र, एंशेंट इण्डिया, कलकत्ता, 1890 ।

दासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी । भाग 1 । कैम्ब्रिज, 1922 ।

दे, नन्दलाल, दी ज्योग्राफिकल डिक्शनेरी आफ एंशेंट एण्ड मैडीवल इण्डिया । लन्दन 1927 ।

नरीमान, जी. के., लिट्टेरी हिस्ट्री आफ संस्कृत बुद्धीज्म, 2य संस्करण । बम्बई 1923 ।

पार्जोटर, एफ. ई., एंशेंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्राईडिशन लन्दन, 1922 ।

वही, दी पुराण ट्यौट्स आफ दी डाइनेस्टीज आफ दी कली एज । आक्सफोर्ड, 1913 ।

पोस्सन, एल. डी ला वाल्ली, दी वे टू निर्वाण । कैम्ब्रिज, 1917 ।

प्रधान, सीतानाथ, क्रोनोलोजी आफ एंशेंट इण्डिया । कलकत्ता, 1927 ।

फरग्यूसन, जेम्स, ट्री एण्ड सर्पेंट वशिप । लन्दन, 1868 ।

- वही, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भाग 1 और 2 । लन्दन, 1910 ।
- वही, और वग्यैस, जेम्स, दी केव यैम्पुल्स आफ इण्डिया । 1880 ।
- फारकूहर, जे. एन., एन आउटलाइन आफ दी रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया । आक्सफोर्ड, 1920 ।
- फेजर, आर. डब्ल्यू., ए लिट्टरी हिस्ट्री आफ इण्डिया । लन्दन, 1920 ।
- वर्ड, जेम्स, हिस्टोरीकल रिसर्च । बम्बई, 1847 ।
- बरोडिया, उ. डा., हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर आफ जैनीज्म । बम्बई, 1909 ।
- वारन्यूट, लायोनल डी., एण्टीक्विटीज आफ इण्डिया । लन्दन, 1913 ।
- बार्थ ए., दी रिलीजन्स आफ इण्डिया । लंदन, 1882 ।
- वेल्वलकर, एस. के., और रानाडे, आर. डी., हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी, भाग 2, पूना, 1927 ।
- बेनी प्रसाद, दी स्टेट इन एंशेंट इण्डिया । इलाहाबाद, 1928 ।
- ब्राउन, परसी, इण्डियन पेंटिंग (हेरीटेज आफ इण्डिया सिरीज), कलकत्ता ।
- ब्रूलर, जी., दी इण्डियन स्केच आफ दी जैनाज । लंदन, 1903 ।
- वही, आन दी ओरिजिन आफ दी इण्डियन ब्राह्मी एल्फैबेट । स्ट्रासवर्ग, 1898 ।
- वही, इण्डियन स्टडीज । सं. 3 । वीयन 1895 ।
- वही, उबेर डस लेवेन डेस जैन-मांक्सेस हेमचन्द्र, वीएन, 1889 ।
- भण्डारकर, रा. गो., ए पीप इन टू दी अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया । बम्बई, 1920 ।
- भजुमदार. अक्षय कुमार, दी हिन्दू हिस्ट्री । कलकत्ता, 1920 ।
- महता, नि. वि., स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग । बम्बई, 1926 ।
- मित्रा, राजेन्द्रलाल, दी एण्टीक्विटीज आफ उरीसा, भाग 1 और 2 । कलकत्ता, 1880 ।
- वही, दी संस्कृत बुद्धीस्ट लिटरेचर आफ नेपाल । कलकत्ता, 1882 ।
- मुकर्जी, राधाकुमुद, अशोक (गायक्वाड व्याख्यानमाला), लन्दन, 1928 ।
- वही, हर्ष, आक्सफोर्ड, 1926 ।
- मैकालिफ, मैक्स आरथर, दी सिक्ख रिलीजन, भाग 5, आक्सफोर्ड, 1909 ।
- मैकडोन्यल, ए. ए., इण्डियाज पास्ट आक्सफोर्ड, 1927 ।
- मैकफेल, जेम्स एम., अशोक (दी हेरीटेज आफ इण्डिया सिरीज) कलकत्ता ।
- मोनाहन, एफ. जे., दी अर्ली हिस्ट्री आफ बंगाल । आक्सफोर्ड 1925 ।
- राम्रो, गोपीनाथ टी. ए., एलीमेंट्स आफ हिन्दू आइकोलो ग्राफी, भाग 1 खण्ड 1, मद्रास, 1914 ।
- राधाकृष्णन, सर्व., इण्डियन फिलोसोफी, भाग 1, लंदन, 1923 ।
- राइस, ई. पी., कैनेरीज लिटरेचर, दी हेरीटेज आफ इण्डिया सिरीज, 2य संस्करण, कलकत्ता, 1921 ।
- राइस, ल्यूइस बी., माइसोर एण्ड कुर्ग फ्राम दी इंस्क्रिप्शन्स । लन्दन, 1909 ।
- राकहिल, डब्ल्यू. वुडविल्ले, दी लाइफ आफ दी बुद्धा । लन्दन, 1884 ।
- रायचौधरी, हेमचन्द्र, पोलि्टिकल हिस्ट्री आफ एंशेंट इण्डिया, 2य संस्करण, कलकत्ता, 1927 ।
- रालिन्सन, ज्यार्ज, पार्थिया (दी स्टोरी आफ दी नेशन्स), लंदन, 1898 ।
- राल्सन, डब्ल्यू. आर. एस., शीफनर्स टिवेटन टेल्स । लन्दन, 1882 ।
- रहिस डेविड्स, टी. डब्ल्यू., बुद्धीस्ट इण्डिया । 5 वाँ संस्करण । लन्दन, 1917 ।

लाठे, ए. बी. इंट्रोडक्शन टू जैनीज्म । बम्बई 1905 ।

लाहा, विमल चरण, दी लाइफ एण्ड वर्क आफ बुद्धधोष । कलकत्ता और गिमला, 1923 ।

वही, सम क्षत्रिया ट्राइव्स आफ एंशेंट इण्डिया । कलकत्ता, 1924 ।

लाहा, नरेन्द्रनाथ, अस्पैक्ट्स आफ एंशेंट इण्डियन पोलिटी । आक्सफोर्ड, 1921 ।

लिली, डब्ल्यू. एस., इण्डिया एण्ड इट्स प्रान्ब्लम्स । लन्दन, 1902 ।

वारैन हर्बर्ट, जैनीज्म, 1य संस्करण आरा, 1916 ।

विद्याभूषण, सतीशचन्द्र, हिस्ट्री आफ इण्डियन लोजिक । कलकत्ता 1921 ।

वही; हिस्ट्री आफ मैडीवल स्कूल आफ इण्डियन लोजिक । कलकत्ता, 1909 ।

विजयराजेन्द्रसूरि, अभिधानराजेन्द्र, भाग 2, रतलाम, 1910 ।

विल्बरफोर्स-व्यैल, कैप्टिन एच., दी हिस्ट्री आफ काठियावाड़ । लन्दन, 1926 ।

विल्सन, एच. एच., हिज वर्क्स, भाग 1, लन्दन 1862 ।

विटनिट्ज, एम., गैशिशिफ्ट डेर इण्डीशन लिटरेचर, भाग 2, लैपिङ्ग, 1920

वैद्य, चि. वि., हिस्ट्री आफ मैडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग 3 । पूना, 1926 ।

शीफनर, एण्डन, तारानाथस् गेशीफ्ट-बुद्धीज्मस । सेंट पीटर्सबर्ग, 1869 ।

श्रीनिवासाधारी, सी. एस., और आयंगर, एन. एस., रामास्वामी, ए., हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग I । मद्रास, 1927 ।

समद्वार, जा. नाथ, दी ग्लोरीज आफ मगध । पटना 1927 ।

सोलोमन, गलैडस्टन डब्ल्यू. ई., दी चार्म आफ इण्डियन आर्ट । लंदन, 1926 ।

स्टीवन्सन; श्रीमती, सिबलेअर, दी हार्ट आफ जैनीज्म । आक्सफोर्ड, 1915 ।

स्मिथ, विसेंट ए., दी अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया । आक्सफोर्ड (1म संस्करण), 1904; 3य संस्करण 1914; (4थ संस्करण) 1924 ।

वही, दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1925 ।

वही, अशोक । आक्सफोर्ड (1म संस्करण) 1901; (3य संस्करण) 1919 ।

स्मिथ, विसेंट ए., ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन । आक्सफोर्ड, 1911 ।

हर्टेल, जे. आन दी लिटरेचर आफ दीश्वेताम्बर जैन्स आफ गुजरात । लैपिङ्ग, 1922 ।

हार्फिस, ई. डब्ल्यू., दी रिलीजन्स आफ इण्डिया । लन्दन, 1910 ।

हीरालाला हंसराज, एंशेंट हिस्ट्री आफ दी जैन रिलीजन । भाग 1 । जामनगर, 1902 ।

हेव्यल, ई. बी., दी एंशेंट एण्ड मैडीवल आर्किटेक्चर आफ इण्डिया । लन्दन, 1915 ।

2. लेख, निबंध आदि

एण्ड्रुज, एफ. एन., इंट्रोडक्शन, दी इफ्लूएसेज आफ इण्डियन आर्ट । दी इण्डियन सोसाइटी, लन्दन, 1925

कामता प्रसाद जैन, दी जैन रेफरेंसेज इन दी बुद्धीस्ट लिटरेचर । इंहिक्वा, सं. 2, 1926, पृ. 698 आदि ।

केतकर, एस. बी., जैनीज्म । मराठी विश्वकोश, भाग 14, पूना, 1925, पृ. 319 आदि ।

कोलबुक, एच.टी., अब्जर्वेन्स आन दी स्पेक्ट आफ जैनाज । मिसलेनियस एसेज, भाग, 1 मद्रास, 1872 पृ. 191 आदि ।

वही, आन दी फिलोसोफी आफ दी हिन्दूज । मिसलेनियस एसेज, भाग 1, मद्रास, 1872, पृ. 227 आदि ।

कुक, डब्ल्यू., बंगाल । एंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग 2, 1909, पृ. 479 आदि ।

क्लाट, जोहनेस, एक्सट्रैक्ट्स फ्राम दी हिस्टोरिकल रेकार्ड्स आफ दी जैनाज । इण्डि. एण्टी., पुस्त. 11, 1882, पृ. 245 आदि ।

जायसवाल, का. प्र., दी शैशूनाक एण्ड मौर्य क्रोनोलोजी एण्ड दी डेट आफ बुद्ध निर्वाण । बिउप्रा पत्रिका सं. 1, 1915, पृ. 67 आदि ।

वही, दी एम्पायर आफ बिद्वसार । बिउप्रा पत्रिका सं. 2, 1916, पृ. 79 आदि ।

वही, डिमेट्रियस खारवेल एण्ड दी गर्ग-संहिता । बिउप्रा पत्रिका सं. 14, 1928, पृ. 127 आदि ।

जिनविजय, मुनि, कुवल्यमाला, जैसासं. सं. 3, पृ. 169 आदि ।

टरनूर, ज्यार्ज, एन एक्जामिनेशन आफ दी पाली बुद्धीस्टिक एनाल्स, सं. 5 । बंएसो पत्रिका, 7, 1838, पृ. 991 आदि ।

टामस, एडवर्ड, जैनीज्म । इण्डि. एण्टी., सं. 8, 1869, पृ. 30 आदि ।

टामस, एफ. डब्ल्यू., पोलीटिकस एण्ड सोशल आगेनिजेशन आफ दी मौर्य एम्पायर, अध्या. 19, कैहिइं, भाग 1, 1922 पृ. 467 आदि ।

वही, चन्द्रगुप्त दी फाउण्डर आफ दी मौर्य एम्पायर । अध्या. 18, कैहिइं, भाग 1, 1922, पृ. 467 आदि ।

दे, नन्दो लाल, नोट्स आन एंशेंट ग्रंग आर दी डिस्ट्रीक्ट आफ भागलपुर । बंएसो, पत्रिका, नई, सिरिज, सं. 10, 1914, 1918, पृ. 317 आदि ।

पाठक, के. बी., दी डेट आफ महावीर्य निर्वाण एज डिटरमिंड इन शाके 1175 । इण्डि. एण्टी., सं. 12, 1883, पृ. 21 आदि ।

पार्जीटर, एफ. ई., एंशेंट इण्डियन जीनियालेजी एण्ड क्रोनोलोजी । राएसो पत्रिका, 1910, पृ. 1 आदि ।

प्लीट, जे. एफ., निसीधि एण्ड गुड्स । इण्डि. एण्टी., सं. 12, 1883, पृ. 99 आदि ।

वही, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त, एण्ड श्रवणबेलगोल । इण्डि. एण्टी., सं. 21, 1892, पृ. 156 आदि ।

वही, डिमेंशन्स आफ इण्डियन सिटीज एण्ड कंट्रीज । राएसो पत्रिका, 1907, पृ. 64 आदि ।

वही, नोटिसेज आफ बुक्स आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, 1905-1906 को, राएसो पत्रिका, 1910, पृ. 240 आदि ।

बरुआ, बेगीमाधव, दी आजीवकाज; जरनल आफ दी डिपार्टमेंट आफ ल्यैटर्स, कलकत्ता, सं. 2, 1920, पृ. 1 आदि ।

बाखले, बी. एस., शातवाहनाज एण्ड दी कण्ठेमपोरेरी क्षत्रपाज । बंशाराएसो, पत्रिका, नई सिरिज सं. 3, 1928, पृ. 44 आदि ।

- बार्नहॉट, एल. डी., दी अर्ली हिस्ट्री आफ सदर्न इण्डिया । अध्या. 24, कैहिइं, भाग 1, पृ. 593 आदि ।
- बग्यैस, जे., पेपर्स आन शत्रुंजय एण्ड दी जैनाज । इण्डि. एण्टी., सं. 2, 1874, पृ. 14 आदि; सं. 13, 1884, पृ. 191 आदि, 276 आदि ।
- बहूलर, जी., पुणपमित्र और पुष्यमित्र ? इण्डि. एण्टी., सं. 2, 1874, पृ. 363 आदि ।
- वही, दी दिगम्बर जैनाज । इण्डि. एण्टी. सं. 7, 1887, पृ. 28 आदि ।
- भगवानलाल इन्द्रजी, पण्डित, सम कंसीडरेशन्स आफ दी हिस्ट्री आफ बंगाला इण्डि. एण्टी., सं. 13, 188 पृ. 411 आदि ।
- मारशल, जे. एच., दी मान्य मेंट्स आफ एशेंट इण्डिया । अध्या. 26, कैहिइं, भाग 1, पृ. 612 आदि, 19 ।
- मेयेर, एडुअर्ड डिमेट्रियस । एंसाइक्लोपीडिया त्रिटेनिका, 11वां संस्क. पुस्त. 7, 1910, पृ. 982 आदि ।
- वही, युकेटाईडिस । वही, 11वां संस्करण, पुस्त. 9, 1910 पृ. 980 आदि ।
- मुकरजी, आसुतोश, हिस्टोरिकल रिसर्च इन बिहार एण्ड उड़ीसा । बिउफ्र पत्रिका, सं. 10, 1924 पृ. 1 आदि ।
- मैक्डोनल्ड, ज्याजं, दी हैलेनिक लिगडम आफ सिरिया, बैक्ट्रिया एण्ड पार्थिया, अध्या. 17, कैहिइं भाग 11, 1922, पृ. 612 आदि ।
- याकोबी, हरमन, आन महावीर एण्ड ह्लिज प्रेडीसेसर्स । इण्डि. एण्टी., सं. 9, 1880, पृ. 158 आदि ।
- वही, दी डेट्स आफ दी फिलोसोफिकल सूत्राज आफ दी ब्राह्मन्स । अमग्रोसो पत्रिका, सं. 31, 1909-1910, पृ. 3 आदि ।
- वही, इटामिक थीओरी (इण्डियन) । एंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, पुस्तक सं. 2, 1909, पृ. 199 आदि ।
- वही, उवेर डीएण्टशटेहुंग डेर श्वेताम्बर उंड दिगम्बर सेक्टेन । जेडडीएमजी सं. 38, 1884, पृ. 1 आदि ।
- राइस, ल्यूइस, भद्रबाहु एण्ड श्रवण बेलगोल । इण्डि. एण्टी., सं. 3, 1874, पृ. 153 आदि ।
- रेप्सन, ई. जे., दी सिथियन एण्ड पार्थियन इन्वेडर्स, अध्या. 23, कैहिइं, भाग 1 1922, पृ. 563 आदि ।
- वही, इण्डियन नेटिव स्टेट्स आफ्टर दी पीरियड आफ दी मौर्यन एम्पायर, अध्या. 21, कैहिइं भाग 1, 1922, पृ. 514 आदि ।
- वही, दी पुराणज, अध्या. 13, कैहिइं, भाग 1, 1922, पृ. 296 आदि ।
- रेप्सन, ई. जे., ए. पीपुल्स एण्ड लैंग्वेजेज; बी. सोर्सज आफ हिस्ट्री, अध्या. 2 कैहिइं, भाग 1 1922, पृ. 37 आदि ।
- ह्लिनडेविड्स, टी. डब्ल्यू., दी अर्ली हिस्ट्री आफ दी बुद्धीस्ट्स, अध्या. 7 कैहिइं, भाग 1, 1922, पृ. 171 आदि ।
- रोथेनस्टीन, विलियम, इंट्रोडक्शन । एक्जाम्पुल्स आफ इण्डियन स्कल्पचर्स इन दी ब्रिटिश म्युजियम, पृ. 7 आदि; दी इण्डिया सोसाइटी, लन्दन, 1923 ।

- लासेन, पेपर्स आन शतुंजय एण्ड दी जैनाज । इण्डि. एण्टी., सं. 2, 1874, पृ. 193 आदि, 258 आदि ।
- लायमैन, ई., बेञ्जीहुंगेन डेर जैना-लिटरेचर ज आंदेन लिटरेचरकुसेन इण्डियेन्स । आक्ट्रेस ड सिक्सी एम कान्ग्रेस,
ट्रियसी में पार्टी, सेक्शन, 2, आर्योन्ने, लीडे, 1885, पृ. 467 ।
- लांग, रेवरेंड जे., नोट्स एण्ड क्वेरीज सज्येस्टेड बाइ ए विजिट टू उड़ीसा इन जैन्युअरी, 1859 । बंएसो, पत्रिका,
सं. 28, 1859, पृ. 185 आदि ।
- विजयधर्मसूरि, जैनतत्वज्ञान, भण्डारकर कमोमरेशन वाल्युम, पूना, 1917, पृ. 139 आदि ।
- विलफोर्ड, कैप्टेन, आफ दी किंगज आफ मगध: देअर क्रोनोलोजी, एशियाटिक रिसर्चेंज, पुस्त 9, 1819, पृ. 82
आदि ।
- विल्सन, एच. एच., एन एसे आन दी हिन्दू हिस्ट्री आफ काश्मीर । एशियाटिक रिसर्चेंज, पुस्तक 15, 1825,
पृ. 1 आदि ।
- व्यैवर, दी सेक्रेड लिटरेचर आफ दी जैनाज । इण्डि. एण्टी., सं. 17, 1888, पृ. 279 आदि, 339 आदि; सं.
18, 1889, पृ. 181 आदि, 269 आदि; सं. 19, 1890, पृ. 62 आदि; सं. 20, 1891, पृ.
18 आदि, 170 आदि, 365 आदि; सं. 21, 1892. पृ. 14 आदि, 106 आदि, 177 आदि,
210 आदि, 293 आदि, 327 आदि 369 आदि ।

* समाप्त *

:: शुद्धि पत्रक ::

[टीप० मुद्रण अशुद्धियों को प्रदर्शनी रूप इस पुस्तक की उन साधारण अशुद्धियों का शुद्धिकरण-
यहाँ नहीं किया गया है जिन्हें कि सामान्य पाठक गण स्वयं के धिवेक से ही सही पढ लेंगे ।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
0	4	जैसिह	जैचंद	32	7	विद्वानों	विद्वानों ने
	2	„	„	34	1	विद्वानों ने	विद्वान
	1	धम	धर्म	6	वर्धमाग		वर्द्धमान
5	12	जन धर्म	जैन धर्म	35	1	प्रतिभा	प्रतिभा
7	7	को	की	36	2	कि	कि जिसकी
	10	अकारय	अकार्य	7	कोई नहीं		कोई नई नहीं
	10	खेलों	खोजों	37	2	ओ	हो
	13	अवस्थित	अव्यवस्थित	6	को		के
10	10	मानी जाना	माने जाने	15	स्यम्		स्वयं
12	17	ज्ञत	ज्ञात	24	वास्त		वारेन
13	13	अचौर्यं	अचौर्य	39	2	वाचना	वाचना
	14	वस्तुओं	वस्तुओं का	9	जब		जब
15	15	गराघर	गराघर	40	8	अनतदर्शन अन्नत	अनन्तदर्शन अनन्त
	23	कर्मवेश	कर्मवेश	30	वेद...में	वे दर्शन कहते हैं जैसे मैं	
	31	जैन रिलीजन भाग	जैन रिलीजन भाग2	43	16	धीरा	धीमा
16	13	सुधर्मा	सुधर्मा	45	3	प्रगन्म	प्रगल्भ
17	15	अभिप्राय	अभिप्राय	46	23	प्रतिकूल भुक्ताना	प्रति भुक्ताना
	17	हैं कि	हैं	50	9	सामयिक	सामायिक
20	12	की प्रजा भीर	पर पहिले	14	करेमियते		करेमियते
23	12	ऐसी	ऐसे	23	सवभाव		समभाव
	22	राजी	राजाओं	51	27	पदार्थ	पदार्थ में
24	3	करने में	करने में कि	52	20	सोयिक	से मायिक
	12	या	या	53	16	अतिकेक	अतिरेक
	12	जाति	जाति	54	4	तत्त्वज्ञा	तत्त्वज्ञों
26	3	अभियों के	अभियों के प्रधानत्व	55	9	प्रतिद्वन्द्वी	प्रतिद्वन्दी
29	18	का अचेलक	के अचेलक	12	प्रतिद्वन्द्वता		प्रतिद्वन्द्वता
30	6	माता	माता	19	ने सहालपुत्र में		में सहालपुत्र ने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
56	16	सब ये	ये सब	73	26	निर्मल	निर्मल
59	13	प्राक्ष	प्रीक्ष	29		उल्लेखों	उल्लेखों से
60	5	486	496	74	8	रोहिल खण खण्ड	रोहिलखण्ड
	9	पास	पास से	75	26	उपलब्ध	अवध
	10	नाना	नाना के पास	76	31	ऐतिहासिक	ऐतिहासिक उल्लेख किये हैं परन्तु इनको संसार के इतिहास
61	20	जनसान का	जनसान था	32		ज्ञात का	ज्ञात
	29	कि गारुधगिरि	कि गोरुधगिरि	77	8	और	फिर
63	7	पूज्य	पूज्य	26		अधिकारों	अधिकारों
65	21	कर	कह	79	4	थे राजज्योतिषि नाम	थे। राजर्षि नमि
67	12	250	520	26		नंदनी	लंदनी
	25	माश्वं	पाश्वं	80	1	यह स्पष्ट पश्चात्	पश्चात्
68	15	की	का	1		ग्रीरा	ग्रीस
	16	मूर्ति मंजकों	मूर्ति मंजको	5		त्रिशला	त्रिशला लिच्छवी
	18	इसको	इसके	8		पालना	पालता
69	11	भेद के कारण बढ	भेद बढ	81	9	को वीतभय	के वीतभय
	15	अनुयायियों	अनुयायियों	28		संभवतया	संभवतया
	15	एक रूप	एक निगम रूप	31		सौ वीर को पश्चिम	सौ वीर पश्चिम
	18	अप बाहर	अपने से बाहर	82	18	के अनहिल	को अनहिल
	26	भीमल	भीममाल	86	3	मृगावती और	और मृगावती
	33	श्रावकों	श्रावकों का	11		सानीक	ससानीक
	35	इसको	इसका	13		2य	द्वितीय
70	22	प्राप्त	प्राप्त है	89	17	दीएक	दीपक
	23	जैन	जैन	91	18	राजों केसा	राजाओं के साथ
	29	ने...परिसीमग्रों	अपेक्षाकृत तंग परिसीमाग्रों	93	8	की	का
	30	भारत	भारत में	94	4-5	यही का	का यही
71	4	अपरिवर्तित	अपरिवर्तित	8		बाड़ा	बाड़ा
	14	वैमस्य	वैमनस्य	24		घनपद	जनपद
72	9	जैनों का	जैनों के	95	4	सम्बन्ध	सम्बद्ध
	10	विभाग का	विभाग की	96	24	अन्यायियों	अनुयायियों
	15	ईडाकु	ईश्वाकु	104	2	सन्देह	सन्देह
73	22	कठिन	कठिन	4		अभिलिखित	अच्छी अभिलिखित
	24	फिर	और	30		श्रेणिक का	श्रेणिक को

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
105	2 बल	काल	127	9 जैन धर्म का	जैन धर्म के	
	3 सम्पत्ति	सम्पत्ति		23 अर्थ	अर्थ	
	3 कारावाय में	कारावास में उसने	129	14 भी निम्न आज	आज भी	
	14 जाते	चाहते		27 स्थपित	स्थापत्य	
	19 मुणे	मेरी	130	22 खुदी	खुदा	
	20 उस पर्व	उसके पूर्व		25 प्रणों	फणों	
	28 तुर्भाग्यपूर्णां	दुर्भाग्यपूर्णां	131	12 स्त्रियां	शासन देवियां	
	30 शास्त्रः मतभेद	शास्त्रज्ञोमतभेद		15 द्वितीय	द्वितीय	
	31 भरसक	भरसक		19 कुरती	कुर्सी	
	32 धर्माचार्य	धर्माचार्यों	132	20 रानीनूर से	रानीनूर	
106	2 बुद्ध...शत्रु	(बुद्ध...शत्रु)	133	18 खुदी हुयी	खुदा हुआ	
	16 युं क्त	उपर्युक्त	135	27 कष्ट	काष्ठ	
107	4 भूल	भूल	137	15 स्वर्गी पण्डितजी की	स्वर्गीय पण्डितजी का	
	6 भास	भास		17 ते	तो	
109	26 सीफं	सिर्फं दो		34 था । ही	था ही ।	
110	26 1म	प्रथम	138	10 पंक्ति द्वेष का	पंक्ति का	
112	6 वैन्दराज	नंदराज	139	8 भाग्य	भाग्य	
	16 इसका समर्थ इसका समर्थन	इसका समर्थन		15 जातियों	सिक्कों	
113	35 मंदा	मदा		18 या	या या	
114	16 150	155	140	7,8 1म	प्रथम	
115	1 बिन्दुसार अपने	बिन्दुसार		11 राज	राजा	
116	17 समय	समय		1 या पनरावर्तन	यह पुनरावर्तन	
	24 पुण्यमित्र	पुण्यमित्र		इतिहासज्ञों	इतिहासज्ञ	
	स्थापन	स्थापित		13 राज्य का प्रारम्भ	राज्य के आठवें वर्ष से याने लगभग	
117	2 आचार्य	आचार्य थे		20 प्रथम	प्रथम	
	13 होता	होता है		30 पंच परमेष्ठित	पंच परमेष्ठि	
	दक्षिण	दक्षिण		17 विरुद्ध	विरुद्ध	
	19 जोखम के	जोखम के कहा	141	27 आररियाणं	आर्य आरियाणं	
	23 मुनि की	मुनि के		10 विधर्व	विदर्भ	
123	4 श्रमणों के	श्रमणों को	142	14 खारडेल	खारवेल	
	13 अशोक	अशोक ने		26 उद्देश	उद्देश्य	
125	7 जासने	जानने	143	6 इस और	इस, और	
126	8 विक्रय	विजय	144			

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	
144	7	वर्षको से	वर्षोंको ने	158	21	गदीमल्ल	गदीभिल्ल	
147	4	मगध को	मगध का	159	3,9	गदीमल्ल	गदीभिल्ल	
	8	जिम विजयजी	जिन विजयजी		20,36	गदीमल्ल	गदीभिल्ल	
	8	को	की	160	4	गदीमल्ल	गदीभिल्ल	
	11	को	के		8	मरूच	भरूच	
	20	विहारों का	विहारों को		9	जैन साधू...द्वारा	वादी आर्य खपुट	
	20	भिक्षुओं को	भिक्षुओं का				नामक जैन साधु द्वारा	
149	2	सुंगवंश का	सुंगवंश की		10	स्थापनयावसाह ।	स्थापना या वसाहट	
	5	ती	तो		12	महान को	महान के	
	26	को	का	161	3	पदालिप्त	पादलिप्त	
150	2	को	के			होना	होनी	
	9	प्रदेश	प्रवेश		6	सम्यक्त्व सप्तति	सम्यक्त्व सप्तति	
	12	2म	प्रथम		16	परोक्ष	परीक्षा	
	26	या	था,		20	सेवारा	द्वारा	
151	2,6	1म	प्रथम		162	5	को	
	7	को	के		19	अजमानादि	अप्रमानादि	
	11	सुदूर	सुदूर		163	28	पादलिप्त	पादलिप्त
	14	को	का		164	6	कबीलों	कबील
	17	इसे	इसके		14	सह	सब	
152	3	को खोने	के होने		15	प्रतिष्ठार्थक लिए	प्रतिष्ठार्थ	
	13	जयहिन्द	चिन्ह		20,23	भण्डो	इण्डो	
	25	प्रकार	प्रकार की		165	8	सत्रपों	क्षत्रपों
	32,33	वर्द्ध	चक्र		18	1म...माह सत्रप	प्रथम और स्ट्रे टो	
153	5	अंश	अन्धा				द्वितीय की नकल कर	
	16	2य	द्वितीय				क्षत्रप और महाक्षत्रप	
	23	ही दिगम्बर	दिगम्बर ही		166	6	1म काल की	प्रथम काल के
154	26	खड़े	खड़े		25	समूह	समूह भी	
	29	भमती	भमती			कि भी	कि	
155	5	को	का			कि जो	जो	
	29	को	की		167	2	विभिन्नडता	विभिन्नता
156	14	ही	यही		4	को जैन पाद पीठ को	के जैन पाद पीठ का	
	16	परिणाम	परिमाण		30	करना	करना सम्भव	
157	3	उदारता	उदारता से					
	6	पूर्वाग्रहों	पूर्वाग्रही					

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
169	3	श्राविक	श्राविका	184	19	साधुओं	साधुओं की
	26	92	62		25	अंश	अंश
	27	दानोल्लेखश	दानोल्लेखांश		29	को	से
	28	लेखे	लेख	186	7,8	साक्षी प्राचीन लिपिक	प्राचीन लिपिक साक्षी
170	2	असिलिखित	अभिलिखित		8	को	के
	22	इण्डोसिखिक	इण्डोसिखिक		17	को...हैं	के निष्णांत को भी ये सिद्धांत ग्रंथ वैसे ही लगते हैं।
	24	को	के		20	में प्रयुक्त से	से
171	26	गर्दीमल्लो	गर्दीभिल्लों	187	12	ग्रंथ के	ग्रंथ
172	12	त्य	द्वितीय		17	दृष्टि	दृष्टि द्वारा
	14	राजों को	राजाओं की	189	4	यंत्र तंत्र	यंत्र तंत्र
173	1	को	का		12	में	में
	3	के	को		15	विषय	विजय
	8,12	1म	प्रथम		16	चितौनी	चेतावनी
	17,27	1म	प्रथम		21	चिऊंटी	चिमटी
	25	मर्त्यलोक	मर्त्यलोक	192	16	जाने	जाने का
175	15	का इसके	का	193	11	सूर्यामदेव	सूर्यामदेव
176	3	यहा	पहा		14	कैसी	केशी
	6	चंछाभाय	चंदाभाय	194	15	पहन्नो	पयन्नो
177	2	मूल	भूल		17	मूरण	भूरण
	20	युवानच्वांग	युमानच्वांग	195	15	मूल-पाठक	मूल-पाठ
178	10	होना	होने	196	7	दिट्टति	दृष्टान्त
	21	को कोई	का कोई		11	शययम्भव	शयंभव
	24	के	को		17	ये पवित्र	पवित्र
179	1	या	था		24	में	में
	3	पाया	पाड़ा (ढाला)		27	पत्रिकमणं	पडिकमणं
	14	को ही	का	197	9	मगधी	मागधी
	17	ने	से		11	अर्थ मागधी	अर्थ मागधी
182	10	स्तोत	स्तोत्र		11	बहुतांश	बहुतांश
	19	त्रिदानों	त्रिजानों		13	सीमा पर	सीमा पार
183	1	पहणण	पइणण		23	को	की
	9	यादेमासुयस्कंध	या दसासुय स्कंध				
	12	उत्तरउभयण	उत्तरउभयण				
	14	दो सूत्र	दो चूलिका सूत्र				

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
197	24	विद्वद्यभोग्य	विद्वद्भोग्य	208	29	रूपों का	रूपों को
		स्त्रोत	स्तोत्र	209	1,5	सिवा	सिवाय
198	2	पिण्ड और	पिण्ड और		6	स्वस्थ	स्वस्थ
	5	कम	कभी		30	प्रश्नों	प्रश्न
	10	सूत्रकृतांक	सूत्रकृताङ्ग	210	3	अवश्य ही विषय	विषय अवश्य ही
	14	को	के		22	को	के
	26	इसमें	इससे	211	19	यहाँ नहीं	यही नहीं
199	2	समयमयी	समसमयी		26	तत्त्वों	तत्त्वों का
	3,6,7	स्त्रोत्र	स्तोत्र	212	4	स्थगित	स्थापित
	21	कास	उस	213	1	नहीं	कही
	21	सम्प्रदायों से	सम्प्रदायों में		10	मग्नता	मग्नता
202	12	विद्वद्यभोग्य	विद्वद्भोग्य		11	...ठी	भूठी
204	4,6	स्थापित (त्य)	स्थापत्य		25	शिष्यों	शिल्पों
	18	समूह दोनो ही	दोनों ही समूह		27	यक्षों	यक्षणियां
	24	को	के	214	9	वस्तु	वस्त्र
205	1	घाम	घाम		31	शिल्पे	शिल्पों
	2	विवाद	बिहार	215	5	है कि वह है	है. वह है
	9	करवा	करना		31	को	का
	11	स्थापितों	स्थापत्यों	219	8	1838	1837
	19	को	का	223	6	1924	1925
	26	मथुरी	मथुरा		31	इज	एज
	30	नहीं दो थो	नहीं थो	224	23	1824	1884
206	1	विभिन्नताओं	विभिन्नताओं के साथ साथ	225	18	महता. नि. वि.	मेहता ना. चि.
		हमें	विद्यमान था। यही	226	27	हीरालाला/...भाग 1	हीरालाल/...
			विभिन्नता हमें				भाग 2
	4	उनकी	उनका	227	1	स्पेक्ट/...भाग. 1	स्पेक्ट/...भाग 2
	5	की	किया	229	6	जैनतत्त्वइन	जैन तत्त्वज्ञान
207	29	गुफाओं	गुफाओं में		12	269	369
208	1	स्थापित	स्थापत्य				
	5	बावजूद परन्तु	बावजूद				
	9	कि याने और सुधारने	किया और सुधारा				
	28	मनुष्य ने पहले	मनुष्य पहिले				
	29	पहले सज्जा	पहिल सज्जा				

